भारत में गठबंधन की राजनीति : समस्यायें एवं सम्भावनायें

(एक आलोचनात्मक मूल्यांकन)

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

समाज विज्ञान संकाय

के अन्तर्गत

राजनीति विज्ञान विषय में

डाक्टर आफ फिलॉसफी उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध - प्रबन्ध

शोध निर्देशक
डॉ० देवेन्द्र नारायण सिंह
प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान

गवेषक
दिनेश कुमार वर्मा

शोध- केन्द्र

राजनीति विज्ञान विभाग

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हमीरपुर (उ०प्र०)

2005

डॉ0 देवेन्द्र नारायण सिंह
राजनीति विज्ञान विभाग

Mobil: 9415170203
Ph. 05282-222367 (O)
राजकीय स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, हमीरपुर (उ0प्र0)

प्रमाण–पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री दिनेश कुमार वर्मा राजनीति विज्ञान विषय में पी–एच0डी0 की उपाधि हेतु मेरे निर्देशन में बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी के पत्रांक बु0वि0/एके/शोध/2000–2001/3380–82 दि0 29.03.2001 के द्वारा पंजीकृत हुए थे। इनके शोध का शीर्षक था "भारत में गठबंधन की राजनीति : समस्यायें एवं संभावनायें (एक आलोचनात्मक मूल्यांकन)।"

श्री वर्मा मेरे निर्देशन में आर्डीनेन्स 6 द्वारा वांछित अवधि तक शोध केन्द्र में उपस्थित रहे। इन्होंने शोध के सभी चरणों को अत्यन्त सन्तोषजनक रूप में परिश्रम पूर्वक सम्पन्न किया है।

मैं इस शोध प्रबन्ध को राजनीति विज्ञान विषय में पी–एच0डी0 की उपाधि हेतु प्रस्तुत करने की संस्तुति करता हूँ।

दिनांक : 08.02.05

(डॉ0 देवेन्द्र नारायण सिंह)
शोध निर्देशक

घोषणा

मैं घोषणा करता हूँ कि बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी के अन्तर्गत राजनीति विज्ञान विषय में डॉक्टर ऑफ फिलासफी उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध "भारत में गठबंधन की राजनीति : समस्यायें एवं संभावनायें (एक आलोचनात्मक मूल्यांकन)" मेरा मौलिक कार्य है मेरे अभिज्ञान से प्रस्तुत शोध का अल्पांश अथवा पूर्णांश किसी भी विश्वविद्यालय में डॉक्टर ऑफ फिलासफी अथवा अन्य किसी भी उपाधि हेतु प्रस्तुत नही किया गया है।

दिनाँक : 8.2.05

दिनेश कुमार वर्मा

शोधार्थी

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

दासता की बेड़ियों से मुक्त हो भारत ने अपने राजनीतिक जीवन के लिये संसदीय गणतंत्र के आदर्श का चयन किया। संसदीय लोकतंत्र एक ऐसी परम्परा के रूप में (ब्रिटेन में) विकसित हुआ है जिसमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच अद्‌भुत् सामंजस्य होता है। कार्यपालिका (वास्तविक–मन्त्रिमण्डल) न केवल व्यस्थापिका के सदस्यों में से ही नियुक्त होती है बल्कि वह व्यवस्थापिका, विशेष रूप से लोकप्रिय सदन के प्रति उत्तरदायी भी होती है। ऐसे में न केवल मंत्रिमण्डल के गठन के लिये बल्कि उसके स्थायित्व के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार उसी एक राजनीतिक दल की बने जिसे लोकसदन में पूर्ण बहुमत प्राप्त हो। बहुमत न होने की स्थिति में न केवल सरकार की कार्यक्षमता प्रभावित होती है बल्कि उसके स्थायित्व पर संकट आ जाता है।

सामान्य रूप से संसदीय शासन वाले देशों में यदि द्विदलीय व्यवस्था हो तो राजनीतिक प्रक्रिया सहज हो जाती है। किन्तु राजनीतिक दलों के निर्माण का मुख्य आधार वैचारिक भिन्नता होती है। ऐसे में भारत जैसे विविधतापूर्ण राष्ट्र में राजनीतिक दलों के पनपने के लिये पर्याप्त उर्वर पर्यावरण विद्यमान हैं। परिणाम स्वरूप स्वतंत्रता पूर्व से ही भारत के राजनीतिक परिदृश्य पर अनेक राजनीतिक दल मौजूद थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात राजनीतिक दलों में अतिशय वृद्धि हुई है। नित नये दलों के बनने–टूटने का क्रम निरन्तर जारी है जिससे सैकड़ों की संख्या में राजनीतिक दल भारतीय राजनीतिक पर्यावरण में अन्तःक्रिया कर रहे हैं।

संसदीय शासन में बहुदलीय व्यवस्था के होने से किसी एक दल के पूर्ण बहुमत में आने की संभावना प्रायः कम ही होती है। भारत में आजादी के प्रारम्भिक वर्षों में, जब तक कांग्रेस के प्रभुत्व वाली एक दलीय व्यवस्था कायम रही तब तक इस दिशा में कोई परेशानी नहीं आई। किन्तु 1967 के आम चुनावों में कुछ क्षेत्रीय दलों ने इस एक दलीय प्रभुत्व को चुनौती प्रस्तुत करने का प्रयास किया परिणाम स्वरूप कांग्रेस को केन्द्र में तो कामचलाऊ बहुमत मिला किन्तु अनेक राज्यों में वह बहुमत के करीब भी न पहुंच सका। ऐसे में कई राज्यों में किसी भी दल को बहुमत न मिल पाने की स्थिति में मिली–जुली संविद सरकारें बनीं। यहीं से क्षेत्रीय दलों के प्रभाव का क्रम निरन्तर बढ़ता चला गया। ऐसे में तमिलनाडु, आन्ध्र प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार जैसे राज्यों में जहा से बड़ी संख्या में

लोकसभा सदस्य चुने जाते हैं, क्षेत्रीय दलों की तुलना में कांग्रेस सहित प्रमुख राष्ट्रीय दल तेजहीन होते चले गये। इसका परिणाम यह हुआ कि 1989 के बाद से किसी भी लोकसभा चुनाव में किसी भी एक दल को पूर्ण बहुमत नहीं मिला। 1991 में कांग्रेस ने अवश्य अल्पमत एकदलीय सरकार का गठन किया किन्तु अन्य चुनावों में एक दलीय सरकार का गठन सम्भव ही नहीं था। ऐसी स्थिति में सरकार बनाने और चलाने का एकमात्र विकल्प बचता था, गठबंधन सरकार।

यद्यपि राज्यों की राजनीति में 1967 से ही गठबंधन सरकारें बनती बिगड़ती रहीं हैं और कुछ गठबंधनों, जैसे पं0 बंगाल में वाम मोर्चा, केरल में वाम मोर्चा व उसके प्रतिद्वन्दी कांग्रेस के गठबंधन, महाराष्ट्र में भाजपा–शिवसेना व प्रतिस्पर्द्धी कांग्रेस–रा0कां0पा0 का गठबंधन व पंजाब में अकाली–भाजपा गठबंधन ने सफलतापूर्वक कार्य भी किया किन्तु केन्द्रीय राजनीति के लिये यह नये प्रयोग जैसा था। 1971 में बनी जनता पार्टी भी अपने आप में एक गठबंधन थी। इसके बाद 1989, 1996, 1998, 1999 व 2004 के लोकसभा चुनावों के बाद गठबंधन सरकारें ही बनीं।

आम चुनावों में लोकसभा में किसी एक दल को पूर्ण बहुमत न प्राप्त हो पाने की स्थिति में विविध विचारों, यहां तक कि परस्पर विरोधी विचारों वाले दलों का एक राजनीतिक गठबंधन में शामिल होना और सरकार बनाना अपने आप में सरकार संचालन का एक अनुठा प्रयोग है। इसे प्राथमिक तौर पर अवसरवादी गठजोड़ या सत्तापरस्ती कहा जा सकता है किन्तु इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि जब किसी एक दल के सरकार बनने की संभावना ही न रही हो ऐसे में यह प्रयोग संक्रमण काल में राष्ट्र को अनिश्चितता की स्थिति से उबारने व लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण का कार्य करता है। गठबंधन की राजनीति के सम्बन्ध में भारतीय सन्दर्भ में वर्तमान परिवेश में ऐसा ही कुछ घटित हो रहा है। किन्तु ब्रिटेन में गठबंधन सरकारों को कभी भी पसन्द नहीं किया गया। इंगलैण्ड संयुक्त नहीं चाहता। भारत में भी अस्थायित्व, परस्पर कलह और अन्य कारणों से गठबंधन को कम ही पसन्द किया जाता रहा है। किन्तु जब किसी दल को स्पष्ट बहुमत न मिले और आगे भी ऐसा ही होने की संभावना हो तो गठबंधन को स्वीकार करना अपरिहार्य हो जाता है। भारतीय राजनीति इन्हीं स्थितियों से दो–चार हो रही है। ऐसे में कुछ प्रश्नों का उठना और उनका मूल्यांकन अनिवार्य हो जाता है, जैसे क्या गठबंधन की राजनीति संसदीय लोकतंत्र के नये स्वरूप के निर्धारण में सफल होगी? क्या यह लोकतंत्र को

सशक्त बनाने का नया प्रयोग सिद्ध होगा? इसका भारत की संघात्मक व्यवस्था और राष्ट्रवाद पर क्या प्रभाव पड़ंगा? भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर इसके क्या दूरगामी प्रभाव होंगे? यदि। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इन प्रश्नों के उत्तर तलाशने का प्रयास किया गया है और साथ ही अब तक की गठबंधन सरकारों के क्रियान्वयन के विश्लेषण के आधार पर इसके गुण.दोषों की विवेचना कर इसे देश की राजनीतिक आवश्यकता के अनुरूप अधिक उपयोगी और कारगर बनाने के उपाये ढूँढने का प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में कुल आठ अध्याय हैं। प्रथम अध्याय प्रस्तावना का है जिसमें सर्वप्रथम भारतीय राजनीतिक वयवस्था के विकास को चिन्हित करने का प्रयास किया गया हैं। भारत में ईस्ट इन्डिया कम्पनी की स्थापना से लेकर भारत की स्वतंत्रता तक पहले ईस्ट इन्डिया कम्पनी और फिर ब्रिटिश शासन के संचालन के उद्देश्य से ब्रिटिश संसद ने अनेक अधिनियम और चार्टर पारित किये जिनसे क्रमिक रूप से भारतीय शासन व्यवस्था का स्वरूप विकसित हुआ। इनमें रेग्यूलेटिंग एक्ट (1773), एक्ट आफ सेटलमेन्ट (1781), पिट्स इन्डिया एक्ट (1784), चार्टर एक्ट (1793), चार्टर एक्ट (1813), 1833 का अधिनियम व 1853 के चार्टर ईस्ट इन्डिया कम्पनी के शासन को निर्धारित करने के लिये पारित किये गये। 1858 के अधिनियम द्वारा ईस्ट इन्डिया कम्पनी का शासन समाप्त कर शासन के सूत्र ब्रिटिश सरकार के हाथ में सौंप दिये गये इसके बाद भारतीय परिषद अधिनियम 1861, भारतीय परिषद अधिनियम 1892, भारतीय परिषद अधिनिय 1909, भारतीय शासन अधिनियम 1919 व भारतीय शासन अधिनियम 1835 के माध्यम से ब्रिटिश शासन के स्वरूप का निर्धारण किया जाता रहा। कैबिनेट मिशन योजना की सिफारिशों के आधार पर भारतीय संविधान के निर्माण के लिए एक संविधान सभा का गठन किया गया जिसकी पहली बैठक 9 दिसम्बर 1946 को हुई। 26 नवम्बर 1949 को भारतीय संविधान पर संविधान सभा के सदस्यों ने हस्ताक्षर किये और यह संविधान 26 जनवरी 1950 को लागू हो गया।

प्रथम अध्याय के दूसरे भाग में भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप का वर्णन किया गया है। भारत में संसदीय शासन प्रणाली को स्वीकार किया गया है और एकात्मवाद की ओर प्रवृत्त संघात्मक व्यवस्था को अपनाया गया है। स्वतंत्रता के बाद सम्पूर्ण भारतीय राजनीति किसी न किसी रूप में जाति, धर्म, भाषा व क्षेत्रवाद के मुद्दों से प्रभावित होती रही

है। राजनीतिक दलों ने अपने–अपने वोट बैंक को सुदृढ़ करने के लिये इन तत्वों का सहारा लिया है।

दूसरे अध्याय में भारतीय दल व्यवस्था के विकास एवं विशेषताओं का निरूपण किया गया हैं। साथ ही प्रमुख राष्ट्रीय व क्षेत्रीय दलों की संक्षिप्त जानकारी दी गई है। क्योंकि गठबंधन के प्रमुख पात्र ये राजनीतिक दल ही हैं इसलिए इन दलों व दलीय व्यवस्था के प्रमुख बिन्दुओं का विश्लेषण अनिवार्य हो जाता है। स्वतंत्रता से पूर्व प्रारम्भ में अलग–अलग उद्देश्यों से छोटी–छोटी संस्थाओं की स्थापना की गई। जैसे 1838 में लैण्ड होल्डर्स सोसायटी, 1843 में बंगाल ब्रिटिश एसोशिएशन 1866 में ईस्ट इन्डिया एसोसियेशन 1876 में इन्डियन एशोसिएशन, 1866 में ईष्ट इन्डिया एसोसिएशन, 1876 में इन्डियन एसोसिएशन, 1884 में मद्रास महाजन सभा आदि। 1885 में पहली महत्वपूर्ण राजनीतिक संस्था का जन्म हुआ कांग्रेस के रूप में जिसने भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया और आजादी के बाद भारतीय राजनीति में प्रमुख भूमिका का धारक बना। इसके अतिरिक्त स्वतंत्रता से पूर्व जो दल अस्तित्व में आये वे थे अखिल भारतीय मुस्लिम लीग (1906), हिन्दू महासभा (1916), उदार दल (1920) भारतीय साम्यवादी दल (1924), सोशलिस्ट पार्टी (1934) आदि। स्वतंत्रता के बाद जिन दलों का उदय हुआ वे उनमें प्रमुख थे जनसंघ (1951), रामराज्य परिषद (1942), द्रविड़ मुनेक कड़गम (1949) भारतीय लोकदल (1974) भारतीय जनता पार्टी (1980), और जनता दल (1987) आदि। इनके अलावा भारतीय राजनीति में सैंकड़ों की संख्या में राजनीतिक दल अस्तित्व में आये और विद्यमान हैं।

भारत में प्रारम्भ में बहुदलीय व्यवस्था होते हुए भी एकदलीय प्रभुत्व वाली व्यवस्था थी जिसमें केन्द्र और राज्यों में कांग्रेस का ही वर्चस्व रहा किन्तु 1967 के बाद से क्षेत्रीय दलों की स्थिति भी प्रभावी होने लगी। भारत में राजनीतिक दलों में दल बदल और दलीय विखण्डन की प्रवृत्ति से दलों की संख्या में वृद्धि हुई। राजनीतिक दलों में आन्तरिक लोकतंत्र का प्रायः अभाव ही रहा। अनेक दल व्यक्ति अथवा व्यक्तित्व पर आधारित रहे हैं। प्रायः अधिकांश राजनीतिक दलों में आन्तरिक गुटबन्दी की स्थिति रही और राजनीतिक दल सत्तागत स्वार्थ की राजनीति करते रहे। प्रमुख राष्ट्रीय दल है–कांग्रेस, भारतीय जनता पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी आदि। क्षेत्रीय अथवा राज्यस्तरीय दल जो भारतीय राजनीति को सर्वाधिक प्रभावित कर रहे हैं, वे हैं द्रमुक, अन्नाद्रमुक (तमिलनाडु), तेलगू देशम (आन्ध्र प्रदेश), बीजू जनता दल (उड़ीसा) राजद,

समता–जद (यू) लोक जनशक्ति (बिहार), सपा, बसपा (उ0प्र0), डूनेलोद (हरियाण) अकाली दल (पंजाब), शिवसेना, राकांपा (महाराष्ट्र) आदि।

गठबंधन के अर्थ, इसके कुछ सामान्य, सिद्धान्तों व इससे जुड़ी कुछ प्रमुख परिकल्पनाओं का उल्लेख तीसरे अध्याय में किया गया है। भारत की संसदीय परम्परा में दो या दो से अधिक राजनीतिक दलों की मिली जुली सरकारों के लिये गठबंधन, संयुक्त व संविद आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा हैं। सामान्य रूप से ये शब्द परिस्थिति विशेष में बनी सरकारों के सन्दर्भ में सन्दर्भित भिन्नता को प्रकट करते हैं किन्तु ये सभी ऑग्ल भाषा के "कोएलिसन" के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुए हैं। इसलिये प्रस्तुत शोध में गठबंधन को कोएलिसन के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त किया गया है। "कोएलिसन" की विभिन्न परिभाषाओं के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि यह दो या दो से अधिक पक्षों द्वारा मिलकर गठित किया गया वह समूह है जो किसी सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिये अस्तित्व में आता है। संसदीय शासन में गठबंधन प्रमुख रूप से तीन कारणों से अस्तित्व में आते हैं।–

1. बहुदलीय व्यवस्था में किसी एक दल को लोकसदन में बहुमत न मिल पाना;
2. द्विदलीय व्यवस्था में दोनों दलों के सन्तुलन की स्थिति में एक दल द्वारा किसी छोटे गुट के साथ मिलकर सत्ता प्राप्ति का प्रयास और,
3. राष्ट्रीय आपात जब सभी शक्तियां राष्ट्रहित की दृष्टि से एक ही दिशा में कार्य करने को तत्पर हों।

भारत में अब तक प्रथम आधार पर ही गठबंधनों का निर्यात हुआ है। गठबंधनों का कई आधारों पर वर्गीकरण किया जा सकता है, जैसे संख्या के आधार पर द्विदलीय या बहुदलीय गठबंधन सरकार, सिद्धान्तां के आधार पर समान सिद्धान्तों वाले अथवा सिद्धान्त विहीन गठबंधन, कार्यक्रमों के आधार पर निर्धारित कार्यक्रम के साथ गठबंधन व बिना कार्यक्रम के गठबंधन समयावधि के आधार पर चुनाव पूर्व गठबंधन अथवा चुनाव बाद गठबंधन और सदन में बहुमत की स्थिति के आधार पर बहुमत प्राप्त गठबंधन या अल्पमत गठबंधन। गठबंधन के कतिपय सिद्धान्तों के उल्लेख के साथ–साथ गठबंधन निर्माण, गठबंधन के बने रहने और उसके विघटन के तत्वों का उल्लेख किया गया है। गठबंधन निर्माण के लिये चार तत्व उत्तदायी होते हैं–स्थिति अनुकूलता प्रेरणा और अन्तःक्रिया। कोई गठबंधन स्थायी होगा अथवा अस्थायी यह सिद्धान्तों की समानता कार्यक्रमों की समानता,

दलीय अनुशासन, समन्वय समिति की सक्रियता प्रेरक नेतृत्व आदि तत्वों पर निर्भर करता है।

चतुर्थ अध्याय में 1998 से पूर्व वनी गठबंधन सरकारों का शोध समस्या व परिकल्पना के विभिन्न बिन्दुओं के आधार पर विश्लेषण किया गया है। 1977 में केन्द्र में पहली गैर कांग्रेसी सरकार जनता पार्टी की सरकार के रूप में पदारूढ़ हुई। वैसे जो जनता पार्टी एक दल के रूप में चुनाव लड़ी थी किन्तु वास्तव में यह दल स्वयं चार दलों–संगठन कांग्रेस, जनसंघ, लोकदल और समाजवादी दल–का गठबंधन था। इस संयुक्त का उदय आपातकाल की ज्यादतियों व कांग्रेस की तानाशाही के विरूद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। यह भारतीय राजनीति में गैर–कांग्रेसवाद की धारा का प्रथम प्रतिफल था। किन्तु सैद्धान्तिक एकरूपता न होने व्यक्तिगत महात्वाकांक्षाओं के टकराव व परस्पर कलह के चलते यह सरकार मात्र ढाई वर्षों में ही गिर गई। इसी प्रकार गैर–कांग्रेसवाद की लहर में दूसरी गठबंधन सरकार 1989 में वी0पी0 सिंह के नेतृत्व में अस्तित्व में आई। इस गठबंधन में प्रमुख घटक जनता दल था जिसने कुछ क्षेत्रीय दलों के साथ मिलकर राष्ट्रीय मोर्चा का गठन किया। किन्तु इस गठबंधन को पूर्ण बहुमत नहीं मिला था। अतः इसने दो परस्पर विरोधी ध्रुवों–माकपा व भाजपा के बाह्य समर्थन से सरकार बनाई। किन्तु यहां भी आकांक्षाओं का टकराव व अन्तर्कलह गठबंधन के स्थायित्व व कुशल संचालन में घातक साबित हुआ। यह सरकार आरक्षण और मन्दिर, जिसे आम बोलचाल में मण्डल और कमण्डल की राजनीति का नाम दिया जाता रहा, की भेंट चढ़ गया। सरकार द्वारा मण्डल कमीशन की सिफारिशों के लागू किये जाने से अपने हिन्दू मतो में बिखराव की स्थिति देख भाजपा ने सरकार से समर्थन वापस लिया और सरकार गिर गई।

1996 के चुनावों में गैर–कांग्रेसवाद के साथ–साथ राजनीतिक दलों के ध्रुवीकरण की एक और प्रेरणा दिखायी दी गैर–भाजपावाद। इस प्रकार भारतीय राजनीति में तीन ध्रुव दिखायी देने लगे–कांग्रेस, भाजपा और इन दोनों का विरोध करने वाले अन्य राष्ट्रीय व क्षेत्रीय दल अथवा तीसरा मोर्चा। कालान्तर में इस तीसरे मोर्चे के बिखराव व विभिन्न दलों द्वारा अपने हित व अस्तित्व को ध्यान में रखते हुए कांग्रेस अथवा भाजपा के साथ आने से क्रमशः संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन व राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन अस्तित्व में आये। 1996 के चुनावों के बाद लोकसभा में सबसे बड़ा दल होने के नाते राष्ट्रपति ने भाजपा नेता अटल बिहारी बाजपेयी को सरकार बनाने हेतु आमंत्रित किया। बाजपेयी के नेतृत्व में

सरकार बनी भी किन्तु इस सरकार की अवधि मात्र 13 दिन की रही क्योंकि भाजपा बहुमत प्राप्त करने भर के सहयोगी न जुटा सकी। तब 1 जून 1996 को राष्ट्रीय मोर्चा व वाम मोर्चा की गठबंधन सरकार पदारूढ़ हुई। इस गठबंधन को भी पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं था। यह अल्पमत सरकार थी जिसे कांग्रेस व माकपा का बाहर से समर्थन प्राप्त था। यह पहला अवसर था जब गठबंधन अपने आन्तरिक मामलों को "न्यूनतम साझा कार्यक्रमों" और "समन्वय समिति" के माध्यम से सुलझाता रहा। मोर्चे में अनेक अवसरों पर एक जुटता दिखायी दी किन्तु यह मोर्चा स्थायित्व के सन्दर्भ में कांग्रेस को न साध सका। कांग्रेस के समर्थन वापसी से पहले देवगौड़ा के नेतृत्व वाली सरकार गिरी और फिर इन्द्र कुमार गुजराल के नेतृत्व वाली मोर्चा सरकार का पतन भी कांग्रेस के कारण ही हुआ। इस प्रयोग ने यह सिद्ध कर दिया कि अल्पमत गठबंधन सरकारें या बाह्य समर्थन से चलने वाली गठबंधन सरकारों के स्थायित्व की संभावनायें कम ही होती हैं।

पंचम अध्याय में 1998 व 1999 में भाजपा के नेतृत्व में बनी राजग गठबंधन सरकारों के निर्माण व कार्यान्वयन का मूल्यांकन किया गया है। 12वीं लोकसभा चुनावों में भाजपा ने चुनाव पूर्व गठबंधन का प्रयास किया। इस दिशा में उसने अपने उदार दृष्टिकोण को रखते हुए विवादास्पद मुद्दों–राम जन्म भूमि, धारा 370 व समान नागरिक संहिता को स्थगित रखने का फैसला किया जिसके परिणाम स्वरूप तीसरे मोर्चे से जुड़े अनेक दल उसके साथ आये। भाजपा नीत गठबंधन बन पाने का एक कारण देश की राजनीतिक अस्थिरता और अनिश्चितता भी था। गठबंधन के बावजूद भाजपा नीत मोर्चे को पूर्ण बहुमत न मिला। तब तेलगूदेशम पार्टी ने देश को अनिश्चितता से उबारने के नाम पर सरकार को बहार से समर्थन देने का फैसला किया। इस प्रकार 18 दलों की मिली जुली सरकार अस्तित्व में आई। सरकार चलाने व घटक दलों में समन्वय बनाये रखने के लिये न्यूनतम साझा कार्यक्रम तय किया गया व समन्वय समिति का गठन किया गया। किन्तु यह गठबंधन सरकार भी किसी एक दल की महात्वकांक्षा का शिकार हो गई। चूँकि सरकार का बहुमत मामूली था इसलिए अन्नाद्रमुक के समर्थन वापसी के बाद प्रस्तुत विश्वास प्रस्ताव में सरकार एक मत से सदन का विश्वास प्राप्त करने में विफल रही।

1998 के पोखरण परमाणु परीक्षणों, कारगील में आपरेशन विजय व जिस तरह से विपक्ष ने सरकार गिराने में तत्परता दिखायी व उड़ीसा के तत्कालीन मुख्यमंत्री गिरधर गोमांगों के मत का प्रयोग विश्वास प्रस्ताव के विपक्ष में कराकर सरकार तो गिरा दी किन्तु

वैकल्पिक सरकार के गठन में विफल रहे उससे जनमत का झुकाव भाजपा के पक्ष में था। इस स्थिति के कारण राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन और मजबूत हुआ क्योंकि तीसरे मोर्चे के कुछ अन्य दल और नेता भी इस गठबंधन में आ मिले। 13वीं लोक सभा चुनावों में इस गठबंधन को पूर्ण बहुमत से अधिक सीटें मिलीं। कुछ एक उदाहरणों को छोड़ कर घटक दल न्यूनतम साझा कार्यक्रम के आधार पर कार्य करते रहे। विवादों की स्थिति कम बनी और पहली बार किसी गठबंधन सरकार ने स्थिरता पूर्वक अपना कार्यकाल पूरा किया। इस सफलता के लिये कई कारण उत्तरदायी हैं, जैसे गठबंधन निर्माण के लिये स्थितियां अनुकूल थीं, कोई भी पुनः चुनाव नहीं चाहता था, न्यूनतम साझा कार्यक्रम का आधार, समन्वय समिति की भूमिका, पर्याप्त व सुविधाजनक बहुमत का होना व प्रधानमंत्री का प्रेरक नेतृत्व। इस गठबंधन की सफलता ने यह सिद्ध कर दिया कि यदि सम्यक व्यवस्थाओं के आधार पर गठबंधन का निर्माण हो और सरकार का संचालन किया जाये तो गठबंधन सरकारें भी स्थायी हो सकती हैं और उसी प्रकार पूर्ण कुशलता व क्षमता से कार्य कर सकती हैं जैसे एक दलीय सरकारें करती हैं क्योंकि राजग सरकार की पांच वर्ष की उपलब्धियाँ कम नहीं हैं।

वर्ष 2004 में चौदहवीं लोक सभा के चुनाव दो दलों के बीच न होकर दो प्रमुख गठबंधनों के बीच हुए। इस चुनाव नें यह साबित कर दिया कि अब भारत की बहुदलीय व्यवस्था में राजनीतिक दलों का ध्रुवीकरण दो गठबंधनों के रूप में हो रहा है। ये दो गठबंधन हैं–राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन व संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन। इन गठबंधनों में शामिल होने का कोई वैचारिक आधार नहीं है। राजनीतिक दल प्रमुख रूप से अपने दलीय हित, सत्ता प्राप्ति व अपने अस्तित्व को बनाये रखने के उद्देश्य से दो में से किसी एक गठबंधन का चयन करते हैं। संयुक्त प्रगतिशील सरकार भी अल्पमत सरकार है क्योंकि इसका संचालन वाम मोर्चे के वाह्य समर्थन पर आधारित है जिसके लोकसभा में कुल 60 सदस्य हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सरकार का स्थायित्व वाम मोर्चे के समर्थन पर निर्भर करता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वाम मोर्चे को जिन दो राज्यो–पं0 बंगाल व केरल–में सर्वाधिक सीटें मिली हैं वे कांग्रेस के विरूद्ध चुनाव लड़कर जीती गई हैं। यही नहीं कुछ राज्यों में वाम मोर्चा कांग्रेस नीत गठबंधन के साथ तालमेल में भी शामिल था जैसे आन्ध्र प्रदेश, बिहार, तमिलनाडु आदि यह गठ़बंधन के राजनीति की ही महिमा कही

जा सकती है कि राजनीतिक दल एक साथ कहीं विरोध तो कहीं मेल की नीति अपना रहे हैं। इसीलिए छठवें अध्याय को "गठबंधन का अभिनव गतिशास्त्र" नाम दिया गया है।

सातवें अध्याय में गठबंधन की राजनीति के भारतीय राज व्यवस्था पर पड़ने वाले प्रभावों का मूल्यांकन किया गया है। गठबंधन सरकार कई दलों, की मिली जुली सरकार होती है इसलिए कलह की प्रवृत्ति विद्यमान होती है जिसका असर सरकार के स्थायित्व पर पड़ता है। भारत में बनी अब तक की गठबंधन सरकारों में वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक एकता का अभाव रहा है जिसके चलते राजनीतिक दलों के दृष्टिकोण में सत्तागत स्वार्थ प्रधान तत्व रहा हैं। इससे एक सिद्धान्त शून्य राजनीतिक संस्कृति का विकास हुआ। इतना ही नहीं बहुमत प्राप्त करने व बनाये रखने के उद्देश्य से दल–बदल व दल विभाजन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिला। इसी उद्देश्य से सांसदों की खरीद व प्रलोभन की प्रवृत्तियाँ भी उभरी व राजनीतिक सौदेबाजी तेज हुई जिसमें सत्तारूढ़ गठबंधन के दल व नेता अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने का प्रयास करते देखे गये। दलीय अनुशासन की कमी से जहां सरकार संचालन में बाधा आयी वहीं इससे भ्रष्टाचार की बढ़ती प्रवृत्ति ने जनमानस को उद्वेलित किया है।

उपर्युक्त कारणों से गठबंधन की राजनीति आलोचाना का पात्र अवश्य रही किन्तु इसके कुछ सकारात्मक परिणाम भी दिखायी दिये हैं। गठबंधन निर्माण व इसके द्वारा संसदीय सरकार का संचालन स्वयं में एक उपलब्धि है क्योंकि इससे एक ऐसी नूतन सत्ता–सहभागिता संस्कृति का विकास हुआ जिसमें परस्पर विरोधी विचारों वाले दल अपने कठोर कार्यक्रमों को त्याग न्यूनतम साझा कार्यक्रम के आधार पर सरकार संचालन के उद्देश्य से एकजुट होते हैं। इससे किसी एक दल के बहुमत न मिल पाने के कारण सरकार बनाने व चलाने का एक विकल्प मिला है। गठबंधन सरकार अधिक लोकतांत्रिक है क्योंकि इसमें एक दल की तुलना में अधिक दलों वर्गों व हितों को सत्ता में सहभागिता प्राप्त होती है व किसी एक दल अथवा नेता की निरंकुशता स्थापित नहीं हो पाती। विभिन्न क्षेत्रों, वर्गों व हितो को सरकार में प्रतिनिधित्व मिलने से क्षेत्रीय, वर्गीय हितों व राष्ट्रीय हितों में सामान्जस्य स्थापित करना सहज हुआ है। गठबंधन की राजनीलि से भारत में सहयोगी संघवाद का उदय हुआ है जिसमें संघात्मक विषयों में केन्द्र और राज्यों की परस्पर भागीदारी सुनिश्चित हुई है। इस प्रकार इस व्यवस्था के यदि कुछ नकारात्मक पक्ष

हैं तो कुछ सकारात्मक बिन्दु भी है। आवश्यकता इस बात कि है कि हम नकारात्मक प्रभावों को न्यून करने व सकारात्मक प्रभावों को विकसित करने का प्रयास करें।

आठवें अध्याय में समूचे शोध के निष्कर्षों का मूल्यांकन किया गया है। किसी देश की शासन प्रणाली का निरूपण उस देश के संविधान दल प्रणाली, निर्वाचन पद्धति व राजनीतिक पर्यावरण आदि तत्वों पर निर्भर करता है। ब्रिटेन और भारत के संसदीय प्रणाली के सन्दर्भ में यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो जाती है। ब्रिटेन की स्थितियाँ वहां द्विदलीय व्यवस्था को जन्म देती हैं जबकि भारत की विविधता वाली संस्कृति बहुदलीय व्यवस्था के पनपने में सहायक होती हैं। बहुदलीय व्यवस्था होते हुए भी प्रारम्भ में जब तक कांग्रेस के प्रभुत्व वाली व्यवस्था कायम रही, भारत के संसदीय लोक तंत्र के समक्ष कोई कठिनाई नहीं आई। किन्तु जब क्षेत्रीय दलों के उभार के चलते किसी एक दल का लोकसभा चुनावों में पूर्ण बहुमत प्राप्त करना कठिन हो गया तब भारतीय राजनीति के लिये गठबंधन के विकल्प का चयन अनिवार्य सा हो गया। भारत में बनी गठबंधन सरकारें अथवा गठबंधनों का ध्रुवीकरण कांग्रेस विरोध अथवा भाजपा विरोध की पृष्ठभूमि में हुआ। यहां गठबंधनों का निर्माण सत्ता प्राप्त करने अथवा अपने अस्तित्व को बचाये रखने की प्रेरणा से हुआ। राजग के सफल संचालन में यह सिद्ध कर दिया है कि यदि घटक दलों में अनुशासन हो, न्यूनतम साझा कार्यक्रम में आस्था हो, समन्वय समिति प्रभावशाली हो, सभी घटक दल सरकार में शामिल हो न कि बाहर से समर्थन दें, गठबंधन सुविचारित ओर चुनाव पूर्व हो, नेतृत्व करने वाले दल की शक्ति गठबंधन के सभी घटकों की तुलना में प्रभावी रूप से अधिक हो और एक प्रभावशाली नेतृत्व हो तो गठबंधन के सफलता की संभावना बढ़ जाती है। यही कारण है कि भारतीय राजनीति में भावी राजनीतिक स्थितियों को ध्यान में रखते हुए राजनीतिक दलों का ध्रुवीकरण दो गठबंधनों–राजग और संप्रग के बीच हो रही है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में मूलतः आनुभविक अध्ययन पद्धति का प्रयोग किया गया है। इसके लिये प्राथमिक और द्वितीयक स्रोतों से तथ्य संकलन कर विश्लेषण किया गया। प्राथमिक स्रोंतों में साक्षात्कार अनुसूची पद्धति से भारत के चार प्रमुख महानगरों दिल्ली, कलकत्ता, चेन्नई व मुम्बई के साथ–साथ कुछ अन्य राज्यों के प्रमुख नगरों व कस्बों के 1000 विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों से गठबंधन की राजनीति के विभिन्न विषयों के संबंध में साक्षात्कार लिया गया व निष्कर्ष से पूर्व उनका विश्लेषण किया गया। ऐसा करते वक्त इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि उत्तरदाता किसी राजनीतिक दल से सम्बद्ध न हो।

इसके अतिरिक्त प्रश्नावली प्रणाली का प्रयोग कर प्रमुख दलों के राजनेताओं का साक्षात्कार लिया गया। व्यक्तिगत सम्पर्क न हो पाने की स्थिति में, कुछ प्रमुख राजनीतिज्ञों को प्रश्नावली डाक द्वारा भेज कर उत्तर प्राप्त करने का प्रयास किया गया। किन्तु इस प्रकार की प्रश्नावलियों के उत्तर प्राप्त नहीं हो सके। इन स्रोतों से प्राप्त जानकारी का घटनाओं व तथ्यों का द्वितीयक स्रोतों–पुस्तकों, पत्रिकाओं, समाचार पत्रों आदि से प्राप्त जानकारी से समामेलन करते हुए विश्लेषण कर तत्थ्यों को सामने लाने व सन्दर्भित प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त भारतीय राज व्यवस्था में राजनीतिक दलों के जन्म एवं विकास तथा भारतीय राज व्यवस्था के विकास के अध्ययन हेतु ऐतिहासिक पद्धति का भी प्रयोग किया गया।

दिनाँक : 8.2.05

(दिनेश कुमार वर्मा)

आभार

मुझ जैसे अल्पज्ञ और अनुभव रहित गवेषक के लिए शोध जैसे गम्भीर्य सारस्वत अनुष्ठान को पूर्ण कर पाना मेरी सामर्थ्य से परे था किन्तु मेरे लिए प्रणाम्य एवं वन्दनीय तथा शोध विद्या में निष्ठात डॉ० देवेन्द्र नारायण सिंह, प्राध्यापक राजनीति विज्ञान, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, हमीरपुर की प्रज्ञा पीठ में मेरी अन्वेषणात्मक अध्यवसाय की साधना पूर्ण हुई। मैं पूज्यनीय डॉ० सिंह जी का सदैव ऋणी रहूँगा, जिनके सद्प्रयासों, प्रेरणा तथा प्रोत्साहन युक्त निर्देशन में यह शोध प्रबन्ध पूरा हो सका है।

परम श्रृद्धेय डॉ० सिंह जी मेरे लिए केवल शोध निर्देशक ही नहीं अपितु मेरे दिशा निर्देशक भी हैं जिनका अनुशीलन करके मैंने इस गवेषणात्मक आयोजन को पूरा किया है, ऐसे दुरूह कार्य के लिए मैं अपनी अनन्त श्रृद्धा उनके चरणों में समर्पित करता हूँ। गुरू माता श्रृद्धेया श्रीमती मिथलेश सिंह (वाराणसी) के प्रति मैं आभार व्यक्त करता हूँ जिनकी असीम प्रेरणा से यह शोध प्रबन्ध समय की सीमाओं के अन्दर पूर्ण हो सका साथ ही कु0 वर्तिका सिंह जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी में एम0एस0सी0 की छात्रा हैं उनके प्रति असीम स्नेह व्यक्त करता हूँ जिन्होंने समय-समय पर शोध से सम्बन्धित सन्दर्भ सामग्री को संग्रहीत करने में अपना अमूल्य समय मुझे प्रदान किया।

प्रशासकीय कार्यो की दुरुहता और संयोजन को सहज बनाकर प्राचार्यकत्व के महती दायित्व का निर्वहन करने वाले श्रृद्धेय डॉ रमेश चन्द्र, प्राचार्य राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय हमीरपुर के प्रति मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनकी असीम शुभकामनाओं एवं सहयोग से यह शोध यज्ञ पूरा हो सका।

उच्च शिक्षा के प्रति समर्पित एवं कुशल प्रशासक डॉ० सतीश कुमार जी पूर्व प्राचार्य रज़ा राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रामपुर तथा उनकी भार्या

श्रीमती उषा बंसल, के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनके स्नेहिल प्रयासों से इस मन्जिल की शुरुआत कर सका।

राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय हमीरपुर, में विद्या दान से जुड़े डॉ0 परमात्मा सिंह विभागाध्यक्ष भूगोल विभाग, डॉ0 ए0के0 सैनी, प्रवक्ता, रसायन विज्ञान, डॉ0 शालिग राम रजक, वरिष्ठ प्रवक्ता, भूगोल डॉ0 स्वामी प्रसाद गुप्त, प्रवक्ता समाजशास्त्र राजकीय महाविद्यालय हमीरपुर एवं डॉ0 बलराम, वरिष्ठ, प्रवक्ता, भूगोल, पुवारका-सहारनपुर, के प्रति श्रृद्धावनत हूँ जिन्होंने मुझे समय-समय पर शोध की परिधियों का ज्ञान कराया।

मैं अपनी प्रारम्भिक शिक्षा के गुरुजनों श्रृद्धेय श्री श्री पाल गर्ग, व्यायाम शिक्षक तथा मो0इस्लाम अंसारी, प्रवक्ता, रसायन विज्ञान, तुलसी इण्टर कालेज, राजापुर के प्रति श्रृद्धावनत हूँ जिन्होंने सदैव शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया।

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी में कार्यरत डॉ0 सन्दीप सिंह वर्मा के अमूल्य सहयोग को मैं कदापि नहीं विस्मृति कर सकता जिनके सहयोग से शोध पथ प्रारम्भ हो सका उनके प्रति आभार ज्ञापन उनके स्नेह का अमूल्यन होगा।

पूज्य पिता जी स्व0 चन्दन दास वर्मा को, जिनकी स्मृति से अश्रु विलगन होने लगता है जिनके ऋण से उऋण होना संभव ही नहीं है। उन्हीं के श्री चरणों में मेरा यह शोध प्रबन्ध समर्पित है। पूज्यनीया माता जी श्रीमती चन्दा देवी तथा अनुज राकेश एवं राजेश का आदरयुक्त सहयोग इस शोध प्रबन्ध को आगे बढ़ाने में सदैव साथ रहा। मैं अपने पुत्र दिवाकर दिंनेश चन्दन को भी स्नेहिल धन्यवाद देता हूँ जिसने पितृत्व दायित्व से मुक्त रखकर इस प्रज्ञा यज्ञ को सम्पन्न करने में सहयोग दिया।

मैं अपनी अनुजा पुष्पा एवं भामक विनोद कुमार जी प्रबन्धक बी.एच.ई.एल, झाँसी के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ जिनके अप्रतिम सहयोग और स्नेह से मैं

शोध के गाम्भीर्य को अपना सका। साथ ही अनुजा श्रीमती रमा गुप्त एवं भान्जे प्रतीक प्रांज्जल का भी मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने सदैव मुझे इस शोध यज्ञ को शीघ्र लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए प्रेरित किया। मैं अपने चिकित्सक मित्र डॉ0 गोविन्द प्रसाद, नेत्र सर्जन जिला चिकित्सालय, वाराणसी के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिनका मित्रवत स्नेह सदैव मुझे प्रेरित करता है।

शोध प्रबन्ध के टंकण, मुद्रण रूपसज्जा तथा आवरण सज्जा के लिए श्री वीर सिंह राना *(सोनी)*, **वीनस कम्पयूटर ग्राफिक्स**, मेहेरपुरी, हमीरपुर धन्यवाद एवं बधाई के पात्र है। जिनके अभीष्ठ सहयोग से इस लक्ष्य बिन्दु को मैं पा सका। इन सबके अतिरिक्त मैं उन सभी सुधी जनों का हृदय से आभारी हूँ। जिन्होंने मुझे यथा सम्भव मदद दी।

दिनाँक : 8.2.05

दिनेश कुमार वर्मा

प्रमुख शब्द संक्षेप

अन्नाद्रमुक	–	अन्नाद्रविड़ मुनेत्र कड़गम
बसपा	–	बहुजन समाज पार्टी
भाजपा	–	भारतीय जनता पार्टी
बीजद	–	बीजू जनता दल
सीएमपी	–	कामन मिनिमय प्रोग्राम
द्रमुक	–	द्रविड़ मुनेत्र कड़गम
इनेलोद	–	इन्डियन नेशनल लोकदल
जद (स)	–	जनता दल (सेक्युलर)
जद (यू)	–	जनता दल (यूनाइटेड)
झामुमो	–	झारखण्ड मुक्ति मोचा
राजग	–	राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन
राजद	–	राष्ट्रीय जनता दल
रामों	–	राष्ट्रीय मोर्चा
आर.एस.एस.	–	राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ
सजपा	–	समाजवादी जनता पार्टी
सपा	–	समाजवादी पार्टी
शिअद	–	शिरोमणि अकाली दल
संप्रग	–	संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन
तेदेपा	–	तेलगूदेशम पार्टी
तेरास	–	तेलंगाना राष्ट्रीय समिति
वामों	–	वाम मोर्चा

अध्याय—एक

प्रस्तावना

अध्याय–एक

प्रस्तावना

भारत में गठबंधन सरकार की कल्पना स्वर्गीय डॉ0 राम मनोहर लोहिया ने की थी। उनका मत था कि केन्द्र या राज्यों में सत्ता पर कांग्रेस का जो एकाधिकार है वह तभी समाप्त हो सकता है जब विभिन्न राजनीतिक दल जो कांग्रेस के विरूद्ध हैं, वे अपने मतभेद भूलकर कांग्रेस के विरूद्ध चुनावी समझौता करें और सरकार भी बनावें।[1] वस्तुतः भारतीय राजनीति में 1967 में हुए चतुर्थ आम चुनावों के पूर्व तक भारत में एक दलीय प्रधानता की स्थिति थी। इस समय तक केन्द्र और लगभग सभी राज्यों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की सरकारें सत्तारूढ़ रहीं[2] जबकि चौथे आम चुनाव तक भारत में आठ राष्ट्रीय राजनीतिक दल[3] और अनेक क्षेत्रीय अथवा राज्य स्तरीय दल[4] विद्यमान थे। किन्तु 1967 के चतुर्थ आम चुनाव के बाद नौ राज्यों–उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, केरल और मद्रास में कांग्रेस इस स्थिति में नहीं आ पाती कि वह अकेले दम पर स्वयं अपनी सरकार बना सके। यहीं से भारत में गठबन्धन सरकारों का प्रयोग (राज्य स्तर पर) प्रारम्भ होता है।.

केन्द्र में गठबन्धन सरकार का प्रयोग 1977 में जनता पार्टी की सरकार के साथ प्रारम्भ हुआ। कहने को तो जनता पार्टी एक दल था किन्तु वास्तव में यह चार दलो का [5]गठबन्धन था, जो कि कांग्रेस के विरूद्ध जय प्रकाश नारायण की प्रेरणा से जनता पार्टी के रूप में संगठित हुए थे। 1980 से 1989 तक केन्द्र में पुनः एक दलीय प्रभुता कायम रही किन्तु इस बीच राज्यों में क्षेत्रीय अथवा राज्य स्तरीय दलों का प्रभाव व शक्ति लगातार बढ़ती रही। क्षेत्रीय दलों के प्रभाव विस्तार ने प्रमुख राष्ट्रीय दलों को इतना प्रभावहीन बना दिया कि 1989 के बाद से कोई भी एक दल लोकसभा में पूर्ण बहुमत नहीं प्राप्त कर सका। ऐसे मे बाह्य समर्थन से अल्पमत सरकारों के संचालन का चलन आरम्भ

---

[1] – डा0 गौरी शंकर राजहंस, "क्यों नहीं चल पातीं गठबन्धन सरकारें", हिन्दुस्तान, 18.04.1999

[2] – पेप्सू, केरल व उड़ीसा को कुछ समय के लिये अपवाद स्वरूप छोड़कर

[3] – चुनाव आयोग के चौथे आम चुनावों पर प्रतिवेदन, पृ0–3 में जो आठ राष्ट्रीय राजनीतिक दल बताये गये थे, वे थे–भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, अखिल भारतीय जनसंघ, स्वतंत्र पार्टी, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) और रिपब्लिकन पार्टी।

[4] – राज्य स्तर के प्रमुख दल थे–द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, भारतीय रिपब्लिकन पर्टी, हिन्दू महासभा, अकाली दल, मुस्लिम लीग, जन कांग्रेस, उत्कल कांग्रेस, बंगला कांग्रेस, जनतंत्र परिषद, फारवर्ड बलाक आदि।

[5] – जो चार दल जनता पार्टी के रूप में संगठित हुए थे वे थे – संगठन कांग्रेस, अखिल भारतीय जनसंघ, भारतीय लोकदल और समाजवादी दल।

हुआ जिसने कालान्तर में मोर्चे और अब गठबन्धन की राजनीति का नाम धारण कर लिया है। 1989 में विश्नाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व में राष्ट्रीय मोर्चे की अल्पमत गठबन्धन सरकार बनी। 1996 में देवगौड़ा के नेतृत्व में व 1997 में इन्द्र कुमार गुजराल के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चा सरकारें गठबन्धन की राजनीति का तीसरा प्रयोग था। 1998 व 1999 में अटल बिहारी बाजपेयी के नेतृतव में बनी सरकार इस दिशा में चौथा महत्वपूर्ण प्रयास था। इसलिये राष्ट्रीय मोर्चे व संयुक्त मोर्चे की सरकारों के प्रयोग को अलग व भाजपा नेतृत्व वाले राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन सरकार को अलग अध्याय में रखकर गठबन्धन राजनीति से जुड़े महत्वपूर्ण प्रश्नों के विश्लेषण का प्रयास इस शोध प्रबन्ध में क्रियां गया है। शोध प्रबन्ध लिखे जाने तक चूँकि मई 2004 में कांग्रेस के नेतृत्व में एक नया गठबन्धन संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन के रूप में सत्तारूढ़ हुआ अस्तु एक नये अध्याय का संयोजन किया गया।

यद्यपि विश्व के कई देशों में बहुत पहले से गठबन्धन सरकारों का चलन रहा है किन्तु भारत के लिए यह नया प्रयोग है जो संक्रमण कालीन राजनीति के दौर से गुजर रहा है। आम चुनावों में लोकसभा में किसी एक दल को पूर्ण बहुमत न मिल पाने की स्थिति में विविध विचारों वाले यहां तक कि परस्पर विरोधी विचारों वाले राजनीतिक दलों का एक राजनीतिक गठबन्धन में शामिल होना और सरकार बनाना अपने आप में सरकार बनाने व सरकार चलाने का एक अनूठा प्रयोग है। इसे प्राथमिक तौर पर सत्ता परस्ती कहा जा सकता है, किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि इस प्रयोग ने संक्रमण काल में राष्ट्र को एक दिशा देने व लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण का महत्वपूर्ण कार्य किया है, इसलिए गठबन्धन सरकारों के विषय में अध्ययन विशेष रूप से अनिवार्य हो जाता हैं।

प्रस्तुत अध्ययन विषय इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिये चयनित किया गया। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में केन्द्र में बनी गठबन्धन सरकारोंके विशेष अध्ययन के आधार पर निम्न प्रश्नों के उत्तर तलाशने का प्रयास किया गया है–

1. गठबन्धन सरकार कैसे बनती है और क्यों टूटती है।

2. गठबन्धन की राजनीति का यह प्रयोग क्या संसदीय लोकतंत्र के नये स्वरूप के निर्धारण में सफल होगा।

3. क्या यह भारतीय लोकतंत्र को सशक्त बनाने का नया प्रयोग सिद्ध होगा।

4. क्या यह भारत की संघात्मक व्यवस्था को नया रूप दे सकेगा।

5. इस प्रयोग का भारतीय राष्ट्रवाद पर क्या प्रभाव पड़ेगा?

6. भारत राष्ट्र और भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर इसके क्या दूरगामी प्रभाव होंगे?

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में इन प्रश्नों के सन्दर्भों के विश्लेषण का प्रयास किया गया है। साथ ही विभिन्न गठबन्धन सरकारों के क्रियान्वयन का मूल्यांकन करते हुए, इसके गुण दोषों का विश्लेषण कर इसे और बेहतर बनाने के उपाय खोजने का प्रयत्न भी किया गया है।

वस्तुतः राजवैज्ञानिक सदियों से राजव्यवस्था के आदर्श तलाशते आये हैं। भारतीय राजनीतिक सन्दर्भों में इस नवीन प्रवृत्ति का मूल्यांकन हमारे समाज की महती आवश्यकता बन गया है। प्रस्तुत शोध कार्य इस आवश्यकता की पूर्ति का एक प्रयास मात्र है।

भारत में गठबन्धन की राजनीति की बारीकियों और इसके क्रियान्वयन को तब तक पूरी तरह से नहीं समझा जा सकता जब तक कि निम्न तथ्यों की सम्यक जानकारी न प्राप्त कर ली जाये –

(क) भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का विकास

(ख) भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप

(ग) भारतीय दल प्रणाली

इसलिये भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के विकास इसके स्वरूप का विश्लेषण इसी अध्याय में आगे किया गया है। दूसरे अध्याय में विशेष रूप से भारतीय दल प्रणाली के विकास, दल पद्धति की विशेषताओं एवं मूल प्रवृत्तियों तथा कुछ प्रमुख राष्ट्रीय व क्षेत्रीय दलों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय राजव्यवस्था का विकास

भारतीय राजव्यवस्था के वर्तमान स्वरूप के विकास की कहानी भारत में ब्रिटिश शासन के इतिहास में सन्निहित है क्योंकि भारतीय राज व्यवस्था के आधार एवं निरूपक भारतीय गणतन्त्र के संविधान का उद्भव एवं विकास एवं निर्माण इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं।

भारत में अंग्रेजों के आगमन से पूर्व इस देश के अनन्त वैभव की कथाओं से विश्व का कोई देश अनभिज्ञ न था। भारत "सोने की चिड़िया" कहा जाता था। ब्रिटेनवासी भी भारत की इस धन सम्पदा एवं समृद्धि से भलीभांति परिचित थे। वे अपने उत्पादों की खपत हेतु एक व्यापक बाजार की तलाश में भी थे। उनकी दृष्टि में भारत उनके इस

लक्ष्य की पूर्ति कर सकता था। पूर्वी द्वीप समूह से व्यापार में वे स्पेन वासियों को समृद्ध होते हुए देख रहे थे। इससे उन्हे यह दृढ़ विश्वास हो गया कि, "भारत तथा सुदूर पूर्व में व्यापार की प्रबल सम्भावनायें हैं।"[6] इसी उद्देश्य से सितम्बर 1599 में लन्दन के कुछ व्यापारियों ने लार्ड मेयर की अध्यक्षता में एक सभा का आयोजन किया जिसमें पूर्वी द्वीप समूह के साथ व्यापार के आशय से इन व्यापारियों ने एक कम्पनी का गठन किया जो "ईस्ट इण्डिया कम्पनी"[7] के नाम से जानी गई। तत्पश्चात उन्होने महारानी ऐलिजाबेथ प्रथम से से व्यापारिक चार्टर प्रदान करने की प्रार्थना की क्योंकि तत्कालीन विधि विशेषज्ञों की राय में विदेशों से व्यापार करना ब्रिटिश ताज का विशेषाधिकार था।[8] इसलिये साम्राज्ञी से व्यापारिक चार्टर प्राप्त करना अनिवार्य था।

महारानी एलिजाबेथ प्रथम ने 31 दिसम्बर[9] 1600 ई0 को इस व्यापारिक कम्पनी को चार्टर प्रदान किया। चार्टर के अन्तर्गत कम्पनी की व्यवस्था के लिये एक विधान का उपबन्ध था। कम्पनी का प्रबन्ध एक गवर्नर तथा 24 सदस्यों में निहित किया गया जिसका एक निर्वाचित डिप्टी गवर्नर भी था। चार्टर में निर्दिष्ट सीमाओं के अन्तर्गत कम्पनी को व्यापार संगठन का आत्यान्तिक अधिकार प्रदान किया गया आरम्भ में यह अधिकार केवल 15 वर्ष के लिये प्रदान किया गया। चार्टर में यह व्यवस्था भी थी कि यह अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् यदि व्यवसाय राजसत्ता के लिये लाभप्रद हो एवं जन साधारण के अधिकारों तथा हितों के प्रतिकूल न हो तो उसका नवीनीकरण किया जा सकता था। कालान्तर में 1609 के चार्टर एवं 1615 व 1624 के पश्चात्वर्ती चार्टरों में प्राप्त अधिकारों से कम्पनी की स्थिति में और अधिक सुधार हुआ। पुनश्च 1661 के चार्टर द्वारा इसे परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल अपेक्षित अधिकार प्रदान किये गये व उसे नियमित स्थायी संयुक्त स्टाक कम्पनी के सिद्धान्तों पर पुनर्गठित किया गया। पश्चात्वर्ती 1677, 1683 व 1688 के चार्टरों द्वारा कम्पनी की प्रादेशिक सत्ता में महत्वपूर्ण वृद्धि की गई। इसी प्रकार 1693 के चार्टर के बाद कम्पनी की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ। 1833 के चार्टर द्वारा इसका संक्षिप्त नाम "ईस्ट इण्डिया कम्पनी" कर दिया गया।

आरम्भ में कम्पनी का उद्देश्य पूर्णतया वाणिज्यिक था। किन्तु औरंगजेब की मृत्यु के बाद भारत में केन्द्रीय सत्ता के कमजोर होने पर टुकड़ों में बँटे और निरन्तर बँट रहे, निरन्तर आपस में संघर्षरत भारत के नरेशों और नवाबों की राजनीति से कम्पनी को भारत

---

[6] – जे0 वी0 ब्लॉक, "दि रेन ऑफ एलिजाबेथ", लन्दन, 1959, पृ. 250

[7] – इसका पूरा नाम था, "गवर्नर एण्ड कम्पनी ऑफ मर्चेन्ट्स ऑफ लन्दन ट्रेडिंग इन टू दि ईस्ट इंडीज"

[8] – ए0 बी0 कीथ, "कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया" (1937), पृ0 2

[9] – एस0 सी0 एल्बर्ट, "दि गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया", (1907), पृ0 8

में प्रादेशिक सत्ता हस्तगत करने की गंध लगी। कूटनीति, छलनीति और युद्ध नीति का सहारा लेते हुए कम्पनी ने भारत में अपना प्रादेशिक क्षेत्र स्थापित करना प्रारम्भं किया। 1757 के प्लासी के युद्ध और 1764 के बक्सर के युद्ध में कम्पनी की विजय ने भारत में कम्पनी की प्रादेशिक सत्ता की नींव सुदृढ़ कर दी।

1858 से पूर्व का राजनीतिक विकास

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन स्थापित हो जाने के बाद प्रारम्भ में कम्पनी के क्रियाकलापों को नियन्त्रित करने के उद्देश्य से एवं बाद में भारतीयों की शासन में हिस्सेदारी सुनिश्चित करने व समय–समय पर शासनिक व्यवस्था में सुधार के उद्देश्य से ब्रिटिश पार्लियामेन्ट द्वारा अनेक अधिनियम पारित किये गये। ये अधिनियम भारत के संवैधानिक विकास के इतिहास के मील के पत्थर कहे जा सकते हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण अधिनियमों का भारतीय राजव्यवस्था के विकास के सन्दर्भ में, संक्षिप्त उल्लेख अपरिहार्य है :–

1. रेग्यूलेटिंग एक्ट 1773

कम्पनी के स्वेच्छाचारी शासन पर नियंत्रण व मंहगे युद्धों के कारण पड़े आर्थिक बोझ से उसे राहत देनेके उद्देश्य से ब्रिटिश संसद ने 1773 में अपने द्वारा नियुक्त प्रवर समति व गुप्त समिति के प्रतिवेदनों के आधार पर रेग्यूलेटिंग एक्ट पारित किया गया। ब्रिटिश संसद द्वारा पारित यह अधिनियम, कम्पनी के भारतीय प्रशासन पर संसदीय नियंत्रण की दिशा में प्रथम महत्वपूर्ण कदम था। इस अधिनियम के महत्वपूर्ण उपबन्ध निम्नलिखित थे –

1. कम्पनी के निदेशकों की पदावधि एक वर्ष से बढ़ाकर चार वर्ष कर दी गई। साथ ही यह भी उपबन्धित किया गया कि निदेशकों की कुल संख्या का चतुर्थांश अपनी अवधि समाप्त करके प्रतिवर्ष अवकाश ग्रहण करेगा।
2. कोर्ट ऑफ प्रोपराइटर्स के उन्ही अंशधारियों को अब मतदान का अधिकार होगा जिनकी कम्पनी की स्टाक पूंजी में 1000 पौण्ड की भागीदारी होगी। पहलें यह सीमा 500 पौण्ड थी।

3. बंगाल प्रेसीडेन्सी को सर्वोच्चता प्रदान की गई तथा अन्य प्रेसीडेंन्सियों (मद्रास व बम्बई) को इसके आधीन कर दिया गया। ऐसा तीनों प्रेसीडेन्सियों में समन्वय के उद्देश्य से किया गया था।
4. सपरिषद् गवर्नर जनरल को शान्ति, सुरक्षा और सुशासन के लिये आवश्यक कानून बनाने व अध्यादेश जारी करने का अधिकार दिया गया।
5. इस अधिनियम ने ब्रिटिश सम्राट को चार्टर द्वारा कलकत्ता में एक उच्चतम् न्यायालय स्थापित करने का अधिकार प्रदान किया। इस न्यायालय के निर्णयों के विरूद्ध परिषद् सहित सम्राट के समक्ष अपील की जा सकती थी।
6. कम्पनी के कर्मचारियों, प्रधान न्यायाधीश और उच्चतम् न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों, गवर्नर जनरंल एवं उसकी परिषद् के सदस्यों, प्रेसीडेन्सी के गवर्नरों को भेंट स्वीकार करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

2. ऐक्ट ऑफ सेटलमेन्ट 1781

ऐक्ट ऑफ सेटलमेन्ट 1781 का मुख्य उद्देश्य रेग्यूलेटिंग एक्ट में अन्तर्निहित गंभीर व्यावहारिक दोषों को दूर करना था। इसके मुख्य उपबन्ध निम्न लिखित थे :-

1. सपरिषद् गवर्नर जनरल को व्यक्तिगत एवं संयुक्त रूप से अपने पदाधिकार के प्रयोग में किये गये कार्यों के लिये, बशर्ते कि उनके आदेशों से ब्रिटिश नागरिक प्रभावित न होते हों, उच्चतम् न्यायालय की अधिकारिता से विमुक्त कर दिया गया।[10]
2. उच्चतम् न्यायालय, राजस्व संकलन के कार्य में संलग्न कम्पनी के किसी कर्मचारी पर अधिकारिता नहीं रखेगा।
3. इस अधिनियम द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया कि कम्पनी के कर्मचारियों, कम्पनी के ब्रिटिश अधिकारियों के सेवक और भारत स्थित किसी जन्मजात ब्रिटिश नागरिक के सेवकों के प्रकरणों में उच्चतम् न्यायालय को अधिकारिता नहीं होगी।
4. उच्चतम् न्यायालय द्वारा उत्तराधिकार और संविदा से सम्बन्धित समस्त प्रकरणों का निर्णय पक्षकारों की स्वीय विधि (पर्सनल लॉ) के अन्तर्गत होगा।
5. उच्चतम् न्यायालय निर्णय करते समय भारतीयों के धर्म, रीति–रिवाजों और प्रचलित सामाजिक परम्पराओं का सम्मान करेगा।

---

[10] – देखें अधिनियम की धारा 8

6. सपरिषद् गवर्नर जनरल को अधिनियम द्वारा प्रान्तीय न्यायालय तथा परिषदों के लिये आवश्यकतानुसार विनियम बनाने का अधिकार [11]प्रदान किया गया।
7. अधिनियम द्वारा कम्पनी के न्यायाधीशों और विधि अधिकारियों को उनके कर्तव्य –निर्वहन में सुरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण उपाय किये गये।

3. पिट्स इन्डिया ऐक्ट 1784

यद्यपि सन् 1781 के अधिनियम द्वारा रेग्यूलेटिंग ऐक्ट में व्याप्त दोषों को दूर करने का प्रयास किया गया था, किन्तु इसे आशातीत सफलता न मिली। पिट जब सत्ता में आये तो उन्होने अनुभव किया कि ईस्ट इन्डिया कंपनी का भारत पर अनियन्त्रित प्रशासनाधिकार न तो इंग्लैण्ड के हित में था और न भारतीयों के हित में। कंपनी की सरकार पर ब्रिटिश संसद का शिकंजा कसना अनिवार्य सा हो गया था। पिट्स इन्डिया ऐक्ट इसी आवश्यकता की पूर्ति करता था। इसके महत्वपूर्ण उपबन्ध निम्न थे –

1. एक छः सदस्यों वाले आयुक्त मण्डल की स्थापना की गई, जिसे नियंत्रण मण्डल कहा जाता था।[12]
2. भारत के गवर्नर जनरल की नियुक्ति इस नियंत्रण मण्डल द्वारा की जाने लगी।
3. बम्बई तथा मद्रास के गवर्नरों को गवर्नर जनरल के आदेशों के पालन के लिए बाध्य कर दिया गया।
4. नियंत्रण मण्डल को कंपनी और भारतीय प्रशासन से सम्बन्धित सम्पूर्ण पत्राचार एवं अभिलेखों के निरीक्षण का अधिकार दिया गया ।
5. ब्रिटिश संसद की अनुमति के बिना भारत के गवर्नर जनरल को युद्ध और संन्धि का कोई अधिकार नहीं रहा।
6. इंग्लैण्ड में 13 सदस्यों का एक न्यायालय स्थापित किया गया जिसमें भारत में हुए भारी अपराधों का मुकदमा चलाया जा सके।
7. गवर्नर जनरल के परिषद् की सदस्य संख्या चार से घटाकर तीन कर दी गई। भारत में कंपनी की सेना के कमाण्डर इन चीफ को परिषद् का सदस्य नियुक्त किया गया जो गवर्नर जनरल के बाद दूसरा महत्वपूर्ण सदस्य था।[13]

---

[11] – देखें अधिनियम की धारा 23

[12] – इसका पूरा नाम था "कमिश्नर फोर द अफेयर्स ऑफ इण्डिया। इसके छः सदस्य होते थे– इंग्लैण्ड का वित्त मंत्री भारत सचिव तथा सम्राट द्वारा नियुक्त चार प्रिवी परिषद् के सदस्य।

[13] – देखें अधिनियम की धारा 18

8. सम्राट अथवा कंपनी के किसी कर्मचारी द्वारा देशी राजाओं से किसी भी प्रकार का भेंट अथवा धन स्वीकार करने को उद्दापन का अपराध घोषित किया गया जो कि दण्डनीय अपराध था।[14]

4. चार्टर ऐक्ट 1793

चार्टर ऐक्ट 1793 द्वारा पूर्वी देशों के साथ कंपनी के व्यापारिक एकाधिकार में 20 वर्ष की वृद्धि कर दी गई। साथ ही इसके द्वारा यह भी व्यवस्था की गई कि नियंत्रण बोर्ड के सदस्यों तथा उनके अधीनस्थ सेवकों को पूर्णतः भारतीय राजस्व से वेतन दिया जायेगा।[15] गवर्नर जनरल को अपनी अनुपस्थिति में कार्य करने के लिये अपनी परिषद् के सदस्यों में से उपाध्यक्ष नियुक्त करने का अधिकार दिया गया।[16] सेनापति अब गवर्नर जनरल की परिषद् का सदस्य तभी हो सकता था जबकि उसे निदेशक मण्डल द्वारा विशेष रूप से सदस्य नियुक्त किया गया हो। गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों की परिषदों के सदस्यों के लिये यह अनिवार्य कर दिया गया कि नियुक्ति के समय उन्होने कम से कम 12 वर्ष भारत में व्यतीत किये हों। कलकत्ता के उच्चतम् न्यायालय की नावाधिकरण विषयक अधिकारिता को महासमुद्रों तक बढ़ा दिया गया।

5. चार्टर ऐक्ट 1813

सन् 1813 के अधिनियम के द्वारा ईस्ट इण्डिया कंपनी के व्यापार आज्ञा पत्र का 20 वर्षों के लिये नवीनकरण कर दिया गया किन्तु भारत के साथ कंपनी के व्यापार एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया। भारत में सामान्य व्यापार समस्त ब्रिटिश व्यापारियों के लिये खोल दिया गया जबकि चीन के साथ व्यापार तथा चाय के व्यापार में कंपनी का एकाधिकार यथावत् रखा गया। कंपनी द्वारा अर्जित भारतीय प्रदेशों पर ब्रिटिश सम्राट की प्रभुसत्ता की स्पष्ट घोषणा की गई।[17] इसके अतिरिक्त इस अधिनियम के कुछ अन्य महत्वपूर्ण उपबन्ध निम्न थे –

---

[14] – देखें अधिनियम की धारा 44

[15] – 1784 के अधिनियम के अन्तर्गत नियंत्रण बोर्ड के सदस्यों के लिये वेतन देने का कोई उपबन्ध नहीं था।

[16] – देखें की अधिनियम की धारा 53

[17] – देखें अधिनियम की धारा 95

1. चार्टर एक्ट 1813 द्वारा कंपनी के राजस्व का विनियमन किया गया तथा यह उपबन्धित किया गया कि राजस्व व्यय सर्वप्रथम सेना पर, फिर व्याज भुगतान पर और तीसरे नागरिक एवं व्यावसायिक प्रतिष्ठानों की व्यवस्था पर किया जायेगा।
2. कंपनी अधिक से अधिक 29,000 सैनिक रख सकती थी जिसकी व्यवस्था भारतीय राजस्व से की जानी थी। इसके अलावा विशेष आवश्यकता पर ब्रिटिश राजसत्ता 20,000 सैनिक कंपनी के व्यय पर भारत भेज सकती थी।
3. भारतीय विद्वानोंको प्रोत्साहन देने, भारत में धार्मिक शिक्षा, साहित्य एवं विज्ञान के प्रसार एवं पुनरूत्थान के लिये प्रतिवर्ष एक लाख रूपये व्यय करने का प्रावधान किया गया।
4. भारत में अंग्रेजों के धार्मिक हितों की रक्षा के लिये एक विशेष तथा तीन अन्य पादरियों की नियुक्ति की गई।
5. कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास की सरकारों की विधायी शक्ति में वृद्धि की गई।

6. 1833 का अधिनियम

1833 के अधिनियम द्वारा 1813 के अधिनियम में व्याप्त दोषों का निराकरण करते हुये आगामी 20 वर्षों के लिये भारत के शासन की बागडोर कंपनी को सौंप दी गई। इसके प्रमुख उपबन्ध निम्नलिखित थे–

1. इस अधिनियम द्वारा कंपनी के चीन के साथ व्यापारिक एकाधिकार को भी समाप्त कर दिया गया।
2. नियंत्रण मण्डल के अध्यक्ष को भारतीय मामलों का मंत्री बना दिया गया। अध्यक्ष के सहयोगी सदस्यों का पद समाप्त कर उनके स्थान पर दो सहायक कमिश्नरों की नियुक्ति की गई।
3. यूरोपियनों को भारत जाने, कंपनी द्वारा अधिगृहीत प्रदेशों में निवास करने, सम्पत्ति अर्जित करने और व्यापार करने की छूट दी गई।
4. गवर्नर जनरल की परिषद् में विधायी कार्यों के लिये एक विधि सदस्य की नियुक्ति की गई।
5. बंगाल के गवर्नर जनरल को भारत का गवर्नर जनरल घोषित किया गया।
6. मद्रास एवं बम्बई के सपरिषद् गवर्नरों के विधायी अधिकार समाप्त कर दिये गये।

7. इस अधिनियम द्वारा भारतीय कानूनों के समेकन एवं संहिताकरण का उपबन्ध किया गया।
8. अधिनियम द्वारा तीनों प्रेसीडेन्सियों में तीन बड़े पादरियों की नियुक्ति का प्रावधान किया गया और कलकत्ता के पादरी को भारत का मेट्रोपोलिटन पादरी बना दिया गया।

7. 1853 का चार्टर

1853 में कंपनी के चार्टर के नवीनीकरण व भारतीय शासन में कतिपय सुधारों को समाहित करने के उद्देश्य से 1853 का चार्टर बना। संवैधानिक विकास से सन्दर्भित इस चार्टर की महत्वपूर्ण विशेषतायें निम्न थीं –

1. भारत में सम्पूर्ण भारतीय प्रशासन के लिये गवर्नर जनरल को उत्तरदायी बनाया गया और उसके कार्यभार में कमी लाने के उद्देश्य से बंगाल प्रेसीडन्सियों के लिये एक पृथक गवर्नर नियुक्त किये जाने की व्यवस्था की गई।[18]
2. 1833 के चार्टर द्वारा गवर्नर जनरल की परिषद् में नियुक्त विधि सदस्य को परिषद् का पूर्ण सदस्य बना दिया गया।
3. भारत के लिये सर्वप्रथम एक विधान परिषद् की स्थापना की गई। इस परिषद् की संरचना निम्न सदस्यों से मिलकर पूर्ण होती थी –

   (क) गवर्नर जनरल

   (ख) प्रधान सेनापति

   (ग) गवर्नर जनरल की परिषद् के चार पूर्व सदस्य

   (घ) कलकत्ता उच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश

   (च) कलकत्ता उच्च न्यायालय का एक सहायक न्यायाधीश

   (छ) चार सदस्य मद्रास, बम्बई, बंगाल और आगरा की सरकारों के वरिष्ठ अधिकारी।

---

[18] – देखें चार्टर की धारा 13

1858 के बाद का राजनीतिक विकास

1. 1858 का अधिनियम

भारतीय संविधान के विकास की महत्वपूर्ण कड़ी 1858 के अधिनियम से प्रारम्भ होती है, जब 1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम के बाद ब्रिटिश 'क्राउन' भारत में कंपनी का राज समाप्त करने व शासन के सूत्र अपने हाथ में लेने के लिये विवश हो जाता है। इस अधिनियम के द्वारा भारत में कंपनी के शासन का अन्त कर दिया गया, इसके नियंत्रण मण्डल व निदेशक मण्डल दोनों भंग कर दिये गये और उनके सर्म्पूण अधिकार इंग्लैण्ड के एक प्रमुख राज्य मंत्री को हस्तान्तरित कर दिये गये जिसे भारत सचिव का नाम दिया गया।[19] इस अधिनियम के द्वारा भारत सचिव के सहायतार्थ एक 15 सदस्यीय भारत परिषद् का गठन किया गया। भारत सचिव ही इस परिषद् का सभापति होता था। भारत के गवर्नर जनरल तथा प्रान्तीय सरकार के गवर्नरों की नियुक्ति का अधिकार 'क्राउन' में निहित कर दिया गया। कंपनी की सेना के तीनों अंग क्राउन के अधीन कर दिये गये।

8. भारतीय परिषद् अधिनियम 1861

भारतीय शासन में लोक प्रतिनिधित्व के तत्व के समावेशन हेतु ब्रिटिश संसद ने 1861 का भारतीय परिषद् अधिनियम पारित किया किन्तु इस अधिनियम में इस तत्व का चुटकी भर समावेश किया गया था।[20] इस अधिनियम की खास बात यह थी कि गवर्नर जनरल की कार्यकारी परिषद् जब विधायी कार्य करेगी तब इसमें शासकीय सदस्यों के साथ –साथ कुछ अशासकीय सदस्य भी सम्मिलित किये जायेंगे और इस परिषद् में कम से कम छः और अधिक से अधिक बारह सदस्य होंगे। किन्तु इस परिषद् को सीमित विधायी अधिकार ही प्राप्त थे। कुछ विषयों पर इसमें प्रस्ताव रखने के लिये गवर्नर जनरल की पूर्वानुमति अनिवार्य था। गवर्नर जनरल परिषद् के किसी भी प्रस्ताव को अस्वीकार कर सकता था। इसके अतिरिक्त 'क्राउन' सपरिषद्–गवर्नर जनरल के किसी भी अधिनियम को सामान्य घोषित कर सकता था।

---

[19] – सर वुड प्रथम भारत सचिव थे।

[20] – डा0 दुर्गा दास बसू, भारत का संविधान एक परिचय, प्रेंस्टिस हाल ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 1999, पृ0 4

इस अधिनियम के द्वारा इसी प्रकार प्रान्तीय परिषदों को भी विधायी अधिकार प्रदान किये गये थे किन्तु यहाँ भी अनेक विषयों पर प्रस्ताव लाने हेतु गवर्नर जनरल की पूर्वानुमति अनिवार्य थी। प्रान्तों की परिषदों का भी विस्तार किया गया था।

3. भारतीय उच्च न्यायालय अधिनियम 1861

6 अगस्त 1861 को ब्रिटिश संसद द्वारा पारित यह अधिनियम भारत में उच्च न्यायालयों की व्यवस्था से सम्बन्धित था। यह अधिनियम भारत में विद्यमान दो परस्पर विरोधी अधिकारिताओं वाले न्यायालयों को समाप्त कर एक व्यवस्थित न्याय प्रशासन को जन्म देता है।[21]

4. भारतीय परिषद् अधिनियम 1892

भारतीय परिषद् अधिनियम 1892 का मुख्य उद्देश्य भारत में सरकार के कार्यों के आधार को विस्तारित करना था। इसके महत्वपूर्ण उपबन्ध निम्न थे –

1. गवर्नर जनरल की परिषद् में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या कम से कम दस तथा अधिक से अधिक सोलह कर दी गई। इसी प्रकार मद्रास तथा बम्बई की विधान परिषदों की संख्या न्यूनतम् आठ और अधिकतम बीस कर दी गई।
2. अधिनियम ने कुछ प्रतिबन्धों के साथ सदस्यों को वित्तीय विवरण पर चर्चा करने का अधिकार दिया।
3. कुछ प्रतिबन्धों के साथ केन्द्रीय एवं प्रान्तीय परिषदों को सार्वजनिक विषयों पर प्रश्न पूछने का अधिकार मिला।[22]
4. प्रान्तीय विधान परिषदों की विधायी शक्ति का विस्तार किया गया।

5. भारतीय परिषद् अधिनियम 1909 ;मार्ले–मिन्टों सुधारद्ध

मोर्ले–मिन्टो सुधार द्वारा भारतीय शासन में प्रातिनिधिक और निर्वाचित तत्व का समावेश करने का पहला प्रयत्न किया गया। यह नामकरण तत्कालीन भारत सचिव मार्ले और वायसराय मिन्टों के काम से हुआ। इसे भारतीय परिषद अधिनियम 1909 के रूप में लागू किया गया। इस अधिनियम द्वारा केन्द्रीय सर्वोच्च परिषद् के अतिरिक्त सदस्यों की

---

[21] – परस्पर विरोधी अधिकारिता करने वाले न्यायालय थ – कंपनी के न्यायालय दूसरे साम्राज्ञी के न्यायालय।
[22] – भारतीय परिषद् अधिनियम, 1892, धारा – 2

संख्या 16 से बढ़ाकर 60 कर दी गई जिससे परिषद् की कुल सदस्य संख्या 69 हो गई। इनमें 32 गैर सरकारी सदस्य थे और 37 सरकारी सदस्य। 37 सरकारी सदस्यों में से 28 गवर्नर जनरल द्वारा मनोनीत और शेष 27 निर्वाचित होते थे। निर्वाचित सदस्यों के विभिन्न वर्गों, हितों और श्रेणियों के आधार पर लिये जाने की व्यवस्था थी।

सर्वोच्च विधान परिषद् की भांति 1909 के अधिनियम द्वारा प्रान्तीय विधान परिषदों की सदस्य संख्या में प्रभावशाली वृद्धि की गई। विधान परिषदों के विचार विमर्श के कार्यो में भी इस अधिनियम द्वारा वृद्धि हुई। इससे उन्हें यह अवसर दिया गया कि वे बजट या लोकहित के किसी विषय पर संकल्प प्रस्तावित करके प्रशासन की नीति पर प्रभाव डाल सके। कुछ विनिर्दिष्ट विषय इसके बाहर थे जैसे सशक्त बल, विदेश मामले व देशी रियासतें।

इस अधिनियम द्वारा अपनाई गई निर्वाचन प्रणाली दोषपूर्ण थी। इसमें पहली बार साम्प्रदायिक आधार पर मुस्लिम समुदाय के लिये अलग प्रतिनिधित्व का उपबन्ध किया गया जो कालान्तर में भारत में पृथकतावाद के प्रोत्साहन का एक महत्वपूर्ण कारण बना।

6. भारत शासन अधिनियम 1919

मार्ले–मिन्टों सुधार भारतीयों के आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर सका। इस कमी में सुधार के उद्देश्य से तत्कालीन भारत सचिव माण्टेग्यू व वायसराय चेम्सफोर्ड के प्रतिवेदनों के आधार पर ब्रिटिश संसद ने एक नया अधिनियम पारित किया जिसे भारतीय शासन अधिनियम 1919 के नाम से जाना गया। इस अधिनियम की प्रमुख व्यवस्थायें निम्न थीं –

1. प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना का प्रयास किया गया किन्तु प्रशासन पर गवर्नर का उत्तरदायित्व व वर्चस्व बनाये रखा गया। इसके लिये "द्वैध शासन" की पद्धति अपनाई गई शासन के प्रान्तीय विषयों को आरक्षित और हस्तान्तरित–दो भागों में बाँटा गया। आरक्षित विषयों पर प्रशासन गवर्नर और उसकी कार्यकारिणी परिषद् द्वारा किया जाना था व हस्तान्तरित विषयों पर शासन गवर्नर द्वारा शासन के प्रति उत्तरदायी मन्त्रियों की सहायता से किया जाना था।
2. विधान परिषद् में निर्वाचित सदस्यों का अनुपात बढ़ाकर 70 कर दिया गया।
3. इस अधिनियम के द्वारा प्रशासन के विषयों का दो प्रवर्गों में विभाजन किया गया– केन्द्रीय और प्रान्तीय। स्थूल रूप में, अखिल, भारतीय महत्व के विषयों को केन्द्रीय प्रवर्ग में रखा गया और प्राथमिक रूप से प्रान्तों के प्रशासन से सम्बन्धित विषयों

को प्रान्तीय वर्ग में रखा गया। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रान्तों पर पूर्ववर्ती केन्द्रीय नियंत्रण प्रशासनिक, विधायी और वित्तीय विषयों में शिथिल हो गया। किन्तु प्रान्तों के शक्तियों के न्यागमन को परिसंघ में शक्ति का वितरण समझना भूल होगी क्योंकि 1919 के अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तों की शक्ति केन्द्र से प्रत्यायोजित होती थी।[23] केन्द्रीय विधान मण्डल को सम्पूर्ण भारत के लिये किसी भी विषय से सम्बन्धित विधान बनाने की शक्ति थी।

4. प्रान्तीय व्यवस्थापन पर गवर्नर जनरल के नियंत्रण को बनाये रखने के लिये यह व्यवस्था की गई कि कोई भी प्रान्तीय विधेयक चाहे उसे गवर्नर की अनुमति मिल गई हो तो भी, तब तक कानून नहीं बनेगा जब तक कि उसे गवर्नर जनरल की अनुमति न मिल जाये।
5. केन्द्र में उत्तरदायी सरकार की स्थापना नहीं की गई। सपरिषद् गवर्नर जनरल भारत सचिव के माध्यम से ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी बना रहा।
6. भारतीय विधान मण्डल को अपेक्षाकृत अधिक प्रातिनिधिक बनाया गया और पहली बार द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की व्यवस्था की गई। उच्च सदन में जिसे राज्य परिषद् का नाम दिया गया, साठ सदस्य होते थे जिनमें 34 निर्वाचित थे। निचले सदन की कुल सदस्य संख्या 144 थी। जिसमें से 104 निर्वाचित होते थें और इसे विधान सभा नाम दिया गया।

1919 का यह अधिनियम भी भारतीय आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं कर सका। द्वैधशासन की व्यवस्था से प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना के दावे की पोल खुलती थी। केन्द्र में उत्तरदायी शासन की स्थापना की व्यवस्था ही नहीं की गई।

भारत शासन अधिनियम 1935

तृतीय गोलमेज सम्मेलन के समापन के पश्चात ब्रिटिश सरकार ने मार्च 1933 में भारतीय संवैधानिक सुधार से सम्बन्धित एक श्वेत पत्र प्रकाशित किया। इस श्वेत पत्र पर विचार करने के लिये लिनलिथगों की अध्यक्षता में ब्रिटिश संसद की एक संयुक्त समिति गठित की गई। इस समिति ने 22 नवम्बर 1934 को बहुमत से अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। इस रिपोर्ट के आधार पर सर सैमुसल होर द्वारा 19 दिसम्बर 1934 को भारत शासन

[23] – बासू, दुर्गादास, भारत का संविधान एक परिचय, 1999, पृ0 6

विधेयक ब्रिटिश संसद में प्रस्तुत किया गया। ब्रिटिश संसद ने इसे बहुमत से पारित कर दिया। यह विधेयक भारत शासन अधिनियम 1935 के नाम से विख्यात हुआ। इसकी प्रमुख विशेषतायें निम्न थीं –

1. इस अधिनियम द्वारा मुसलमानों के लिये पृथक प्रतिनिधित्व के अतिरिक्त सिक्खों, यूरोपीय, दलितों, ईसाइयों और एंग्लो–इण्डियन लोगों के लिये भी पृथक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई।[24]
2. इस अधिनियम द्वारा संघात्मक शासन की स्थापना की गई जिसमें संघटक इकाइयाँ प्रान्त और देशी रियासतों के लिये संघ में सम्मिलित होने विकल्प का था, किन्तु देशी रियासतों के शासकों ने अपनी सहमति नहीं दी थी। इसलिए 1935 के अधिनियम में जिस संघात्मक शासन की व्यवस्था थी वह कभी नहीं बन सकी।
3. इस अधिनियम के द्वारा एक परिसंघीय न्यायालय की स्थापना का प्रस्ताव था। इसके निर्णयों के विरूद्ध प्रिवी कौसिंल में अपील की जा सकती थी।
4. संघात्मक व्यवस्था के अनुरूप इस अधिनियम द्वारा केन्द्र और इकाईयों के बीच शक्तियों का बंटवारा किया गया था। सम्पूर्ण विधायी विषयों को केन्द्रीय सूची, प्रान्तीय सूची और समवर्ती सूची में विभाजित किया गया। केन्द्रीय सूची में 59 विषय, प्रान्तीय सूची में 54 और समवर्ती सूची में 36 विषय थे। सामान्य सिद्धान्त के रूप में केन्द्रीय विधान मण्डल ब्रिटिश भारत अथवा उसके किसी भाग अथवा किसी परिसंघ राज्य के लिये कानून बनाने के लिये सशक्त था और प्रान्तीय विधान मण्डल संबंधित प्रान्त अथवा उसके किसी भाग के लिये विधायन कर सकता था। समवर्ती सूची में प्रगणित विषयों पर परिसंघ और प्रत्येक प्रान्तीय विधायिका को विधायन का अधिकार था। अवशिष्ट शक्तियॉ गवर्नर जनरल में निहित थी जो स्वविवेक से केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय विधान मण्डलों को अवशिष्ट विषयों पर कानून बनानें के लिये प्राधिकृत कर सकता था।
5. 1935 के अधिनियम द्वारा केन्द्र में द्वैध शासन स्थापित किया गया था। केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति गवर्नर जनरल में निहित थी। जिसके कार्यों को दो समूहों में बाँटा गया था –

[24] – 1935 के अधिनियम की प्रथम अनुसूची।

(क) प्रतिरक्षा, विदेश कार्य, चर्च और जनजातीय क्षेत्रों का प्रशासन गवर्नर जनरल को स्वविवेकानुसार और अपने द्वारा नियुक्त परामर्शदाताओं की सहायता से करना था। ये परामर्शदाता विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी थे।

(ख) आरक्षित विषयों से भिन्न विषयों के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल को मन्त्रि परिषद् की सलाह से कार्य करना था। मन्त्रि परिषद् विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी थी, किन्तु इन विषयों पर भी गवर्नर जनरल का विशेष उत्तरदायित्व निहित था। विशेष उत्तरदायित्व के सम्बन्ध में गवर्नर जनरल, भारत सचिव के नियंत्रण और निर्देश के अधीन कार्य करता था।

6. भारत शासन अधिनियम 1935 की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता प्रान्तीय स्वायत्तता अथवा प्रान्तों में पूर्ण स्वायत्त शासन की स्थापना थी। इस अधिनियम द्वारा 1919 के अधिनियम द्वारा पुनः स्थापित द्वैध शासन की व्यवस्था समाप्त कर दी गई।
7. 1935 के अधिनियम द्वारा भारत परिषद् को विघटित कर दिया गया। यह उपबन्धित किया गया कि भारत सचिव अथवा सपरिषद् भारत सचिव द्वारा प्रयोक्तव्य कोई भी अधिकार प्राधिकार एवं अधिकारिता ब्रिटिश सम्राट में निहित होगी।

1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन के बाद यह स्पष्ट हो गया कि अब भारत को पराधीन नहीं रखा जा सकता है फिर भी अंग्रेज अन्तिम क्षण तक देश में अपनी सत्ता बनाये रखने के लिये कृत संकल्प थे। इस परिप्रेक्ष्य में ब्रिटिश सरकार ने भारत के लिये विभिन्न संवैधानिक सुधारों की योजनायें प्रस्तावित कीं जैसे, अगस्त योजना 1940, क्रिप्स प्रस्ताव योजना 1942, वेवेल योजना 1945 कैबिनेट मिशन योजना 1946 और माउण्टबेटन योजना 1947। अन्ततः ब्रिटिश संसद द्वारा माउण्टबेटन योजना के अनुसार 1947 में भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम द्वारा भारत का विभाजन कर भारत और पाकिस्तान के रूप में दी स्वतन्त्र राज्यों की स्थापना की गई।

संविधान सभा और भारतीय संविधान का निर्माण

कैबिनेट मिशन और लार्ड वेवेल के 16 मई, 1946 को दिये गये संयुक्त वक्तव्य में भारत के लिये संविधान निर्मात्री सभा का स्पष्ट चित्र पेश किया गया था। कैबिनेट मिशन की सिफारिशों के अनुसार संविधान सभा की कुल सदस्य संख्या 389 होनी थी। इन

सदस्यों मे से 292 ब्रिटिश भारत के ग्यारह गवर्नरों के प्रान्तों से चुने जाने थे और 93 देशी रियासतों के प्रतिनिधियों की व्यवस्था थी। ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों में चार प्रतिनिधि मुख्य आयुक्तों के प्रान्तों के होने थे, इस प्रकार संविधान सभा में ब्रिटिश भारत के कुल प्रतिनिधियों की संख्या 296 होनी थी।

कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार संविधान सभा के 296 सदस्यों के चुनाव जुलाई–अगस्त 1946 में सम्पन्न हुए। कांग्रेस ने इस चुनाव में कुल 208 स्थानों पर विजय प्राप्त की। 19 दिसम्बर 1946 को विधान सभा का विधिवत् उद्‌घाटन हुआ। मुस्लिम लीग ने, जिसने कैबिनेट मिशन योजना को पहले तो स्वीकार किया किन्तु बाद में ठुकरा दिया, संविधान सभा का बहिष्कार किया। संविधान सभा की पहली बैठक में 207 सदस्यों ने भाग लिया और बिहार के वयोवृद्ध राजनेता सच्चिदानन्द सिन्हा इसके अस्थायी अध्यक्ष बने।

3 जून 1947 की भारत विभाजन योजना के अन्तर्गत पाकिस्तान के लिये एक पृथक संविधान सभा गठित की गई। निर्धारित पाकिस्तान के क्षेत्र के प्रतिनिधियों के संविधान सभा से अलग हो जाने के कारण 31 अक्टूबर 1947 को संविधान सभा जब पुनः समवेत हुई तो सभा की सदस्य संख्या घटकर 299 रह गई। प्रस्तावित संविधान के प्रमुख सिद्धान्तों की रूपरेखा तैयार करने के लिये प्रमुख समितियों का गठन किया गया।[25] 29 अगस्त 1947 को संविधान निर्माण के लिये एक प्रारूप समिति का गठन किया गया जिसके अध्यक्ष डा0 भीमराव अम्बेडकर थे। इस समिति ने 30 अगस्त 1947 से प्रारम्भ 714 बैठकों में संविधान के विभिन्न उपबन्धों की रचना की और प्रारूप संविधान फरवरी 1948 को संविधान सभा के अध्यक्ष को प्रस्तुत किया। प्रारूप संविधान के प्रकाशित होने के बाद उसमें संशोधन के लिये आये सुझावों पर विचार विमर्श किया गया और 26 अक्टूबर 1948 को प्रारूप संविधान का एक पुनमुर्द्रित संस्करण संविधान सभा के अध्यक्ष को दिया गया। डा0 अम्बेडकर ने 4 नवम्बर 1948 को संविधान का प्रारूप संविधान सभा के विचारार्थ प्रस्तुत किया।

---

[25] – संविधान सभा की महत्वपूर्ण समितियां थीं –

(I) संघ शक्ति समिति – सदस्य संख्या 9, अध्यक्ष – पं0 जवाहर लाल नेहरू
(II) मूल अधिकार और अल्पसंख्यक समिति – सदस्य संख्या 54, अध्यक्ष – सरदार वल्लभ भाई पटेल
(III) कार्य संचालन समिति – सदस्य संख्या 3, अध्यक्ष – के0 एम0 मुंशी
(IV) प्रान्तीय संविधान समिति – सदस्य संख्या 25, अध्यक्ष – सरदार वल्लभ भाई पटेल
(V) संघ संविधान समिति – सदस्य संख्या 15, अध्यक्ष पं0 जवाहर लाल नेहरू

15 नवम्बर 1948 से प्रारूप संविधान पर धारावार विचार प्रारम्भ हुआ जो संविधान सभा के सातवें, आठवें, नौवें और दसवें अधिवेशनों में 17 अक्टूबर 1949 तक चलता रहा। 16 नम्बर 1949 को संविधान का द्वितीय वाचन हुआ और अगले ही दिन संविधान का तीसरा वाचना प्रारम्भ हुआ। जो 26 नवम्बर 1949 को समाप्त हुआ। इसी दिन संविधान पर संविधान सभा के सदस्यों के हस्ताक्षर हुए और संविधान पारित घोषित कर दिया गया। नागरिकता, निर्वाचन और अन्तरिम संसद से सम्बन्धित उपबन्ध तथा अस्थायी और संक्रमणकारी उपबन्ध तत्काल प्रभाव से प्रभावी हो गये। शेष संविधान 26 जनवरी 1950 से लागू किया गया और इस प्रकार भारतीय गणतन्त्र के शासन का संचालन इस संविधान के प्रावधानों के आधार पर प्रारम्भ हुआ।

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था का स्वरूप

जब हम राजनीतिक व्यवस्था की ओर संकेत करते हैं, तो एक व्यापक अवधारणा की ओर संकेत होता है। जिसमें सभी प्रकार की औपचारिक, अनौपचारिक प्रक्रियायें, अन्तः क्रियायें, प्रकार्य, संरचनायें, मूल्य आदि सम्मिलित होते हैं। राजनीतिक व्यवस्था, सामान्यतः व्यवस्थाओं की सीमाओं के पार, पर्यावरण से तथा परस्पर अन्तःक्रिया करने वाली उन संरचनाओं, प्रक्रियाओं तथा संस्थाओं का समुच्चीकरण है जिसे राजनीतिक अन्तःक्रियाओं की इकाई या व्यवस्था कहा जा सकता है। इस व्यवस्था का निर्माण सार्वजनिक जीवन में भाग लेने वाले उन व्यक्तियों की क्रियाओं द्वारा होता है जो समाज के लिये नीति के निर्माण तथा उसके क्रियान्वयन से किसी प्रकार सम्बद्ध हों। जब हम भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की बात करते हैं तब उसका आशय होता है कि शासन का स्वरूप क्या है, उद्देश्य क्या है, नीति निर्माण की प्रक्रिया क्या है, कौन–कौन से तत्व इस प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं, राज व्यवस्था में जन सहभागिता का स्तर क्या है और जनता के मूल्य दृष्टिकोण और चरित्र का स्वरूप क्या है? इन सन्दर्भो में जब हम भारतीय राज–व्यवस्था पर दृष्टि डालते हैं तो उसके स्वरूप के सन्दर्भ में निम्न प्रमुख तत्व स्पष्ट होते हैं –

1. संसदीय शासन

भारत में ब्रिटिश संसदीय परम्पराओं के आधार पर संसदीय शासन प्रणाली को अपनाया गया है। इसके अन्तर्गत संघीय संसद है जिसमें राष्ट्रपति और दो सदन–लोकसभा व राज्य सभा है। इनमें लोकसभा को वित्तीय मामलों में सर्वोच्चता प्राप्त

है। संघ की वास्तविक कार्यपालिका (मन्त्रिपरिषद्) की नियुक्ति दोनों सदनों के सदस्यों से होती है। किन्तु यह कार्यपालिका सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होती है। आम चुनावों में लोकसभा में बहुमत प्राप्त दल, अथवा गुट को ही सरकार बनाने के लिये आमन्त्रित किया जाता है और यह कार्यपालिका लोकसभा के विश्वास पर्यन्त ही अपने पद बनी रह सकती है। भारत का राष्ट्राध्यक्ष राष्ट्रपति होता है जो संवैधानिक रूप से मन्त्रिमण्डल की सहायता तथा परामर्श से कार्य करता है किन्तु वास्तव में, संसदीय परम्पराओं के अनुसार निर्णय व शासन कार्य मन्त्रिमण्डल द्वारा लिये जाते हैं। राष्ट्रपति केवल नाममात्र की कार्यपालिका है। भारत में संसद की प्रभुता नहीं है इसकी शक्तियां ब्रिटिश संसद की तरह असीम और अनियंत्रित नहीं हैं। यह लिखित संविधान की सीमाओं के अन्तर्गत कार्य करती है। इन सब सीमाओं के कारण संसद के अधिकार तथा क्षैत्राधिकार का स्वरूप तथा विस्तार सीमित हो जाता है।[26]

2. एकात्मकता की ओर झुकी संघात्मक व्यवस्था

भारत में संघात्मक व्यवस्था की स्थापना की गई है किन्तु इसे "Fedration" न कह कर संविधान के अनुच्छेद 1 (I) में Union कहा गया है। डा0 अम्बेडकर ने संविधान का प्रारूप प्रस्तुत करते हुए संविधान सभा में कहा था, "आप देखेगें कि प्रारूप समिति ने "Federation" के स्थान पर "Union" शब्द का प्रयोग किया है। यद्यपि नाम का कोई विशेष महत्व नहीं है, फिर भी समिति ने 1867 के ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम की प्रस्तावना की भाषा को आधार बनाया है और समिति का यह विचार है कि भारत को "यूनियन" कहना अधिक उपयुक्त होगा, यद्यपि भारत के संविधान का स्वरूप संघीय ही हो सकता है।"[27] डा0 अम्बेडकर ने संविधान सभा में स्पष्ट किया था कि "यूनियन" शब्द के प्रयोग के दो लाभ हैं–(1) भारत का संघ इकाईयों के बीच किसी समझौते का परिणाम नहीं है, व (2) संघटक इकाईयों को उससे अलग होने का अधिकार नहीं है।

वस्तुतः भारतीय संविधान निर्माता एक ऐसी संघात्मक व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जो केन्द्रीकृत प्रवृत्ति की ओर झुकी है। ऐसा तत्कालीन परिस्थितियों में राष्ट्रीय एकता व अखण्डता की आवश्यकता थी। यही कारण है कि भारतीय संविधान में

[26] – कौल एवं शंकधर, "प्रणाली तथा व्यवहार", 1972 पृ0 1–3

[27] – ड्राफ्ट कान्स्टीट्यूशन, 21.02.1948 पृ0 ट५ (वस्तुतः यूनियन शब्द का प्रयोग क्रिया प्रस्ताव और कैबिनेट मिशन योजना दोनो में दिया गया था।

संघात्मक व्यवस्था एकात्मकता की ओर प्रवृत्त है। शक्तियों के विभाजन में केन्द्र को अधिक व महत्वपूर्ण शक्तियां दिया जाना, समवर्ती सूची पर केन्द्र की प्रधानता, राज्यों में राज्यपालों का केन्द्र के एजेन्ट के रूप में कार्य करना, आपातकाल में संघात्मक स्वरूप का एकात्मक हो जाना, राज्यों को केन्द्र के अनुदान पर निर्भर रहना, दोहरे संविधान व नागरिकता का न होना आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं जो इस बात की पुष्टि करते हैं।

जब तक कांग्रेस की सरकारें केन्द्र और राज्यों में रहीं संघात्मक व्यवस्था एकात्मक व्यवस्था की तरह कार्य करती रही। किन्तु 1967 के बाद जब राज्यों में क्षेत्रीय अथवा राज्य स्तरीय दलों की सरकारें बननें लगीं तब राज्य अधिक स्वायत्तता की मांग करने लगे। परिणाम स्वरूप मार्च 1983 में एक सदस्यीय आयोग की नियुक्ति हुई जिसके अध्यक्ष न्यायाधीश सरकारिया थे। इस आयोग ने केन्द्र राज्य सम्बन्धों में सुधार के उद्देश्य से जनवरी 1988 में अपना प्रतिवेदन दिया जिसमें केन्द्र–राज्य सम्बन्धों में सुधार के अनेक सुझाव थे। फिर यह समस्या आज भी यथावत् है। केन्द्र और राज्यों में टकराव के बिन्दु प्रायः उभरते रहते हैं। विशेष रूप से जब केन्द्र और राज्यों में अलग–अलग दलों की सरकारें हो तब यह समस्या और भी जटिल हो जाती है।

3. राजनीति पर जातिगत प्रभाव

स्वातन्त्रयेत्तर भारत में भारतीय राजनीति पर जातिगत प्रभाव बढ़ा है। जहाँ सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में जाति की शक्ति घटी है वहीं राजनीति और प्रशासन पर इसका प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। एक ओर सामाजिक आर्थिक एवं राजनीतिक कारकों ने जातियों के राजनीतिकरण को बढ़ाया है तो दूसरी ओर कतिपय संवैधानिक उपबन्ध भी राजनीति पर जाति के प्रभुत्व में सहायक हुए हैं। आज स्थिति यह है कि हमें यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि भारतीय राजनीति बहुत कुछ जातियों के इर्द गिर्द घूम रही है। कोई समाजशास्त्री भी इस बात से इन्कार नहीं करेगा कि राजनीतिक प्रक्रियाओं के सम्पन्न होने के लिये आवश्यक अवस्थायें उत्पन्न करने का कार्य जातियों के कारण ही बहुत अधिक सम्भव हो सका है। सत्ता के गलियारों तक पहुँचने के लिये जाति एक "शार्टकट" रास्ता बन गया है। राज्यों की राजनीति पर तो जाति का प्रभाव और अधिक है। कुछ राज्यों में कुछ राजनीतिक दलों का अस्तित्व ही जातियों पर आधारित है।

वर्तमान स्थिति यह है कि भारतीय राजनीति में जातीय प्रभाव ने राजनीतिक नेतृत्व के स्वरूप को भी प्रभावित किया है। भारतीय मतदाता राजनीतिक समस्याओं पर यहां तक कि राष्ट्रीय समस्याओं पर बहुत कुछ जातीय दृष्टिकोण से सोचता है। निर्वाचन में प्रत्याशियों के चयन से लेकर मन्त्रिपरिषद् के गठन तक जातिगत तत्व प्रभावी रहता है।

4. धर्म, साम्प्रदायिकता और भारतीय राजनीति

यद्यपि भारतीय संविधान की आत्मा "प्रस्तावना" में भारत को एक "धर्म निरपेक्ष" राज्य घोषित किया गया है।[28] फिर भी भारतीय राजनीति "धर्म" और "सम्प्रदाय" के तत्व से प्रभावित रही है। यह "धर्म" और "सम्प्रदाय" की राजनीति का ही परिणाम था कि भारत का विभाजन हुआ। वस्तुतः यह सूत्र अंग्रेजों ने "फूट डालो" और शासन करो की अपनी रणनीति के कारण आरोपित किया था जो स्वतन्त्रता के बाद हमारे राजनीतिक दलों के लिए "वोट बैंक" सुदृढ़ करने के कारगर उपाय के रूप में विरासत में मिल गया।

धर्म को हर क्षेत्र में नैतिकता और एकता को प्रोत्साहन देना चाहिए। किन्तु भारत में धर्मान्ध भावनाओं ने देश की राजनीतिक और सामाजिक एकता को चोट पहुँचायी है। जो धर्म संयोजक शक्ति का काम कर सकता है वही आज विभेदक शक्ति के रूप में कार्य कर रहा है। भारत में अनेक धार्मिक मतावलम्बी रहते है किन्तु भारतीय राजनीति का बहुत कुछ निर्धारण हिन्दु–मुसलमानों के तनाव के आधार पर हो रहा है। यद्यपि भारत में साम्प्रदायिक तनाव और इसी आधार पर दमन मध्यकाल से रहा है किन्तु एक "वैचारिकी और राजनीति" के रूप में यह लोकप्रिय प्रभुता लोकप्रिय सहभागिता अर्थात वयस्क मताधिकार प्रणाली के बाद में उभर कर सामने आया है।[29]

भारतीय राजनीति में धार्मिक आधार पर कुछ राजनीतिक दल व संगठनों का गठन हुआ है, जिनके अस्तित्व का आधार ही धर्म अथवा सम्प्रदाय विशेष है। किन्तु जो दल धर्मनिरपेक्ष चरित्र का दावा करते है वे भी "वोट बैक" के लिए इस आधार का दोहन करने से नहीं चूकते। वर्तमान भारतीय राजनीति में दलों के धुव्रीकरण का एक आधार भी धर्म हो गया है ।

---

[28] – भारतीय संविधान की प्रस्तावना में 'पन्थ निरपेक्ष' शब्द 42 वें संविधान संशोधन द्वारा जोड़ा गया।
[29] – अजिन रे, "इज इण्डिया पोलिटिकली पोल्यूटेड" इलाहाबाद, 1998 पृ0 162

5. भाषा की राजनीति

जाति और धर्म की राजनीति के साथ भारत मे भाषा की राजनीति भी भारतीय राजव्यवस्था को प्रभावित व आतंकित करती रही है स्वतंत्रता के बाद देश का भाषा के आधार पर पुनर्गठन किया गया। इस पुनर्गठन के बाद देश में जो दंगे हुए वे किसी भी सभ्य राष्ट् के लिए शर्म की बाति हो सकती है। बम्बई में मराठी गुजराती दंगे हुए जिसमें सैकड़ों लोग मारे गये। तेलुगू भाषा–भाषी क्षेत्र के लिए रामालु ने उपवास किये जिसके परिणामस्वरूप आन्ध्र प्रदेश का निर्माण हुआ। मास्टर तारा सिंह ने पंजाबी भाषा क्षेत्र के लिए उग्र आन्दोलन चलाया। हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने के प्रश्न पर मद्रास में दंगा–फसाद हुआ। यहाँ इन माँगों, आन्दोलनों और उपद्रवों के पीछे किसी भाषा के संरक्षण अथवा विकास की मानसिकता कम रही है, राजनीतिक लाभ का उद्देश्य अधिक रहा है।

भाषा का विवाद वस्तुतः प्रारम्भ से ही भारतीय राजनीति का एक समस्या बिन्दु रहा है। 1950 में संविधान परिषद ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा घोषित किया और यह निश्चय कियां गया कि 15 वर्षो के अन्दर स्कूलों में अंग्रेजी के बदले हिन्दी माध्यम होगा और केन्द्रीय स्तर पर भी हिन्दी का प्रयोग होने लगेगा। किन्तु इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई। 26 जनवरी 1965 को हिन्दी राष्ट्रभाषा तो बन गई किन्तु जब उसे लागू करने की बात उठी तो विरोध प्रारम्भ हो गया। तत्कालीन प्रधानमंत्री लाल बहादुर शास्त्री ने हिन्दी भाषी राज्यों के विरोध को शान्त करने के लिए यह आंश्वासन दिया कि हिन्दी को सरकारी स्तर पर लाने का यह अर्थ नहीं है कि अग्रेजी के प्रयोग को समाप्त किया जा रहा है, अहिन्दी भाषी राज्य तब तक अंग्रेजी का प्रयोग कर सकेंगे जब तक कि वे हिन्दी सम्बन्धी परिवर्तन के लिए तैयार न हो। इसके बाद 23–24 फरवरी 1965 को मुख्यमत्रियां के कए सम्मेलन एवं काग्रेस कार्यकारिणी ने दिल्ली में भाषा की समस्या पर विचार किया। मुख्यमत्रियों द्वारा सरकार से अनुरोध किया गया है कि भाषा समस्या पर विचार करते समय विभिनन राज्यों के जनता के हितों को ध्यान में रखा जाय।

इस समस्या के समाधान के लिए एक समिति का गठन किया गया जिसके सदस्य थे– अशोकसेन, चागला, सत्यनारायण सिन्हा, महावीर त्यागी, गुलजारीलाल नन्दा और पाटिल। इन्हे यह जिम्मेदारी सौपी गई कि वे राज्य भाषा कानून के लिए उचित

संशोधन की रूप रेखा तैयार करे और ऐसा करते वक्त मुख्यमंत्रियों की सिफारिशों को ध्यान में रखें।

1967 में संसद के शीतकालीन अधिवेशन में राज्यभाषा संशोधन विधेयक पारित किया गया जिसमें यह कहा गया कि हिन्दी और अहिन्दी राज्यों में हिन्दी के साथ अंग्रेजी का प्रयोग भी चलता रहे और केन्द्रीय सरकार के विभिन्न विभागों में भी यही स्थिति बनी रहे। इस विधेयक के साथ ही एक भाषा सम्बन्धी प्रस्ताव भी पारित किया गया जिसमें यह कहा गया था कि उच्च केन्द्रीय नौकरियों के लिए अंग्रेजी व हिन्दी में से किसी एक भाषा का ज्ञान अनिवार्य होगा। संध लोक सेवा आयोग की परीक्षायें अग्रेजी के अलावा संविधान द्वारा स्वीकृत अन्य किसी भी भारतीय भाषा में ली जा सकती है–19 जुलाई 1967 को भारत सरकार द्वारा यह भी धोषणा की गई कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी को हटाकर किसी भी क्षेत्रीय भाषा को बनाया जा सकता है एवं इंजीनियरिंग कृषि चिकित्सा आदि सभी पाठयक्रम इस भाषा में पढाये जा सकते है, धोषणा में कहा गया कि यह परिवर्तन पॉच वर्ष के भीतर लागू किया जा सकता है।

इस संशोधन विधेयक के पारित किये जाने के बाद भी कोई भी पक्ष सन्तुष्ट नहीं हुआ। हर तरफ भाषा के नाम पर अग्र आन्दोलन प्रारम्भ हो गये। उत्तर प्रदेश व अन्य हिन्दी भाषी राज्यों में छात्रों ने हिन्दी के समर्थन में आन्दोलन प्रारम्भ किया जिसे कुछ राजनीतिक दलों का भी समर्थन प्राप्त था। इसी प्रकार अहिन्दी भाषी विशेषकर मद्रास में हिन्दी के विरोध में उग्र आन्दोलन प्रारम्भ हो गया जिसे अन्नादुराई सरकार का पूरा समर्थन प्राप्त था। इस प्रकार भाषा भी भारतीय राजनीति में "मतदोहन का एक माध्यम बन गया।

6. क्षेत्रवाद

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप का एक अन्य निर्धारक तत्व है क्षेत्रवाद अर्थात क्षेत्रीय आधार पर व्यवस्था में अन्तःकिया। वैसे क्षेत्रवाद कोई नई धारणा अथवा प्रवृत्ति नहीं है वास्तव में यह दक्षिण एशिया की परंपरागत संस्कृति का ही एक अंग है जो 19वीं शताब्दी के पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण के दोहरे प्रभाव से परिवर्तित रूप में प्रकट हो रहा है। भारत में भी क्षेत्रवाद आकस्मिक नहीं बल्कि एक ऐतिहासिक तथ्य है।

क्षेत्रवाद को एक बहु–आयामी जटिल अवधारणा राष्ट्रवाद केअन्तर्गत निर्मित होने वाली एक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार कर सकते है।[30] यह मौलिक रूप से संघीय ढॉचे वाले देशो की समस्या है।[31] जबकि संघात्मक व्यवस्था के लोगो के द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है किन्तु क्षेत्रीय स्वायत्तता जैसी भावनायें लोगो को उकसाती रहती है। क्षेत्रीय भावनाये तब उभरती है जब भौगोलिक पृथकता, स्वतंत्र ऐतिहासिक परम्पराओं, जातीय, संस्कृतिक या धार्मिक विविधताओं और आर्थिक या वर्गीय हितों में से कोई दो या अधिक तत्व संयोजित होते है।[32]

क्षेत्रवाद के उदय के कई उद्देश्य हो सकते है किन्तु निम्न चार विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[33]

1. एक राष्ट्र के अन्तर्गत विशिष्ट पहचान रखने वाले उप सांस्कृतिक क्षेत्रों का पुनर्निर्माण और क्षेत्रीय संस्कृति की पुनःस्थापना
2. प्रशासकीय राजनीतिक और वित्तीय शक्तियों का विभाजन
3. दो या दो से अधिक उप सांस्कृतिक क्षेत्रों अथवा केन्द्र राज्यों के विवादो के समाधान के लिए उपाय खोजना और
4. राज्य और केन्द्र के बीच आर्थिक साम्यावस्था को बनाये रखना

क्षेत्रवाद के उदय एवं विकास में अनेक तत्व सहायक होते है। ये तत्व प्रायः आपस में जुडे हुए भी होते है। इसलिए यह कहना कठिन हो जाता है कि कौन सा तत्व क्षेत्रवाद को जन्म देता है और कौन इसे बढने में सहायता देता है।[34]

भारत में भी क्षेत्रवाद के उदय एवं विकास के लिए अनेक कारण उत्तरदायी रहे है। इनमें भौगोलिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक कारण, धर्मकाल व भाषा की विविधता, आर्थिक कारण प्रमुख रहे है। वास्तव में भारत जैसे महान और विविधता पूर्ण देश में अपनाई गई राजनीतिक व्यवस्था और विकास की प्रक्रिया के संदर्भ में क्षेत्रवाद एक अपरिहार्य तथ्य है। विशिष्ट परिस्थितियों के कारण राज्य की स्थापना की प्रक्रिया स्वयं ही क्षेत्रवाद की प्रक्रिया को जन्म देती है। निःसन्देह कई बार यह प्रक्रिया अत्यन्त गम्भीर दिखायी दे सकती है। आर्थिक स्रोतों की कमी और गैर जिम्मेदार राजनीतिज्ञो द्वारा

[30] - Manfu, Singh, "Regionalism and Multiple Ethricity" in "Whither India Polition" Ed. Luy. K. L. Kamal & R. P. Joshi, Jaipur, 1994, Page 88
[31] . वही, पृ0–89
[32] . वही, पृ0–88
[33] . वही, पृ0–91
[34] –इकबाल नारायण, "कल्चरल प्लूरिज्म, नेशनल इन्टीग्रेशन एण्ड डेमोक्रेसी इन इण्डिया", 1970 पृ0 190

राजनीतिक समर्थन प्राप्त करने के लिए इसका प्रयोग पृथकतावादी लक्ष्यों के लिए किया जा सकता है। पंजाब में खालिस्तान की मॉग, जम्मू–कश्मीर की आतंकी गतिविधियॉ और नागालैण्ड व मिजोरम के पृथकतावादी आन्दोलन इसके उदाहरण है। किन्तु सामान्यतया क्षेत्रवाद की भावना व प्रक्रिया पृथकतावाद कां समानार्थी नहीं थे। इसका वास्तविक सम्बन्ध क्षेत्र अथवा समुदाय विशेष के लिएअधिक से अधिक सुविधाये प्राप्त करने के लिए दबाब की राजनीति करना है। दूसरे शब्दों में इसे राजनीतिक सत्ता में भागीदारी प्राप्त करने का साधन कहा जा सकता है यही कारण है कि क्षेत्रीय आकांक्षाओं के आधार पर क्षेत्रीय दलों का उदय और विकास हुआ और वर्तमान में ये दल इतने प्रभावशाली हो गये है कि न केवल भारतीय राजनीति की दिशा निर्धारित कर रहे है बल्कि केन्द्रीय सरकार बनाने व चलाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे है।

यहॉ भारतीय राजव्यवस्था के सम्बन्ध में उन्ही तत्वों का विशेषोल्लेख किया गया है जो भारत में गठबन्धन की राजनीति के निर्धारक व निर्णायक तत्व कहे जा सकते है। इनके अतिरिक्त राजव्यवस्था की दल प्रणाली से सम्बन्धित तथ्यों का अगले अध्याय में विश्लेषण किया गया है जैसे–बहुदलीय व्यवस्था का स्वारूप, दल बदल व दल विभाजन, निजी महात्वाकॉक्षा की राजनीति आदि। भारतीय राजव्यवस्था के इन तथ्यों की सीढियॉ चढकर ही हम गढबन्धन की राजनीति के रहस्य का रहस्योद्‌धाटन कर सकते है क्योकि राजव्यवस्था की बहुआयामी जटिल संरचना के अन्तः सम्बन्धो और अन्तःक्रियाओं की अनदेखी कर राजव्यवस्था से जुडे किसी भी प्रश्न के सन्दर्भ में निष्कर्ष पर नहीं पहॅुचा जा सकता है।

अध्याय–दो

भारतीय राजनीति में दलीय व्यवस्था का विकास

अध्याय–दो

भारतीय राजनीति में दलीय व्यवस्था का विकास

आधुनिक लोकतंत्र में राजनीतिक दलों की भूमिका अति महत्वपूर्ण हो गई है। यदि यह कहा जाये कि राजनीतिक दल आज लोकतंत्रीय व्यवस्था का संचालन करने वाले महत्वपूर्ण तंत्र बन गये है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। विशेष रूप से जहां संसदीय शासन हो वहॉ राजनीतिक दल राजनीतिक व्यवस्था के जीवन सूत्र के रूप में ही कार्य करते है। आज राजनीतिक दल राजनीतिक संस्था और प्रशासन के महत्वपूर्ण अंग का रूप धारण कर चुके है[1] यही कारण है कि किसी भी देश में शासन प्रणाली का रूप चाहे जो भी हो राजनीतिक दल अनिवार्य रूप से विकसित होते है संयुक्त राज्य अमेरिका जहां के संविधान निर्माताओं ने राजनीतिक दलों को कभी भी पसन्द नहीं किया[2] वहॉ भी राजनीतिक दलों का विकास हुआ। सर्वाधिकारवादी व अधिनायकवादी राज्यों में भी राजनीतिक दलों का अस्तित्व देखेने को मिलता है ।

भारत में भी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के जननायक भारत के राष्ट्रपिता कहे जाने वाले महात्मा गांधी व प्रख्यात समाजवादी चिन्तक व राजनेता लोकनायक जयप्रकाश नारायण ने भारत के लिए "दलविहीन लोकतंत्र" की परिकल्पना की थी। गांधी जी की हार्दिक इच्छा थी कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद काग्रेस अपने दलीय स्वरूप को विघटित कर लोक सेवक संध के रूप में कार्य करें। भारतीय संविधान में भी कहीं पर राजनीतिक दल शब्द का उल्लेख नहीं आया है फिर भी अमेरिकी राजनीति की तरह भारतीय राजनीति में भी राजनीतिक दलों का विकास हुआ और भारत की संसदीय राजनीति ने बहुदलीय राजनीतिक व्यवस्था का आकार ग्रहण किया। भारत में राजनीतिक दलों के विकास को हम दो भागों में बॉट सकते हैं–

1. स्वतन्त्रता पूर्व राजनीतिक दलों का विकास
2. स्वतन्त्रता के पश्चात् राजनीतिक दलों का विकास

1 . स्वतन्त्रता पूर्व राजनीतिक दलों का विकास

[1] – नील. ए. मैकडानल्ड, "पार्टी पर्सपेक्टिव : कम्पेरेटिव पोलिटिक्स" (सम्पा0) 1963, पृष्ठ 335
[2] – थामस मैरी, "पोलिटकल पार्टीज इन इण्डिया" लिबरल टाइम्स, वाल्यू. IX नं0 1, 2001, पृ0 17

भारत में राजनीतिक दलों के विकास की बुनियाद ब्रिटिश शासन काल में देखने को मिलती है। भारत में पहली राजनीतिक संस्था 1838 में कलकत्ता में "लैण्ड होल्डर्स सोसायटी" के नाम से स्थापित की गई। किन्तु इसका उद्देश्य मात्र जमीन्दारों के हितों की रक्षा करना था। 1843 में "बंगाल ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन" का गठन व्यापक राजनीतिक उद्देश्यों से किया गया। पूरे देश में शहरों और कस्बों में ऐसी संस्थायें स्थापित की गईं। इनकी मांगें मुख्य रूप से प्रशासनिक सुधारों से जुड़ी हुईं थीं। 1866 में दादाभाई नौरोजी ने भारतीय समस्याओं पर विचार करने के लिये तथा ब्रिटिश जनमत को प्रभावित करने के लिये लन्दन में 'ईस्ट इण्डिया एसोसिएशन' की स्थापना की। भारत में इसकी कई शाखायें खोली गईं। 1876 में सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के नेतृत्व में "इण्डियन एसोसिएशन" की स्थापना की गई। उन्होने पूरे देश में भारतीय सिविल सेवा की परीक्षा प्रणाली में सुधार की मांग की। व्यापक राजनीतिक आन्दोलन में आम जनता को खीचने के लिये इण्डियन एसोसिएशन ने काश्तकारों के अधिकारों के लिये जमींदारों के विरूद्ध और चाय बागानों के मजदूरों के अधिकारों के लिये विदेशी बाग मालिकों के विरूद्ध आवाज उठाई। 1884 में "मद्रास महाजन सभा" बनाई गई। 1885 में फिरोजशाह मेहता के नेतृत्व में "बम्बई प्रेसीडेंसी एसोसिएशन" की स्थापना की गई।

संगठित रूप से राजनीतिक दलों का विकास वस्तुतः 1885 ई0 में कांग्रेस की स्थापना से प्रारम्भ होता है। इसकी स्थापना एक राजनीतिक दल के रूप में नहीं बल्कि एक ऐसे संगठन के रूप में हुई थी जिसका उद्देश्य मूलतः भारतीयों के गैर सरकारी संसद के रूप में कार्य करना था। प्रारम्भ में इसे ब्रिटिश शासकों का समर्थन प्राप्त था, किन्तु कुछ दिनों बाद ही काग्रेस द्वारा साम्राज्यवाद की आलोचना तथा स्वराज्य की मांग ने ब्रिटिश शासकों के कांग्रेस के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन ला दिया। उन्होने यह अनुभव किया कि यह संस्था ब्रिटिश नौकरशाही तथा साम्राज्य के विरूद्व है। अतः उन्होने इस संस्था के विरूद्व भारतीय जनता की दूसरी संस्था की स्थापना को प्रोत्साहन देना उचित समझा। इस कड़ी में सर सैय्यद अहमद खॅा के नेतृत्व में मुस्लिम समुदाय की एक राजनीतिक संस्था "अखिल भारतीय मुस्लिम लीग" 1906 ई0 में स्थापित की गई। इसे विशुद्व रूप में एक राजनीतिक दल कहना गलत होगा क्योकि यह एक साम्प्रदायिक संस्था भी जिसकी सदस्यता केवल मुस्लिम समुदाय तक ही समिति थी। प्रारम्भ में इसका उद्देश्यभारतीय मुसलमानों में ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति राजभक्ति पैदा करना तथा उनके राजनीतिक अधिकारों एवं हितों की रक्षा करना था। बाद में काग्रेस की ही भॅाति इस संगठन ने भी भारत की स्वतंत्रता का नारा बुलन्द किया। लेकिन साथ ही साथ मुस्लिम लीग ने मुसलमानों के लिए एक अलग राष्ट्र की मांग भी उठाना प्रारम्भ कर दिया। 1937 में लीग के नेता मुहम्मद अली जिन्ना ने कहा कि मुस्लिम लीग का

उद्देश्यपूर्ण प्रजातांत्रिक स्वायत्त सरकार की प्राप्ति है। किन्तु ''द्विराष्ट्रसिद्धान्त'' और कांग्रेस के प्रति लगातार विरोधी दृष्टिकोण के कारण इसे 1941 में अपने संविधान में परिवर्तन करना पड़ा उसी वर्ष का विख्यात'' पाकिस्तान प्रस्ताव अन्ततः पाकिस्तान निर्माण के लिए उत्तरदायी सिद्ध हुआ।

मुस्लिम लीग की स्थापना की प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप 1916 में हिन्दुओं की एक साम्प्रदायिक संस्था का जन्म ''हिन्दू महासभा'' के रूप में हुआ। इस दल का उद्देश्य ''पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति तथा हिन्दू राज की स्थापना करना था। यह कांग्रेस की अहिंसा की नीति के विरूद्ध था। इसके अध्यक्ष सावरकर का कहना था कि हिन्दू महासभा का उद्देश्य हिन्दू जाति, हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू सभ्यता की देखभाल, रक्षा, विकास और हिन्दू राष्ट्र के गौरव में वृद्धि और पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति है।

1920 में एक नये दल–उदार दल की स्थापना हुई। इस दल का उद्देश्य संवैधानिक पद्धति के माध्यम से लक्ष्य की प्राप्ति करना था। इसने 1919 के अधिनियम के आधार पर हुए निर्वाचन में भाग लिया। किन्तु यह दल प्रायः महत्वहीन ही बना रहा।

इन दलों के अतिरिक्त स्वतत्रतापुर्व भारत में अनके वामपंथी दलों की भी स्थापना हुई। 1917 में रूस में साम्यवादी क्रान्ति ने भारत के क्रान्तिकारियों को प्रभावित किया । वे सोवियत रूस के नेताओंसे सम्पक्र का प्रयास करते रहे। 1919 में महेन्द्र प्रताप के नेतृत्व में भारतीयों के पहले प्रतिनिधिमंडल ने लेनिन के साथ मास्कों में मुलाकात की[3]। लेनिन ने इस भेट को बहुत महत्व दिया। 17 अक्टूबर 1920 को ताशकंद में भारत के कम्युनिट पार्टी की स्थापना हुई। भारत में सितम्बर 1924 को कानपुर में भारतीय साम्यवादी दल के स्थापना की धोषणा की गई।[4]

कांग्रेस नेतृत्व की दक्षिण पंथी कार्यवाही और गांधी के नेतृत्व के विरूद्व प्रतिक्रिया स्वरूप काग्रेस के प्रगतिशील समाजवादी विचारधारा से जुडे लोगों ने 1934 में पटना में कांग्रेस महासमिति की बैठक के समय ही अखिल भारतीय कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना की। इस संगठन से सक्रिय रूप से जुडे लोग थे–जयप्रकाश नारायंण, अशोक मेहता, आचार्य नरेन्द्र देव, अच्युत पटवर्धन और डा0 राम मनोहर लोहिया आदि।

इसी प्रकार जिन अन्य वामपंथी दलों की स्थापना हुई उनमें प्रमुख थे–भारतीय क्रान्तिकारी साम्यवादी दल 1942, क्रान्तिकारी समाजवादी पार्टी 1940, भारतीय बोल्शेविक पार्टी 1939, बोल्शेविक लेनिनिस्ट पार्टी 1941, फारवर्ड ब्लाक 1937, सोशलिस्ट पार्टी 1934 आदि।

---

3 अयोध्या सिंह, इन्डियां फ्रीडम स्ट्गल, मैकमिलेन, 1977, पृ0 475
4 वहीं, पृ0 476

इन दलों के अतिरिक्त राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान ही कुछ साम्प्रदायिक वर्गीय तथा स्थानीय दलों का भी उदय हुआ। इनमें मुस्लिम कान्फ्रेस, मद्रास की जास्टिस पार्टी, बंगाल की कृषक प्रजा पार्टी यू0पी0 की राष्ट्रीय कृषक पार्टी, पंजाब की यूनियनिस्ट पार्टी, बम्बई की डेमोक्रटिक स्वराज्य पार्टी तथा दलित वर्गीय पार्टी आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस प्रकार स्वतंत्रता से पूर्व भारत में अनेक राजनीतिक दलों का उदय हुआ किन्तु सिर्फ वे ही दल अपना अस्तित्व बचा पाये जो स्पष्ट सिद्वान्तों एंव नीतियों पर आधारित थे।

2 . स्वतंत्रता के पश्चात राजनीतिक दलों का विकास

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में दलीय व्यवस्था ने ठोस संस्थात्मक आकार लेना प्रारम्भ किया। इस समय देश में राष्ट्रीय स्तर पर दो दल थे–भारतीय राष्ट्रीय काग्रेस तथा साम्यवादी दल। काग्रेस ने राष्ट्रीय पुनर्जागरण और स्वाधीनता संग्रम में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी। यथार्थ में स्वतंत्रता से पूर्व कांग्रेस का स्वरूप इतना बिशाल था कि यह दल नहीं अपितु राष्ट्रीय आन्दोलन के रूप में एक मंच था। साम्यवादी दल का प्रभाव सीमित था। इसके अतिरिक्त दक्षिण में द्रविड़ कडगम तथा उत्तर में हिन्दू महासभा जैसे दल विद्यमान थे। स्वतंत्रता के बाद अन्य राजनीतिक दलों का भी उदय हुआ। 1948 में राम राज्य परिषद की स्थापना हुई। 1949 में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम का उदय हुआ जो द्रविड कडगम से अलग हुए कुछ व्यक्तियों द्वारा गठित किया गया था। 1950 में जय प्रकाश नारायण ने भारतीय समाजवादी दल की और आचार्य कृपलानी ने किसान मजदूर प्रजा पार्टी की स्थापना की। 1952 में इन दोनो दलों का विलय हो गया और प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का जन्म हुआ। 1951 में डा0 श्यामा प्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में भारतीय जनसंध की स्थापना हुई।

इस प्रकार 1957 के निर्वाचन के समय निर्वाचन आयोग ने चार दलों को राष्ट्रीय दलों के रूप में मान्यता दी। ये दल थे–कांग्रेस, प्रजा सोशलिस्ट पार्टी, साम्यवादी दल तथा भारतीय जन संध। भारतीय राजनीति में राजनीतिक दलों के बनने, बिखरने,टूटनेऔर संवरने का सिलसिला निरन्तर चलता रहा। इस प्रक्रिया ने न केवल दलीय व्यवस्था के स्वरूप को प्रभावित किया बल्कि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप और इसके संचालन पर भी दूरगामी प्रभाव अंकित किये। 1959 में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी की प्रेरणा से स्वतंत्र पार्टी अस्तित्व में आयी जिसे 1962 के आम चुनावों में राष्ट्रीय दल की मान्यता मिल गई ।

चौथे आम चुनाव 1967 में दो अन्य दलों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुए। ये दल थे। सयुक्त समाजवादी पार्टी तथा भारतीय साम्यवादी दल मार्क्सवादी। यह वह समय था जब

काग्रेसका विरोध मुख्य हो चला था और भारतीय राजनीति में उसे चुनौती देने वाले तत्व प्रभावी होने लगे थे। यहीं से क्षेत्रीय राजनीति और क्षेत्रीय दलों का उभार प्रारम्भ होता है।

1969 में स्वतंत्रता पश्वात काग्रेस का पहला विभाजन हुआ। काग्रेस नई काग्रेस (श्रीमती इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में) व संगठन कांग्रेस में विभक्त हो गई। 1971 में लोकसभा चुनावों में श्रीमती गांधी के नेतृत्व वाली कांग्रेस को परास्त करने के लिए स्वतंत्र पार्टी, जनसंध, सोशलिस्ट पार्टी और संगठन कांग्रेस ने महागठबंधन का निर्माण किया। किन्तु यह महा गठबंधन चुनावों में परास्त हुआ और नई कांग्रेस को लोकसभा में दो तिहाई बहुमत प्राप्त हुआ। 1972 में सोशलिस्ट पार्टी व प्रजा सोशलिस्ट पार्टी का पुनः विलय हो गया जिसके परिणामस्वरूप एक नया दल अस्तित्व में आया–सोशलिस्ट पार्टी आफ इन्डिया। किन्तु कुछ समय बाद इसमें पुनः फूट पड़ गई और राजनारायण और उनके समर्थकों ने दिसम्बर 1972 को लखनऊ में पुरानी सयुक्त सोशलिस्ट पार्टी को पुनर्जीवित किया। जनसंध भी विधटित होने से नहीं बच सका। जनसंध से निष्कासित होने के बाद इसके वरिष्ठ नेता बलराज मधोक ने अप्रैल 1973 में राष्ट्रीय लोकतात्रिक मोर्चा नामक एक नये दल का गठन किया।

1974 में भारतीय क्रान्ति दल, स्वतंत्र पार्टी, उत्कल कांग्रेस, किसान मजदूर पार्टी, संयुक्त सोशलिस्ट पार्टी और पंजाब खेतीबाड़ी जमींदार यूनियन जैसे दलों ने अपने अस्तित्व को एक में विलीन करते हुए भारतीय लोकदल का गठन किया। चौधरी चरण सिंह इस दल के अध्यक्ष निर्वाचित हुए।

15 जून 1975 को इन्दिरा सरकार ने आपात काल की धोषणा कर दी। अधिकॉश विपक्षी नेता बन्दी बना लिये गये। काग्रेस के तानाशाही नेतृत्व के विरूद्व,1977 में जब चुनाव धोषित हुए, चार गैर साम्यवादी दलों–संगठन कांग्रेस, जनसंध, भारतीय लोकदल और समाजवादी दल ने मिलकर जनता पार्टी के नाम से एक नई पार्टी का गठन किया। इस पार्टी के निर्माण में जय प्रकाश नारायण की प्रेरणा प्रमुख रही। इस नये दल के गठन ने काग्रेस के असन्तुष्टों को आकृष्ट किया। 2 फरवरी 1977 को जगजीवन राम और हेमवती नन्दन बहुगुणा ने काग्रेस से अलग होकर लोकतांत्रिक काग्रेस नामक नये दल का गठन किया और जनता पार्टी के साथ मिलकर चुनाव लड़ने का निश्चय किया। मार्च 1977 में हुए चुनावों में काग्रेस को पराजय का मुँह देखना पड़ा और मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पार्टी की सरकार बनी 1 मई 1977 में चुनाव आयोग ने जनता पार्टी को राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता प्रदान कर दी।

जुलाई 1979 में जनता पार्टी विभाजित हो गई। राजनारायण ने जनता (सेक्युलर) के नाम से एक नये दलका गठन किया। 15 जुलाई 1979 को मोरारजी सरकार का पतन हो गया। चौ0 चरण सिंह प्रधानमंत्री बने किन्तु लोकसभा में शक्ति परीक्षण से पूर्व ही उन्होने

त्याग पत्र दे दिया। 26 सितम्बर 1979 को जनता, सोशलिस्ट पार्टी तथा उड़ीसा की जनता पार्टी ने मिलकर एक नये दल लोकदल का गठन किया। चौधरी चरण सिंह इसके अध्यक्ष और राजनारायण इसके कार्यकारी अध्यक्ष बने। इस बीच कांग्रेस की अविभाजित न रह सकी। इन्दिरा समर्थकों और विरोधियों के मध्य अनवरत रूप से चलने वाले सत्ता संधर्ष के कारण 2 जनवरी 1978 को कांग्रेस का पुनः विभाजन हो गया और दो कांग्रेस पार्टियॉ अस्तित्व में आई इन्दिरा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस (ई) और ब्रह्मानन्द रेड्डी की अध्यक्षता वाली कांग्रेस। इन्दिरा कांग्रेस का प्रभाव बढ़ता रहा और 1980 के चुनावों में उसे दो तिहाई बहुमत से विजय मिली।

1980 के चुनावों के बाद जनता पार्टी की हार के बाद से इसके विधटन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रही। इसके विभिन्न धटक अलग होते गये और अपना पृथक अस्तित्व कायम कर लिया। 6 अप्रैल 1980 को जनसंध धटक ने भारतीय जनता पार्टी के नाम से एक नये दल का गठन किया। जगजीवन राम ने काग्रेस (नाम से एक नये दल का गठन किया।

1987 के बाद काग्रेस (इ) का सशक्त विकल्प तैयार करने के प्रयत्न पुनः प्रारम्भ हुए। इस बार सूत्रधार की भूमिका में थे हरियाणा के चौधरी देवीलाल। इस दिशा में पहला कार्य यह किया गया कि जनता पार्टी, लोकदल (अ) और संजय विचार मंच का एक में विलय कर दिया गया। इसी बीच विश्वनाथ प्रताप सिंह ने अपने समर्थकों के साथ काग्रेस (ई) छोड़कर "जनमोर्चा की स्थापना की। बाद में देवीलाल के प्रयासों से उनके पूर्वास्त संगठन में जनमोर्चा और कांग्रेस (एस)का भी विलय हो गया और एक नया दल "जनता दल" के नाम से अस्तित्व में आया। विश्वनाथ प्रताप सिंह को जनता दल का प्रथम अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। यह प्रयास यही नहीं समाप्त होता है। यह वह समय है जब क्षेत्रीय दलों को भी साथ लेकर चलने की आवश्यकता महसूस की गई। 17 सितम्बर 1988 को जनता दल, द्रमुक, असमगण परिषद, तेलगूदेशम आदि ने मिलकर राष्ट्रीय मोर्चे का गठन किया। आन्ध्र प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री एन0टी0 रामाराव को इस मोर्चे की अध्यक्ष और वी0पीं0 सिंह को इसका संयोजक बनाया गया। 1989 के चुनावों में कांग्रेस को बहुमत नहीं मिला और न ही इस राष्ट्रीय मोर्चे को ही बहुमत मिला। फिर भी भाजपा और बामपंथी दलों के समर्थन से वी0पी0 सिंह के नेतृत्व में गठबंधन सरकार बनी। 1990 में भाजपा द्वारा संमर्थन वापस ले लेने पर इस सरकार का पतन हो गया।

1979 में जनता पार्टी के पतन के बाद जिस तरह उसका विधटन प्रारम्भ हुआ उसी प्रकार जनता दल में भी विखंडन प्रारम्भ हो गया। जनता दल ही नहीं बल्कि 1990 में बाद से अधिकॉश राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों में छोटे बड़े विभाजन हुए और नये दल अस्तित्व में आये। सत्तागत स्वार्थ, निजी महात्वाकांक्षा, व्यक्तित्व के टकराव अथवा नेतृत्व की निरंकुशता

के कारण बनने वाले इन गुटीय दलों के कारण भारतीय राजनीति में दलों का दलदल सा बन गया।

इन दलों के अतिरिक्त समय समय पर क्षेत्रीय स्तर पर क्षेत्रीय मांगों आवश्यकताओं समस्याओं एवं आकांक्षाओं के अनुरूप अनेक क्षेत्रीय दलों का भी गठन हुआ जिनका प्रभाव राज्य विशेष तक सीमित रहा। किन्तु इस समिति क्षेत्रीय प्रभाव ने भारतीय राजनीति और राजनीतिक व्यवस्था के क्रियान्वयन को असीमित रूप से प्रभावित किया। इन दलों में विहार में लालू प्रसाद के नेतृत्व वाला, राष्ट्रीय जनता दल और समता पार्टी, उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी और बहुजन समाज पार्टी, असम में असम गण परिषद, पंजाब में अकाली दल, हरियाणा में हरियाणा विकास पार्टी और लोकदल, महाराष्ट्रमें शिवसेना, आन्ध्रप्रदेश में तेलगू देशम, तमिलनाडु में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम और ऑल इन्डिया द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, जम्मू कश्मीर में नेशनल कान्फ्रेन्सआदि महत्वपूर्ण भूमिका धारक रहे है।

इन महत्वपूर्ण क्षेत्रीय दलों के अतिरिक्त अन्य अनेक छोटे दल भी भारत के राजनीतिक परिदृश्य पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराते रहते है। इनमें से कुछ प्रमुख है, लोकजनशक्ति, राष्ट्रीय लोकदल, लोकतात्रिक कांग्रेस, अपना दल (उ0प्र0), तमिल मनीला कांग्रेस, पट्टालिमक्कल कॉची (तमिलनाडु) पीपुल डेमोक्रेटिक पार्टी, पैन्थर्स पार्टी (कश्मीर), झारखण्ड मुक्ती मोर्चो (झारखण्ड), मणिपुर पीपुल्स पार्टी (मणिपुर) मिजो नेशनल फ्रन्ट (मिजोरम), नागा नेशनल फ्रन्ट (नागालैण्ड) सिक्किम संग्राम परिषद (सिक्किम), त्रिपुरा उपजाति सभा (त्रिपुरा), पीजेन्ट एण्ड वक्रर्स पार्टी (महाराष्ट्र), महाराष्ट्रवादी गोमान्तक पार्टी (गोवा), आल पार्टी हिल लीडर्स कान्फ्रेस, हिल स्टेट यूनियन, हिलस्टेट पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी (मेधालय) आदि।

इनके अलावा भारत में कुछ कुछ राजनीतिक दल ऐसे भी है जिनका प्रभाव विस्तार एक व्यक्ति अथवा एक लोकसभा या विधानसभा क्षेत्र तक ही सीमित है जैसे पूर्व प्रधानमत्री चन्द्रशेखर की जनता पार्टी (राष्ट्रीय), सुब्रमण्यम स्वामी की जनता पार्टी आदि ।

भारतीय दल प्रणाली की विशेषतायें एवं राजनीतक दलों कार्य व्यवहार

भारत मेंगठब्रधन की राजनीति के स्वरूप व इसके क्रियान्वयन का तब तक समुचित विश्लेषण संभव नहीं है जब तक कि भारतीय दल प्रणाली की विशिष्टताओं और इनके कार्य पद्वति का मूल्यांकन न कर लिया जाये क्योकि सर्वप्रथम संसदीय लोकतंत्र में सरकार बनाने व चलाने का दायित्व राजनीतिक दलों का ही होता है। अस्तु लोकसभा में किसी एक दल को बहुमत न मिल पाने की स्थिति में गठबंधन सरकार बनांने व चलाने का दायत्वि भी राजनीतिक दलों की भूमिका व आचरण पर ही निर्भर करता है। इसलिए इस सन्दर्भ में

राजनीतिक दलों की स्थिति भूमिका व इनके कार्य व्यवहार का विश्लेषण नितान्त अपरिहार्य हो जाता है। स्वतंत्रता के बाद से वर्तमान तक भारतीय राजनीतिक दलों ने जिस तरह से कार्य किया है उसके आधार पर भारतीय दल प्रणाली की निम्नलिखित विशेषतायें बताई जा सकती है।

1 .एक दलीय प्रभुत्व वाली व्यवस्था से बहुदलीय व्यवस्था की ओर

भारत विविधताओं और जटिलताओं वाला देश है जहो विभिन्न भाषा, धर्म, जाति, सिद्वान्तों और हितों के लोग रहते है। स्पष्ट है जहां कही भी इस प्रकार की विविधतायें होगी, बहुदलीय व्यवस्था के पनपने की संभावना भी अधिक होगी। स्वतत्रंता के बाद पहले आम चुनावों से ही भारत में बहुदलीय व्यवस्था का रूप दिखाई देने लगा था। किन्तु प्रारम्भ से 1989 तक (1977–79 के अल्पावधि को छोड़कर) भारत की राष्ट्रीय राजनीति में कांग्रेस की ही प्रधानता रही। लम्बे समय तक राज्यों की राजनीति में भी कांग्रेस का वर्चस्व रहा। किन्तु 1989 में कांग्रेस की पराजय ने इसके वर्चस्व की इस स्थिति को समाप्त कर दिया। 1991 के चुनावों में कांग्रेस की केन्द्र में सरकार तो अवश्य बनी किन्तु इसे स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। 1996,1998 व 1999 के चुनावों में कांग्रेस को भारी आधात लगा और इसके साथ ही भारत में एक दलीय प्रभुत्व वाले युग का अन्त हो गया और वास्तविक बहुदलीय प्रणाली तथा गठबन्धन के राजनीति का युग प्रारम्भ हो गया। भारत के राजनीतिक परिदृश्य पर आज जो कुछ भी हो रहा है उससे तो अब कोई संभावना नहीं दिखती कि कोई एक दल सत्तारूढ़ हो सकेगा। यानी गठबंधन की राजनीति से अब बचना संभव नहीं है[5] किन्तु अपने इस पराभव के बाद भी भारत में कांग्रेस ही एक मात्र ऐसा दल है जिसकी भारत के लगभग सभी राज्यों और क्षेत्रों में जुड़े विद्यमान है।[6]

2 . राजनीतिक ध्रुवीकारण के स्थान पर विखण्डन की प्रवृत्ति

भारतीय राजनीति में दलों के कार्य व्यवहार का मूल्याकंन करने पर ऐसा लगता है कि दलों के बीच ध्रुवीकरण की प्रक्रिया चलती रही है। किन्तु भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में ऐसा निष्कर्ष निकालना छलावा ही सिद्व होगा। वस्तुतः भारतीय राजनीति में ध्रुवीकरण के जो भी प्रयास हुए है, वे सतढ़ी रहे है किन्तु विखण्डन की प्रवृत्ति सतत् रूप से विद्यमान रही है।

---

[5] – निखिल चक्रवर्ती, "गठबंधन की राजनीति से बचना मुश्किल", दैनिक जागरण 8–12–1997

[6] –अजिन रे, "इज इण्डिया पोलिटिकली पोल्यूटेड? (जियो–सोशल प्रोटेस्टस एण्ड चैलेन्जेज) होरिजन पब्लिशर्स, इलाहाबाद, 1998, पृष्ठ 344

जब तक कांग्रेस भारतीय राजनीति में प्रधान दल रहा, तब तक कांग्रेस विरोध और कांग्रेस को अपदस्थ करने की आवश्यकता ध्रुवीकारण का मुख्य कारक थी। इस दिशा में दो प्रसास किये गये– 1977 में जनता पार्टी और 1988–89 में जनता–दल राष्ट्रीय मोर्चा–भाजपा। किन्तु ये दोनो ही प्रयोग अल्पकालिक व अस्थायी सिद्ध हुए। जनता पार्टी न केवल अपने संघटक घटकों में विघटित हुई बल्कि इसके घटक भी इस प्रकार विभाजित हुए कि आज इनमें से कुछ का अस्तित्व ही समाप्त हो गया है।[7] इसी प्रकार 1988 में बना जनता दल भी इतनी बार विभाजित हुआ कि आज यह स्वयं अपनी पहचान व अपनी सामर्थ्य शक्ति तलाश रहा है।

1990 के बाद से भारतीय राजनीति में ध्रुवीकरण का दूसरा कारक प्रकट होता है भारतीय जनता पार्टी का विरोध अथवा साम्प्रदायिक शक्तियों के विरूद्ध तथाकथित धर्मनिरपेक्ष शक्तियों की एकता। धर्मनिरपेक्ष शक्तियों की इस एकजुटता का परिणाम यह हुआ कि 1996 के लोकसभा चुनावों में भारतीय जनता पार्टी लोकसभा में सबसे बड़े दल के रूप में उभरने के बाद भी सरकार बनाने चलाने का बहुमत जुटा सकने योग्य सहयोगियों का प्रबंध न कर सकी। परिणामस्वरूप भाजपा की पहली सरकार का जीवन तेरह दिन का ही रहा और 1 जून 1996 को धर्म निरपेक्ष शक्तियों की सरकार एच0डी0 देवगौडा के नेतृत्व में पदारूढ़ हुई जिसे कांग्रेस और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का बाहर से समर्थन प्राप्त था। राष्ट्रीय मोर्चा और वाम मोर्चे के इस संयुक्त संगठन को संयुक्त मोर्चा नाम दिया गया। कांग्रेस के समर्थन वापस लेने से सरकार गिर गई किन्तु 21 अप्रैल 1997 को इन्द्रकुमार गुजराल के नेतृत्व में पुनः कांग्रेस के समर्थन से संयुक्त मोर्चा सरकार बनी यह सरकार भी अल्पजीवी रही। जैन आयोग की रिपोर्ट के मुद्दे पर काग्रेस ने अपना समर्थन वापस ले लिया और यह सरकार भी गिर गई।

संयुक्त मोर्चा सरकार गिरने के बाद इस मोर्चे में भी विखडंन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। 1998 व 1999 के चुनावों के बाद धर्मनिरपेक्षता का परचम बुलन्द कर साम्प्रदायिक शक्तियों के विरूद्व एक जुट होने वाले अनेक दल भारतीय जनता पार्टी के साथ, जो कि उनका मुख्य विरोधी व आरोपी होता था, या तो सरकार में सम्मिलित हो गये या सरकार के समर्थन में आ गये। और राष्ट्रीय जनजांत्रिक गठबंधन का हिस्सा बनते गये। स्वयं जनता दल का जो कि संयुक्त मोर्चे का सबसे बडा भाग था, एक बडा हिस्सा राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन में शामिल हो गया है।

---

[7] – जनता पार्टी के गठन में चार प्रमुख दलों संगठन कांग्रेस, जनसंघ, भारतीय लोकदल व समाजवादी दल ने भूमिका निभायी थी। आज इनमें से जनसंघ ही भारतीय जनता पार्टी के नाम से अस्तित्व में है। संगठन कांग्रेस अस्तित्व में नहीं है। भारतीय लोकदल व समाजवादी दल का या तो जनाधार घट गया है या इनके रूप बदल चुके हैं।

आज भी भाजपा विरोध व धर्म निरपेक्षता के नाम पर तीसरे मोर्चे को पुनर्जीवित करने के प्रयास किये जा रहे है कि किन्तु निजी स्वार्थों व व्यक्तिगत महात्वाकांक्षाओं के चलते ध्रुवीकारण की प्रवृत्ति कारगर रूप से नही हो पा रही है। विखंडन की प्रवृत्तियॉ ही अधिक प्रश्रय पाती दीखती है। वामपंथी दलों में अवश्य एकता की भावना है और वे 1977 के बाद एक न्यूनतम कार्यक्रम के आधार पर संसद, राज्य विधान सभाओं और उसके बाहर संगठित होकर कार्य कर रहे है। इन दलों में बिखराव की प्रवृत्ति नहीं के बराबर है।

3 . दल–बदल और दल विभाजन की प्रवृत्ति

भारत की दलीय प्रणामी में एक साथ दो प्रवृत्तियॉ कार्य करती रही है– दल बदल और दलीय विभाजन की प्रवृत्ति। सामान्य रूप से इन दोनो ही प्रवृत्तियों को समानार्थी मान लिया जाता है। किन्तु राजनीतिक रूप से ये दोनो ही प्रक्रियाये दो भिन्न कार्य और परिणाम देने वाली प्रवृत्तियॉ है। दल बदल में एक सांसद, विधायक अथवा राजनीतिक कार्यकर्त्ता किसी एक स्थापित राजनीतिक दल की सदस्यता छोड़कर दूसरे राजनीतिक दल की सदस्यता स्वीकार कर लेता है। यह कार्य एक कर्त्ता द्वारा अपने पहले दल की नीतियों एवं कार्यक्रमों से प्रति असन्तोष अथवा सत्तागत लाभ के कारण किया जाता है। दल बदल के अधिकॉश मामलों में पहले की अपेक्षा दूसरा कारण ही अधिक प्रभावी रहा है। अधिकॉश विधायकों अथवा सांसदों ने धन अथवा सत्ता प्राप्ति की आकांक्षा के चलते दल बदल किया है।[8] जब व्यवस्थापिकाओं में बहुमत सीमान्त होता है तब शक्ति सन्तुलन बनाने के लिए कुछ विधायकों का एक दल से दूसरे दल की ओर प्रसरण भारत में आम बात रही है। पूर्व निर्वाचन आयुक्त आर0 के0 त्रिवेदी का कहना है कि 1967 से 1973 के बीच कुल 2,700 दल बदल बदल हुए थे।[9]

दल बदल की प्रवृत्ति पर रोक लगाने केलिए 1985 में 52 वॉ संविधान संशोधन पारित किया गया है और संविधान में दसवी अनुसूची जोडी गई। इस संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान के अनुच्छेद 101,102,190 और 191 में संशोधन किया गया। इस संशोधन अधिनियम के कुछ प्रभुख प्रावधान इस प्रकार थे।

1. संसद अथवा विधानमण्डल का कोई सदस्य अगर स्वेच्छा से उस राजनीतिक दल या गुट से त्याग पत्र दे देता है जिसके चुनाव चिन्ह पर वह निर्वाचित हुआ है तो सदन से उसकी सदस्यता समाप्त हो जायेगी।[10]

---

8 – थामस मैरी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 22
[9] – थामस मैरी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 22
[10] – दसवीं अनुसूची, पैरा 2, उपपैरा 1 (क)

2. कोई निर्वाचित सदस्य अपनी पार्टी छोड़कर जिसके टिकट पर निर्वाचित हुआ है यदि किसी दूसरे राजनीतिक दल में शामिल होता है तो उस स्थिति में सदन से उसकी सदस्यता समाप्त हो जायेगी।[11]
3. कोई निर्वाचित सदस्य यदि अपनी पार्टी के सक्षम अधिकारी द्वारा जारी निर्देशों केविरूद्ध या उनकी अवहेलना कर अथवा उनकी अमुमति लिए बिना सदन में मतदान से अनुपस्थित रहता है तो उसकी सदस्यता समाप्त हो जायेगी।[12]
4. यदि किसी दल के निर्वाचित सदस्यों में से एक तिहाई सदस्य उस पार्टी से अलग होते है तो उसे दल बदल नहीं माना जायेगा। [13]

बावनवॉ संविधान संशोधन पारित होने के बाद से छोटे मोटे दल बदल पर तो रोक लगी किन्तु दसवी अनुसूची के पैरा 3 के प्रावधानों के अन्तर्गत अब बडे और संगठित दल बदल होने लगे साथ ही दलों के विभाजन की प्रवृत्ति तीव्र हो गई। दल विभाजन से यहां तात्पर्य है जब किसी एक राजनीतिक दल का कोई गुट अपने दल से पृथक होने के बाद किसी दूसरे दल में सम्मिलित न होकर एक नये दल का निर्माण करता है। भारत में राजनीतिक दलों की बढ़ती हुई संख्या का एक कारण इस प्रकार के दलीय विभाजन के बाद नित नये दलों का निर्माण भी है।

पिछले कुछ वर्षो के भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर नजर डाली जायें तो पायेगे कि अधिकॉश राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दल विभाजन का शिकार हुए है। विभाजन के फलस्वरूप जिन राजनीतिक दलों का निर्माण हुआ है उन सब का उल्लेख कर पाना कठिन है फिर भी कुछ महत्वपूर्ण उदाहरण उल्लेखनीय है। काग्रेस के विभाजन से जो दल अस्तित्व में आये वे है राष्ट्रीय कांग्रेस, लोकतांत्रिक कांग्रेस, तमिल मानीला कांग्रेस व तृणमूल कांग्रेस आदि। भाजपा का विभाजन कर शंकर सिंह वाधेला ने गुजरात में अलग पार्टी बनाई और कल्याण सिंह ने उत्तर प्रदेश में राष्ट्रीय क्रान्ति पार्टी का गठन किया। बहुजन समाज पार्टी से अलग हुए गुटो ने जनतांत्रिक बहुजन समाज पार्टी, किसान मजदूर बहुजन समाज पार्टी और अपना दल जैसे दलों का गठन किया। जनता दल से बिखरे हुए माती समाता पार्टी, जनता दल (यूनाइटेड), जनता दल (सेक्यूलर), समाजवादी जनता पार्टी, लोक जनशक्ति व राष्ट्रीय जनता दल के रूप में भारतीय राजनीतिक आकाश में देदीप्यमान है ।

इस प्रकार देश में छोटे छोटे राजनीतिक दलों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है। इन छोटे छोटे दलों को हम क्षेत्रीय दलों की श्रेणी में भी नहीं रख सकते। ये दल जाति,

---

[11] – दसवीं अनुसूची, पैरा 2, उपपैरा 2
[12] – दसवीं अनुसूची, पैरा 2, उपपैरा 1 (ख)
[13] – दसवीं अनुसूची, पैरा 3

उपजाति, धर्म, सम्प्रदाय, व्यक्तिगत द्वेष एवं ईर्ष्या की जमीन से पैदा होने और उससे संयोजित होने के बावजूद दल को जन्म देने वाले व्यक्ति की महात्वकांक्षा के सिवा किसी और का प्रतिनिधित्व नहीं करते।[14] इन छोटे छोटे क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के बनने का नया इतिहास भारतीय राजनीतिक में आत्ममुखी, स्वार्थी एवं महात्वाकांक्षी व्यक्तियों के उदय का इतिहास है।[15] दलों के विभाजन और नये दलों के निर्माण का कोई सैद्धान्तिक अथवा कार्यक्रमोन्मुखी आधार नहीं रहा है। यह मात्र स्वार्थपरता, सत्तालोलुपता, व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा अथवा व्यक्तिगत राजनीतिक दम्भ से प्रेरित रहा है। दलों की इस बहुलता ने निश्चय ही भारतीय लोकतंत्र के क्रियान्वयन को प्रभावित किया है। 537 पंजीकृत दलों की[16] उपस्थिति के कारण भारतीय लोकतत्रं भीडतत्रं अथवा दलतत्रं में परिवर्तित हो गया है। छोटे छोटे क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित कर रहे है और राष्ट्रीय दल क्षेत्रीय दलों का सहयोग प्राप्त करने का प्रयास कर रहे है।

4. आन्तरिक गुटबन्दी

भारत की दल प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता यह है कि लगभग सभी राजनीतिक दल आन्तरिक गुटबन्दी के शिकार है। सरकार बनाने, सरकार चलाने और सरकार बचाने में इस गुटबाजी का असर दिखाई देता है। प्रायः सभी राजनीतिक दल, विशेष रूप से सत्ता प्राप्त होने की स्थिति में, अपने दल को अविभाजित रखने के लिए सभी गुटों को सन्तुष्ट रखने का प्रयत्न करते है। ऐसा न कर पाने की स्थिति में दल विभाजन का खतरा उत्पन्न हो जाता है। यह गुटबन्दी निर्वाचन में प्रत्याशियों के चयन व चुनाव प्रचार से लेकर मंत्रि परिषद के गठन व विस्तार तक स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

5. व्यक्ति और व्यक्तित्व पर आधारित

भारतीय दल प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता यह है कि अधिकॉश राजनीतिक दल अपने अस्तित्व व सफलता के लिए सिद्धान्तों नीतियों और कार्यक्रमों पर निर्भर न होकर किसी व्यक्ति विशेष के चमत्कारिक नेतृत्व व व्यक्तित्व पर निभर करते है। कांग्रेस की राजनीति लम्बे समय तक पं० नेहरू, श्रीमती इन्दिरा गांधी व राजीव गांधी के व्यक्तित्व के इर्द गिर्द घूमती रही और आज भी राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालनक और सम्पूर्ण भारत में अपना जनाधार रखने वाला यह एक मात्र दल नेतृत्व अस्तित्व व भविष्य के लिए गांधी नेहरू

14—राजेन्द्र किशोर, 'छोटे—छोटे दल और भिश्तियोंका राजतंत्र, "हिन्दुस्तान, 10 मई 2001।
15—वही
16—एच.डी. शूरी, "द बेसिक फंक्शनिंग ऑफ पोलिटिकल पार्टीज इन इन्डिया", लिबरल टाइम्स, वाल्यूम IX नं0 1, 2001

परिवार पर ही निर्भर है। स्वतंत्रता के बाद 1969 व 1978 में इस दल में होने वाले विभाजन व्यक्तित्व और अहं के टकराव के परिणाम थे। तमिल मानिला कांग्रेस, शरद पवार के नेतृत्व, वाली राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी और तृणमूल कांग्रेस के गठन का भी संभवतः यही कारण था।

राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन सरकार में सबसे, बडे घटक भारतीय जनता पार्टी की राजनीति भी दो बडे नेताओं–अटलबिहारी बाजपेयी और लालकृष्ण आडवाणी के व्यक्तिगत करिश्मे से संचालित होती है। बहुत से छोटे और क्षेत्रीय दल तो नेतृत्व विशेष के व्यक्तित्व से न केवल संचालित होते है बल्कि इनके निजी संगठन के रूप में परिलक्षित होते है। बिहार में राष्ट्रीय जनता दल लालू प्रसाद यादव उ0प्र0 में बहुजन समाज पार्टी मायावती, समाजवादी पार्टी मुलायम सिंह यादव, तमिलनाडु में द्रमुक एम करूणानिधि, आल इन्डिया द्रमुक जयललिता महाराष्ट्रमें शिवसेना बाल ठाकरे, आन्ध्र प्रदेश में तेलगुदेशम चन्द्र बाबू नायडू, असम में असम गणपरिषद प्रफुल्ल कुमार महंत जैसे व्यक्तियों के व्यक्तित्व एवं शक्ति पर टिका हुआ है।

इस व्यक्तिवादी राजनीति का दुष्परिणाम यह हुआ है कि भारत में राजनीतिक दलों के महत्वपूर्ण निर्णय और कार्य लोकतांत्रिक प्रणाली से न तय करके नेतृत्व की इच्छा पर छोड देने की परम्परा विकसित होती जा रही है जो कि लोकतान्त्रिक मूल्यों के लिये धातक है। राजनीतिक दलों के क्रियान्वयन में शीर्ष की भूमिका महत्वपूर्ण होती है और सतह के कार्यकर्त्ताओं की स्थिति मात्र शीर्ष द्वारा निर्देशित पात्रों की ही रह जाती है। मारिश ड्वर्जर ने कांग्रेस का उदाहरण देते हुए स्पष्ट रूप से लिखा है कि भारत में राजनीतिक दल दिखने में लोकतात्रि.क किन्तु वास्तव में कुलीनतंत्रीय है।[17] कांग्रेस समेत अधशिकॉश राजनीतिक दलों में सत्ता स्थानीय स्तर से राष्ट्रीय स्तर तक पद सोपानात्मक स्थिति में रहती है[18] जहां सत्ता का प्रवाह सतह से शीर्ष की गैर होता है और नेतृत्व निर्णय और नियत्रंण का प्रवाह ऊपर से नीचे की ओर होता है। दलों में आन्तरिक लोकतंत्र नेतृत्व की इच्छा से प्रभावित रहता है।

6. ट्रेड यूनियनों से सम्बन्ध

भारतीय राजनीति में दलीय व्यवस्था के क्रियान्वयन का एक प्रमुख तत्व यह रहा है कि अधिकॉश राजनीतिक दल मजदूर संघों से सम्बन्ध बनाये रखने के लिए प्रतिस्पर्द्धारत रहे है।[19] ये संघ समाजीकरण और सदस्यों की भर्ती में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। इतना ही नहीं राजनीतिक दलों का एक सामान्य व्यवहार युवा व विद्यार्थी संगठन खड़ा करने का भी

---

[17] – मारिश डूवर्जर, पूर्वोक्त, पृष्ठ 151
[18] – मैरी थामस, पूर्वोक्त पृष्ठ 18
[19] – वही पृष्ठ 22

रहा है। इन मजदूर संघों व युवा संघों से सम्बन्ध का लाभ पार्टी के कार्यक्रमों के प्रचार प्रसार आन्दोलनों व चुनावों में दल के लिए आक्रामक जनसमर्थन, जुटाना है। अब राजनीतिक दल अपने महिला संगठनों का भी गठन कर रहे है जिससे महिलाओं के बीच से दल के लिए सक्रिय कार्यकर्ता प्राप्त किये जा सकें।

7 . सत्ता की नकारात्मक राजनीति

भारत में राजनीतिक दल जिस तरह से कार्य करते रहे है और कर रहे हैं उससे ऐसा ध्वनित होता है उनका समस्त जोड़–तोड़ व राजनीति सत्ता प्राप्ति से प्रेरित होती है।[20] ठोस सकारात्मक कार्यक्रमों के अभाव में राजनीतिक दल जनता को लुभाने के लिए शार्ट कट राजनीति में विश्वास रखने लगे है। इस दिशा में "आरक्षण" और "मन्दिर" साम्प्रदायिकता और धर्म निरपेक्षता ऐसी वशाखियॉ रही है जिनके सहारे पिछले कुछ वर्षो में राजनीतिक दलों ने सत्ता के गलियारों तक पहुँचने या अपने विपक्षी को अपदस्थ करने का प्रयास किया है। "आरक्षण" अथवा "मन्दिर"के मुद्दे पर एक एक हफ्ते तक संसद की कार्यवाही ठप्प रखना किसी रचनात्मक राजनीति का परिचायक नहीं है। आरक्षण और मन्दिर को ढ़ाल बनाकर सत्ता की सीढ़ियॉ चढ़ना भी किसी रचनात्मक राजनीति का प्रतिरूप नहीं है।

8. क्षेत्रीय दलों का बढ़ता प्रभाव

भारत में छोटे छोटे क्षेत्रीय या राज्य स्तरीय दलों के बनने का इतिहास राजनीति में आत्ममुखी, स्वार्थी एवं महत्तवाकांक्षीं व्यक्तियों के उदय का इतिहास है। ऐसा नहीं है कि स्वतत्रंता संग्राम के दौरान इस प्रकार के छोटे–छोटे क्षेत्रीय दल नहीं थे। ऐतिहासिक तथ्य तो यह है कि आजादी की वास्तविक लड़ाई तो छोटे छोटे ज्ञात–अज्ञात दर्जनों क्षेत्रीय दलों ने ही लडी।[21] किन्तु उन क्षेत्रीय दलों की "लघुता" और क्षेत्रीयता स्ट्रेटेजिक जरूरत थी, उनका लक्ष्य देश की स्वतंत्रता था। यही कारण है कि स्वतंत्रता के बाद जब पहला संसदीय चुनाव हुआ, उस चुनाव में इक्यावन मान्यता प्राप्त छोट–बडे दलों ने हिस्सा लिया था।[22] उसके बाद भी बंगाल कांग्रेस, केरल कांग्रेस उत्कल कांग्रेस, विशाल हरियाणा पार्टी द्रमुक,

[20] – एच. डी. शूरी, पूर्वोक्त पृष्ठ 43
[21] – राजेन्द्र किशोर, पूर्वोक्त , 10–05–2001
[22] – वही

गणतंत्र परिषद, शेतकारी कामगार पार्टी, सम्पूर्ण महाराष्ट्र पार्टी, महागुजरात जनता परिषद व शिवसेना जैसे क्षेत्रीय दल रहे है ।

किन्तु 1967 के बाद से, विशेष रूप से 1977 व 1989 के बाद से, न केवल इन क्षेत्रीय अथवा राज्य स्तरीय दलों की संख्या बढ़ी है बल्कि इनके प्रभाव शाक्ति का भी विस्तार हुआ है। आज स्थिति यह है कि कश्मीर में नेशनल कान्फ्रेस, पंजाब में अकाली दल, उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी व समाजवादी पार्टी, बिहार में राष्ट्रीय जनता दल व समता पार्टी, उड़ीसा में बीजू जनता दल आन्ध्र प्रदेश में तेलगूदेशम, तमिलनाडु में द्रमुक और आल इन्डिया द्रविड मुनेत्रकुड़गम, व महाराष्ट्रमें शिवसेना इस स्थिति में है कि इन्हे नजर अन्दाज कर भारतीय राजनीति के भविष्य का निर्धारण संभव नहीं है। इन क्षेत्रीय दलों में से अधिकॉश की सफलता का मुख्य आधार नेतृत्व का करिश्माई व्यक्तित्व रहा है। इस प्रकार के दलों के उदय के लिए अनेक कारण उत्तरदायी रहे है। जैसे–

1. व्यक्तिगत स्वार्थ व महात्वाकांक्षा
2. सामाजिक व जातीय ध्रुवीकरण
3. केन्द्र राज्य विवाद

यद्यपि इन राज्य स्तरीय अथवा क्षेत्रीय दलों के उदय को पृथकतावादी अथवा संकीर्ण राष्ट्रविरोधी प्रक्रिया के रूप में नहीं देखा जा सकता है।[23] फिर भी इन दलों की उपस्थिति भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में कई चिंतनीय प्रवृत्तियों को जन्म दे रही है। बड़े और राष्ट्रीय दलों में आन्तरिक बिखराव, टूटन, गुटबंदी और छोटे छोटे व्यक्तिगत लाभ के लिए राजनीतिक खेमेबाजी प्रबल होती जा रही है। बड़े और राष्ट्रीय दल राष्ट्रीय संयोजन के स्थान पर विभिन्न मुद्दो पर राष्ट्रीय विभाजन की बात करने लगे हैं। मंडल–कमंडल या धर्मनिरपेक्षता–साम्प्रदायिकता की राजनीति कोई आकस्मिकता नहीं है। परिणामस्वरूप बड़े और राष्ट्रीय दल अपने ढ़कोसलों और नकाबों के बाबजूद बड़ी तेजी से क्षेत्रीय दलों में परिवर्तित होते जा रहे है। दिखावे के लिए राष्ट्रीय दल निर्वाचन के समय प्रत्याशियों का एक पैनल तो तैयार करते हैं मगर चुनाव दर चुनाव क्षेत्रीय आधार पर उनका सिमराव बढ़ता जा रहा है। वे अलग अलग क्षेत्रों में छोटे छोटे दलों पर निर्भर होते जा रहे है। बड़े राष्ट्रीय दलों की क्षेत्रीय दलों के सहयोग पर निर्भरता के कारण विकास तो बाधित हो ही गया है, सैद्धान्तिक लचीलेपन की आवश्यकता और विवशता के कारण उनकी राजनीतिक पहचान भी धूमिल होती जा रही है।

इस सन्दर्भ में राष्ट्रीय दल ''अल्पकालिक'' राजनीतिक गतिविधि वाले राजनीतिक दल बनते जा रहे है और उनका संगठनात्मक आधार और स्परूप नष्ट होता जा रहा है। उनका

[23] – सुशीला कौशिक, ''भारतीय शासन और राजनीति'' हिन्दी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1990 पृष्ठ 432

कोई सैद्धान्तिक, राजनीतिक कार्यक्रम नहीं रह गया है इसलिए उनके संगठनात्मक संरचना, की आवश्यकता भी समाप्त हो गई है। वे सत्ता में आने के लिए उन पर पूरी तरह निर्भर हो गये है, जो किसी भी उपाय से चुनाव जीत सकते है। आज जो सबसे खतरनाक तथ्य उभर कर सामने आ रहा है, वह यह है कि क्षेत्रीय दल बडी तेजी से राष्ट्रीय दलों का व्यक्तिकरण और क्षेत्रीयकरण कर रहे है।राष्ट्रीय दलों की क्षेत्रीय दलों पर निर्भरता बढ़ती जा रही है।

भारत के दलीय प्रणाली की उक्त विशेषतायें गठबंधन की राजनीति को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक है। अतः गठबंधन की राजनीतिक के सम्बन्ध में इनका अवलोकन अपरिहार्य था। इन तथ्योंकी पुष्टि मुल्यांकन व विश्लेषण चौथे और पॉचवे अध्याय में किया जायेगा।

भारत के प्रमुख राजनीतिक दल

चूँकि देश में गठबन्धन की राजनीति के प्रमुख पात्र राजनीतिक दल है इसलिए इनका संक्षिप्त परिचय प्राप्त कारना अनिवार्य हो जाता है। भारत की बहुदलीय प्रणाली में राजनीतिक दलों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है–

1. राष्ट्रीय दल और
2. क्षेत्रीय / राज्य स्तरीय दल

1 . राष्ट्रीय राजनीतिक दल

वर्तमान समय में भारतीय राजनीति में मान्यता प्राप्त प्रमुख राष्ट्रीय दल निम्न है –

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का नाम"भारत के राष्ट्रीय जीवन एवं स्वाधीनता संघर्षके साथ बहुत घनिष्ठता से जुड़ा हुआ है। 1885 में स्थापित कांग्रेस ने देश को राजनीतिक स्थायित्व प्रदान करके लोकतान्त्रिक पथ की ओर अग्रसर किया।

कांग्रेस का संगठन

भारतीय राजनीतिक व्यवस्था की एक विशेषता यह है कि जहां शासन का ढ़ॉचा संघात्मक है वहीं राजनीतिक दलों का ढ़ॉचा एकात्मक। कांग्रेस की सभी इकाइयॉ, स्थानीय

से लेकर राष्ट्रीय तक हाईकमान के नेतृत्व के अधीन है। ग्राम या मोहल्ला कांग्रेस कमेटी कांग्रेस संगठन की आधारभूत इकाई है। जिसके ऊपर तहसील या तालुका सीमितियॉ, जिला समितियाँ और उन पर प्रदेश या प्रान्तीय कांग्रेस समितिया होती है। प्रदेश या प्रान्तीय कांग्रेस समिति के अन्तर्गत प्रत्येक प्रान्त में जिला और मध्यम समितियाँ होती है जिनका क्षेत्र प्रदेश कांग्रेस समिति निर्धारित रकती हैं। प्रान्तीय कांग्रेस समितियों के ऊपर कांग्रेस का राष्ट्रीय अथवा अखिल भारतीय संगठन होता है जो एक अध्यक्ष, एक कार्यकारिणी समिति, एक अखिल भारतीय कांग्रेस समिति और कांग्रेस के खुले वार्षिक अधिवेशन से मिलकर बना है। कार्यकारिणी समिति, दल की सर्वोच्च कार्यपालिका अंग है। इनमें अध्यक्ष सबसे महत्वपूर्ण है। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति न केवल कांग्रेस की कार्यकारिणी है बल्कि एक छाया मन्त्रिमण्डल है। कार्यकारिणी समिति में प्रधानमत्रीं का महत्वपूर्ण स्थान होता है।

कांग्रेस के संसदीय कार्यो के नियन्त्रण और समन्वंय के लिए कांग्रेस की कार्यकारिणी समिति एक संसदीय बोर्ड की स्थापना करती है जिसमें कांग्रेस अध्यक्ष तथा अन्य सदस्य रहते है। इसके अतिरिक्त संसदीय बोर्ड के सदस्यों और अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के द्वारा चुने गए सदस्यों को मिलाकर एक केन्द्रीय निर्वाचन समिति का गठन किया गया है जो देश में केन्द्र और राज्यों की विधान सभाओं का चनुाव लड़ने के लिए योग्य प्रत्याशियों की छॅटनी में अपना अन्तिम निर्णय देती है। दल में महिला कांग्रेस और युवक कांग्रेस की इकाइयॉ होती है जिसके अध्यक्ष और कार्यकारिणी होती है ।

कांग्रेस दल की चुनावी राजनीति का इतिहास

भारत में अब तक 14 संसदीय निर्वाचन सम्पन्न हो चुके है उनमें से आठ में कांग्रेस की सफलता मिली। सन् 1991 के लोकसभा चुनाव में कांग्रेस (इ) सबसे बडे दल के रूप में उभरी और सरकार बनाने में सफल रही है। 1977 में मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जनता पाटी, 1989 में विश्वनाथ प्रताप सिंह, 1996 में संयुक्त मोर्चे के देवगौड़ा एवं गुजराल तथा भाजपा के बाजपेयी के नेतृत्व में तथा 1998,1999 में पुनः भाजपा सरकार सत्तारूढ़ हुई, लेकिन ये सरकारें पूरे समय सत्ता में नही रहीं। दलबदल या दल विभाजन के कारण इन गैर–कांग्रेसी सरकारों का पतन हो गया। सन् 1999 के लोकसभा चुनाव में कांग्रेस (इ) को अब तक की सबसे करारी पराजय का सामना करना पड़ा और उसे मात्र 114 स्थान ही प्राप्त हुए। साथ ही कांग्रेस (इ) को लोकसभा में विपक्ष बैठना पड़ा। 2004 में हुए 14वें लोक सभा चुनावों में कांग्रेस नीत गठबंधंन को बहुमत मिला और कांग्रेस के नेतृत्व में गठबंधन सरकार

बनी। यह पहला अवसर था जब कांग्रेस ने स्वयं किसी गठबंधन सरकार के नेतृत्व के लिये पहल किया।

कांग्रेस की नीतियॉ और कार्यक्रम

पंडित जवाहलाल नेहरू से लेकर नरसिम्हाराव तक के कार्यकाल में कांग्रेस की नीतियों और कार्यक्रमों का विश्लेषण किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि लोकतन्त्र, धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद इस दल की नीतियों के तीन आधार स्तम्भ रहे है। 1952 से लेकर 1996 एवं 1999 तक के संसदीय चुनावों में जारी धोषणा पत्र से कांग्रेस की नितीयां और कार्यक्रम स्पष्ट होते है। कांग्रेस की प्रमुख नीतियों और कार्यक्रमों में धर्मनिरपेक्षता और समाजवाद में अटूट आस्था, साम्प्रदायिक सद्भाव, अल्पसंख्यक कल्याण, गरीबी उन्मूलन, सामाजिक न्याय और गुटनिरपेक्षता को गिनाया जा सकता है।

स्वतन्त्रता से लेकर वर्तमान तक काग्रेस की उल्लेखनीय उपलब्धियॉ रही है। देश में राजनीतिक स्थिरता, संसदीय लोकतन्त्र का सफलता के साथ क्रियान्वयन, देश का धर्म निरपेक्ष स्वरूप बरकरार, लोकतान्त्रिक समाजवाद का आदर्श, नियोजित आर्थिक विकास, सामाजिक न्याय की प्राप्ति, सामन्तवाद, जागीरदारी तथा जमीदारी प्रथा का उन्मूलनं, देश में आधुनिकीरण का सूत्रपात, भारत में संधात्मक व्यवस्था की बरकरारी, विश्व में साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद तथा रंगभेद के विरूद्ध वातावरण तैयार करने तथा विश्व शान्ति में भारत के सकारात्मक योगदान जैसे अनेक ऐसे बिन्दु हैं जो भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में इस दल के योगदान को उजागर करते है।

इन उपलब्धियों के साथ साथ इस दल की असफलताओं का मूल्यॉकन करना भी आवश्यक बन जाता है। स्वतन्त्रता के पश्चात् मार्च 1977 से जनवरी, 1980 तथा नवम्बर, 1989 से जून 1991 एवं 1996–1998 के सीमित काल के विपक्षी शासन को छोडकर ग्यारहवीं लोकसभा के गठन के पूर्व तक यही दल सत्ता में रहा। इतने वर्षों में देश की राजनीतिक व्यवस्था का सिंहावलोकन किया जाये तो अनेक कमजोरयॉ तथा अक्षमताएँ स्पष्ट रूप से उजागर होती है। कांग्रेस ने जिन नीतियों और कार्यक्रमों को अपनाया, उससे जनसाधारण के जीवन में कोई क्रातिकारी परिवर्तन नहीं आया। धनिक और निर्धन वर्ग के बीच अन्तर बढ़ा है और गरीबी रेखा के नीचे जीने वाले लोगों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हुई है। अनुसूचित जातियों और जनजातियों पर होने वाले आत्मचार सामाजिक न्याय की भावना को खोखला सिद्ध करते है। कांग्रेस द्वारा दलबदल का सहारा लेकर विपक्षी दलों की शक्ति को सदैव कमजोर करने के प्रयास किये गये, जिसका परिणाम यह हुआ कि देश में सशक्त विपक्ष का

अभ्युदय नहीं हो सका। समाजवाद का नारा तो बुलन्द किया गया, लेकिन देश की अर्थव्यवस्था पर औद्योगिक घरानों का एकाधिकार तथा प्रभुत्व निरन्तर स्थापित होता गया। सभी स्तरों पर भ्रष्टाचार का विकास हो गया। सार्वजनिक जीवन में मूल्यों का संकट बढ़ा। नौकरशाही का पूरी तरह से जनतान्त्रिकीकरण नहीं हो सका। जम्मू कश्मीर तथा पंजाब, उत्तरी पूर्वी राज्यों की अशान्त स्थिति के लिए इस दल को ही उत्तरदायी माना जाता है।

भारतीय जनता पार्टी

भारतीय जनता पार्टी 1980 के चुनावों से पूर्व का भारतीय जनसंघ का नया संस्करण है। भारतीय जनसंघ की स्थापना प्रथम आम चुनावों के कुछ समय पूर्व 1951 में हुई थी। इसका पहला सम्मेलन कलकत्ता में हुआ जिसमें इसके संस्थापक डॉ0 श्यामाप्रसाद मुकर्जी को अध्यक्ष चुना गया। इसके कुछ समय पूर्व पंजाब, पेप्सू, हिमाचल प्रदेश और दिल्ली के प्रतिनिध जालंधर में मिलकर एक और जनसंघ का सूत्रपात कर चुके थे। दोनों के बीच 1 अक्टूबर 1951 को विलय सम्पन्न हो गया और मुकर्जी इस अखिल भारतीय जनंसघ के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। 1952 के बाद के चुनावों में जनसंघ ने अच्छी सफलता अर्जित की। लोकसभा में इसने 1957, 1962, 1967 और 1971 (मध्यावधि) में क्रमशः 4,14, 35 और 22 सीटें प्राप्त की। जनसंघ अपनी एकता को बनाए नहीं रख सका। दल से निष्कासित होने के बाद इसके वरिष्ठ नेता बलराज मधोक ने अप्रैल 1973 में राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक संघ नामक एक नए दल का निर्माण कर लिया जा आगे चलकर भारतीय लोकदल में विलीन हो गया।

18 जनवरी, 1977 को छठी लोकसभा का चुनाव कराने की घोषणा के बाद ही जनसंघ ने जनता पार्टी में अपने विलय की धोषणा की। जनता पार्टी में जनसंध घटक के लोगों की सुदृढ़ स्थिति थी। 1980 के लोकसभा के चुनावों में जनता पार्टी की पराजय के पश्चात जनसंघ घटक के लोगों ने इस पार्टी से नाता तोड़कर 6 अप्रैल, 1980 को नई दिल्ली में एक सम्मेलन में भारतीय जनता पार्टी नाम से नये दल का गठन किया। अटलबिहारी बाजपेयी को दल का प्रथम अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। अपने प्रथम अध्यक्षीय भाषण में बाजपेयी ने निम्नलिखित चार महत्वपूर्ण बिन्दुओं पर जोर दिया–1–भारतीय जनसंघ को पुनर्जीवित नहीं किया जाएगा। 2–भारतीय जनता पार्टी धर्मनिरपेक्षता और गैर मजहबी राज्य में विश्वास करती है। 3–भारतीय जनता पार्टी की आर्थिक नीति का मूलाधार गांधीवादी अर्थव्यवस्था होगी। उनके मत से पं0 दीनदयाल उपाध्याय ने पूर्व जनसंघ के लिए जो आर्थिक नीति तैयार की थी वह पूर्णतया गांधीवाद के अधिक निकट थी। 4–भारतीय जनता पार्टी जे0 पी0 आन्दोलन और सम्पूर्ण क्रान्ति के उद्देश्यों की प्रेरणा का आधार मानकर चलेगी

इस प्रकार भारतीय जनता पार्टी ने जनता पार्टी की जयप्रकाश नारायण की सम्पूर्ण क्रान्ति का आदर्श और गांधीवादी अर्थदृष्टि को विरासत के रूप में स्वीकार किया।

नीति एवं कार्यक्रमः—26 से 29 दिसम्बर 1980 में मुम्बई में भारतीय जनता पार्टी का पहला अधिवेशन सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में दल द्वारा नीति सम्बन्धी प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। इस प्रस्ताव में राज्य के नीति निदेशक तत्वों के महत्व को स्वीकार करने, मौलिक अधिकारों और नीति निर्देशक सिद्धान्तों में विरोध नहीं मानने, निर्धनता दूर करने के लिए विशेष कोष की स्थापना करने, सार्वजनिक क्षेत्र के व्यावसायीकरण करने, निजी क्षेत्र पर कुछ न्यूनतम सामाजिक नियन्त्रण रखने, कृषकों को उनके उत्पादन के प्रतिभूत लाभकारी मूल्य देने, पॉच वर्षो में सबको काम अथवा बेराजगारी भत्ता दिलवाने और ग्रमीण क्षेत्रों में रोजगार की व्यापक योजना को लागू करने जैसे मद्दों पर बल दिया गया। पार्टी ने गांधीवादी समाजवाद के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की।

सन् 1986 के पश्चात् भारतीय जनता पार्टी अपने अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी के नेतृत्व में अपनी नीतियों पर पुनर्विचार करते हुए राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के साथ घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में अग्रसर हुई। इससे दल का गांधीवादी समाजवाद को कायम रखने का आधार कमजोर हो गया। 1989 में सम्पन्न होने वाले लोकसभा के चुनाव में दल के अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी ने चुनाव घोषणा पत्र जारी किया। इस धोषणा पत्र में सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता, अनुच्छेद 370 की समाप्ति, आकाशवाणी तथा दूरदर्शन की स्वायत्तता को कायम करने के लिए एक स्वायतशासी निगम की स्थापना, एक समान नागरिक संहिता का निर्माण करने के, रोजगार गारण्टी की योजना का आरम्भ करने जैसे मद्दों पर बल दिया गया ।

सन् 1989 के लोकसभा चुनाव और 1990 में राज्य विधानसभा के चुनाव में मिली आशातीत सफलता से प्रोत्साहित होकर दल ने "हिन्दू कार्ड" को अपनी नीति का मुख्य आधार बना लिया जिसका रामजन्म भूमि और बाबरी मस्जिद प्रकरण में दल ने खुले रूप से प्रयोग किया। अपने दल के लिए उत्तरी भारत में हिन्दू मतदाताओं को आकृष्ट करने के लिए दल के अध्यक्ष लालकृष्ण आडवाणी ने "सोमनाथ से अयोध्या" तक रथयात्रा प्रारम्भ की जिसे रोकने के लिए सभी दलों ने भारतीय जनता पार्टी से अनुरोध किया, लेकिन भारतीय जनता पार्टी ने इसे अस्वीकार कर दिया। यात्रा के दौरान बिहार में जनता दल की सरकार ने आडवाणी को गिरफ्तार कर लिया। इस पर भाजपा ने राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया, परिणामस्वरूप विश्वनाथ प्रतापसिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार का पतन हो गया और मार्च, 1991 में लोकसभा भंग हो गई। मई, जून 91 में लोकसभा के मध्यवधि निर्वाचन सम्पन्न करानेकी घोषणा हुई। भाजपा ने अधिक आक्रामक

होकर हिन्दू मतदाताओं का समर्थन प्राप्त करने के लिए रामजन्म भूमि पर ''राममन्दिर निर्माण'' करने की अपनी दल की नीति का मूख्य आधार बना लिया। दल द्वारा अयोध्या में ''बाबरी मस्जिद'' या उसके अनुसार तथा कथित विवादास्पद ढ़ॉचे को वहॉ से अन्यत्र स्थानान्तरित करने को कहा गया। मई–जून 1991 के लोकसभा चुनाव में लालकृष्ण आडवाणी द्वारा जो घोषणा पत्र जारी किया गया, उसमें राम रोटी और इन्साफ न्याय का नारा लगाया गया। दल द्वारा अयोध्या में राम मन्दिर निर्माण को राष्ट्रीय अस्मिता का प्रतीक कह कर मन्दिर निर्माण करने हेतु भारतीय मतदाताओं से अपने पक्ष में मतदान करने के लिए अपील की गई। इस चुनाव में भाजपा का आत्मविश्वास इस कदर बढ़ा हुआ था कि दल द्वारा केन्द्र में स्थिर सरकार बनाने के लिए मतदाताओं से अपने पक्ष में अपील की गई। दसवीं लोकसभा के लिए जारी किये गये घोषणा पत्र में सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता, अनुच्छेद 370 की समाप्ति, केन्द्र राज्य सम्बन्धों के सन्दर्भ में अन्तर्राज्यीय आयोग की स्थापना करने सामाजिक न्याय के साथ आर्थिक विकास करने, जम्मू तथा लद्दाख के विकास के लिए क्षेत्रीय विकास परिषद का गठन करने, आणविक हथियारों का उत्पादन करने, सारे देश में समान नागरिक संहिता का निर्माण करने के लिए एक न्यायिक आयोग की स्थापना करने, मूल्य वृद्धि पर रोक लगाने, सारे देश में अन्त्योदय योजना और रोजगार गारण्टी का प्रारम्भ तथा महिलाओं और युवकों के उत्थान के लिए अलग कार्यक्रम प्रारभ्भ करने का आश्वासन दिया गया।

सन् 1991 से 1993 की अवधि के बीच दल की नति में कोई अन्तर नहीं हुआ। जयपुर में आयोजित दल के अधिवेशन में डॉ0 मुरली मनोहर जोशी को दल का अध्यक्ष निर्वाचित किया गया। उत्तर प्रदेश में कल्याण सिंह के नेतृत्व वाली भाज़पा सरकार ने खुलेआम अयोध्या में राम मन्दिर के निर्माण में आने वाली सभी बाधाओं को समाप्त करने का संकल्प व्यक्त किया।

दल का चुनावी इतिहास

भाजपा की स्थापना के बाद इस दल ने मई, 1980 में सम्पन्न होने वाले विधानसभाई चुनावों में भाग लिया, जिसमें उसे 2242 स्थानों में से 147 स्थान प्राप्त हुए। मध्य प्रदेश में 60 और राजस्थान में 32 स्थानों पर विजय प्राप्त कर इस दल ने इस राज्यों में मान्यता प्राप्त विपक्षी दल का दर्जा प्राप्त किया। प्रारम्भिक वर्षो में दल की यह सफलता आशातीत थी। मई 1982 में सम्पन्न होने वाले लोकसभा के 7 उपचुनावों में से 2 पर विजय प्राप्त कर इस दल ने अपनी सम्मानजनक उपस्थिति दर्ज कराई। सन् 1983 के हरियाणा विधानसभा चुनाव में

चौधरी देवीलाल के नेतृत्व वाले लोकदल के साथ भारतीय जनता पार्टी ने मिलकर चुनाव लड़ा और लोकदल भारतीय जनता पार्टी का गठजोड़ सर्वाधिक स्थानों पर विजय प्राप्त करके सबसे बडे गठबन्धन के रूप में उभरा। दिसम्बर 1984 के लोकसभा चुनाव भाजपा के लिए अत्यन्त निराशाजनक रहे और इसे मात्र दो स्थान हीं प्राप्त हुए। मार्च 1985 में सम्पन्न 11 राज्य विधानसभाओं की कुल 2534 सीटों में से भाजपा को 171 स्थानों पर विजय प्राप्त हुई। मध्य प्रदेश और राजस्थान में इस दल को अच्छी सफलता प्राप्त हुई और इन राज्यों में उसे मान्यता प्राप्त विपक्षी दल का दर्जा प्राप्त हुआ। सन् 1987 के हरियाणा विधानसभा के चुनाव में लोकदल (ब) और भाजपा का गठबन्धन बहुमत प्राप्त करने में सफल रहा। देवीलाल के नेतृत्व में लोकदल (ब) और भाजपा की मिली जुली सरकार सत्तारूढ़ हुई। सन् 1989 के लोकसभा चुनाव में इस दल को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। लोकसभा में इसकी सदस्य संख्या 2 से बढ़कर 86 हो गई और चन्द्रशेखर के प्रधानमंत्रित्व काल में भाजपा लोकसभा में मान्यता प्राप्त विपक्षी दल बन गया। लालकृष्ण आडवाणी लोकसभा में विपक्ष के नेता बने। जनवारी 1990 में सम्पन्न हुए राज्य विधानसभाओं के चुनाव में भाजपा को शानदार सफलता प्राप्त हुई। मध्य प्रदेश और हिमाचल में इसे पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। गुजरात तथा राजस्थान में यह सबसे बडे दल के रूप में उभरा। मध्य प्रदेश, हिमाचल और राजस्थान में भारतीय जनता पार्टी के मुख्यमत्रीं सत्तारूढ़ हुए। गुजरात में भाजपा चिमन भाई पटेल के नेतृत्व में जनता दल के साथ संविद् सरकार में शामिल हुई। जब केन्द्र में भाजपा ने राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया तो राजस्थान में जनता दल ने भैरोसिंह शेखावत मन्त्रिमण्डल से अपना समर्थन वापस ले लिया। गुजरात में भाजपा चिमनभाई मन्त्रिमण्डल से अलग हो गई। राजस्थान में भैंरोंसिंह शेखावत ने जनता दल को विघटित कराकर अपनी सरकार को बचा लिया। सन् 1991 के लोकसभा चुनाव में भाजपा ने अपनी शक्ति में वृद्धि करते हुए अपनी सदस्य संख्या 86 से बढ़ाकर 119 कर दी। लोकसभा और राज्यसभा में क्रमशः लालकृष्ण आडवाणी और सिकन्दर वख्त विपक्ष के नेता बने। उत्तर प्रदेश विधानसभा के चुनाव भी साथ में सम्पन्न हुए। उत्तर प्रदेश में भाजपा को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। यह भाजपा की शक्ति का उत्कर्ष था। कल्याणसिंह के नेतृत्व में भांजपा सरकार राज्य में सत्तारूढ़ हुई। 1991 में कर्नाटक और महाराष्ट्र विधानसभाओं के चुनावों में भांजपा अपना जनाधार विस्तृत करने में सफल रही। दिसम्बर 1992 में चारों भाजपा सरकारों की बर्खास्तगी इस दल के लिए एक गहरा आघात था। नवम्बर 1993 में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश और दिल्ली विधानसभाओं के चनुावोंमें भाजपा ने बडे ही आत्म विश्वास के साथ अपने को चुनाव संघर्ष में उतारते हुए "आंज पॉच प्रदेश, कल सारा देश" वाला नारा लगाया था, लेकिन चुनावी परिणाम उसकी अपेक्षा के अनुकूल सिद्ध नहीं हुए।

हिमाचल प्रदेश में उसे शर्मनाक पराजय का सामना करना पड़ा। यहां तक कि मुख्यमंत्री शान्ताकुमार भी चुनाव में पराजित हो गये। मध्य प्रदेश में इस दल की करारी पराजय हुई और इसके दिग्गज नेता चुनाव में पराजित हुए। उत्तर प्रदेश में पहले से अधिक मतदाताओं का समर्थन प्राप्त करने के बाबजूद यह राज्य विधान सभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त करने में भी असफल रही। यद्यपि यह राज्य विधानसभा में सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। उत्तर प्रदेश में दल की पराजय इसके लिए बहुत बड़ा आघात था। राजस्थान में यह सबसे बड़े दल के रूप में उभरी और जोड़ तोड़ की राजनीति के माध्यम से यह राज्य में सरकार बनाने में सफल रहीं दिल्ली विधानसभा में इसे भारी सफलता मिली। इस प्रकार से 1993 के राज्य विधानसभा चुनावों ने भाजपा की देश में लोकसभा मध्यावधि चुनाव कराने की मांग को नकार दिया। साथ ही मन्दिर मुद्दे का ठण्डा पड़ जाना भी दल के लिए प्रमुख चिन्तनीय विषय बन कर सामने आया।

सन् 1994 में सम्पन्न हुए कर्नाटक विधानसभा चुनाव में भारतीय जनता पार्टी को भारी सफलता मिली। जहां भंग विधानसभा में इसके मात्र 5 स्थान थे, जो अब बढ़कर 40 हो गये। सन् 1995 में सम्पन्न हुए गुजरात विधानसभा के चुनाव में भारतीय जनता पार्टी को विशाल जनादेश प्राप्त हुआ और यह दल राज्य में दो तिहाई बहुमत प्राप्त करने में सफल रहा। महाराष्ट्र में इस दल की शक्ति में वृद्धि हुई और शिवसेना के साथ मिलकर इसने मिली जुली सरकार बनाई। गुजरात और महाराष्ट्रमें ही भारतीय जनता पार्टी की सफलता इस दृष्टि से महत्वपूर्ण थी कि ये दोनो ही राज्य भारत के सम्पन्नतम राज्य है। सन् 1996 के लोकसभा चुनाव में भारतीय जनता पार्टी 161 स्थान प्राप्त कर सबसे बडे दल के रूप में उभरी। इसके नेता अटलबिहारी बाजपेयी को प्राधानमंत्री पद की शपथ दिलाई गई किन्तु उनकी सरकार अल्पमतीय रही। 1998 के आम चुनावों के उपरान्त सबसे बडे दल के नेता के रूप में चुने जाने के पश्चात् वाजपेयी पुनः प्रधानमंत्री बने।

भाजपा सरकार के एक घटक अन्नाद्रमुक की नेता जयललिता के द्वारा समर्थन वापस लेने के बाद राष्ट्रपति ने सरकार को विश्वास मत हासिल करने का आदेश दिया। सरकार एक मत से पराजित हो गई। परिणामस्वरूप सरकार को त्याग पत्र देना पड़ा। लोकसभा के चुनाव हुए और राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के नेता के रूप में अटल बिहारी वाजपेयी को पुनः तीसरी बार 13 अक्टूबर 1999 को देश का प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। तेरहवी लोक सभा के चुनावों में इस दल को 182 स्थान प्राप्त हुए। चौदहवीं लोकसभा चुनावों में इसे पहले की तुलना में कम स्थान प्राप्त हुए और सत्ता से बेदखल होना पड़ा।

भारतीय साम्यवादी दल

भारतीय साम्यवादी दल देश का एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय दल है। इस दल के संस्थापक नेताओं में श्रीपद अमृत डॉगे, भूपेश गुप्त, जे0ऐ0 अहमद और सी0 राजेश्वरराव के अलावा दल के प्रमुख नेताओं में इन्द्रजीत गुप्त और चतुरानन मिश्र के नाम सर्वाधिक रूप से उल्लेखनीय है। इस दल का संगठन पूर्व सोवियत संध के साम्यवादी दल की तरह त्रिकोणात्मक रहा है। दल का आधार छोटी छोटी इकाइयों का समूह है। दल की सबसे छोटी इकाई सेल कहलाती है, जिसकी स्थापना किसी कारखाने या अन्य स्थान में की जा सकती है साम्यवादी दल में संगठन की सीढ़ी में ग्राम, नगर, जिला और प्रान्तीय समितियाँ क्रमशः एक के ऊपर एक होती है। प्रत्येक स्तर पर कार्यकारिणी समिति होती है। राष्ट्रीय संगठन के रूप में साम्यवादी दल की एक अखिल भारतीय कांग्रेस है, जो अपने वार्षिक अधिवेशन में दल का महासचिव निर्वाचित करती है जो दल का सबसे शक्तिशाली व्यक्ति माना जाता है। दल के महासचिव की दल की गतिविधयों के संचालन करने में महत्वपूर्ण भूमिका होती है। वह दल की नीतियों का अधिकृत प्रवक्ता व समन्वयकर्ता माना जाता है जो दल की संगठनात्मक गतिविधियों में समन्वय स्थापित करता है। दल की अखिल भारतीय कांग्रेस द्वारा केन्द्रीय कार्यकारिणी का निर्वाचन किया जाता है। इस केन्द्रीय समिति का एक अन्तरंग समूह होता है जिसे उसी परम्परा के अनुसार पोलित ब्यूरों कहा जाता है जिसकी दल में शीर्षस्थ भूमिका होती है। यह दल के लिए नीतियों का निर्धारण एवं सभी गतिविधियों का संचालन करता है। पोलिट ब्यूरों सामूहिक नेतृत्व परम्परा का भी प्रतीक होता है। इसमें दल के महासचिव के अतिरिक्त कतिपय वरिष्ठ सदस्य होते है, जिनकी दल में महत्वपूर्ण स्थिति होती है। दल में भर्ती के नियम काफी कठोर है। पक्के और अनुशासित लोग साम्यवादी दल के सदस्य बन सकते है। कोई 18 वर्ष का या इससे अधिक का व्यक्ति इस दल का सदस्य बन सकता है। जहां तक दल में शक्ति और स्थिति का प्रश्न है सारी शक्ति दल के पोलिट ब्यूरों में केन्द्रित होती है। साम्यवादी दल का नेतृत्व अन्य दलों की अपेक्षा बुजुर्ग नेताओं के हाथ में रहा है बहुत लम्बे समय तक श्रीपाद अमृत डॉगे और सी0 राजेश्वरराव का इस दल पर वर्चस्व रहा है।

साम्यवादी दल अपने संगठनों और सदस्यों को दल के मुख्यालय द्वारा जारी पत्रिकाओं, पैम्फलेटों तथा पार्टी पत्रों में शिक्षित करता रहता है। एक पार्टी पत्रिका प्रांतीय तथा जिला समितियों और महत्वपूर्ण सदस्यों को भेजी जाती है। विदेशी पत्र–व्यवहार केवल केन्द्रीय समिति के सदस्यों के लिए होता है। पार्टी की इस संचार व्यवस्था तथा सैद्धान्तिक शिक्षा का उद्देश्यसदस्यों में सेना की तरह अनुशासन उत्पन्न करना है। इसमें रक्षा, आक्रमण,

युद्ध रेखा, लडाई, पिछली सेना, युद्ध विराम सेनाएँ, सैनिकों, छापामार युद्धकला, हथियारबन्द संघर्ष आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। साम्यवादी दल का अनुशासन सदस्यों की निजी तथा सार्वजनिक कार्यवाहियों तक फैला हुआ है। दल विवाह या तलाक की आज्ञा दे सकता है। दल इस तरीके से सदस्यों के सम्पूर्ण जीवन को ढ़ालता है तथा उनसे दल के प्रति पूर्ण निष्ठा की मांग करता है समय समय पर आदेश तथा निर्देश देने के लिए दल पाठशालाओं का प्रबन्ध करता है।

भारतीय साम्यवादी दल की नितिया और कार्यक्रम मार्क्सवाद तथा लेनिनवाद से प्रेरित है। यह पुरातन सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था के स्थान पर एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहता है जो मार्क्सवाद तथा लेनिनवाद पर आधारित हो, यह दल मजदूरों और किसानों के हितों के संरक्षण का पक्षधर है। यह समाज के कमजोर वर्ग के उत्थान, जमीदारी और जागीरदारी प्रथा का उन्मूलन, भूमिसुधारों को लागू करने, बैंकों का राष्ट्रीयकरण, राजाओं के विशेषाधिकार और प्रिवीपर्स को समाप्त करने, सम्पत्ति पर पूंजीपतियों के एकाधिकार को समाप्त करने, सम्पत्ति के अधिकार को मौलिक अधिकारों से हटाने, किसानों का ऋण और सिंचाई की सुविधा तथा उनके उत्पादों का उचित मूल्य दिलाने, मूल्य स्थिरता को बनाये रखने, सार्वजनिक वितरण प्रणाली को सुदृढ़ करने, सभी नागरिकों को रोजगार के उचित अवसर प्रदान करने, ग्रामीण विकास को महत्व देने, दलबदल पर रोक लगाने, जबरन परिवार नियोजन कार्यक्रम का अन्त करने, भारत के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को सुरक्षित करने, अल्पसंख्यकों की सुरक्षा करने, महिलाओं को वास्तविक समानता का दर्जा प्रदान करने, साम्प्रदायिक शक्तियों का दमन करने, वामपंथी और लोकतान्त्रिक शक्तियों की एकजुटता, राम जन्मभूमि बाबरी मस्जिद विवाद का शान्तिपूर्ण समाधान खोजने और अगर ऐसा नहीं हो सके तो न्यायपालिका के निर्णय के सभी पक्षों को स्वीकार करने, इत्यादि प्रमुख मद्दों परबल देता है। नवम्बर 1989 के लोकसभा के चुनाव में दल द्वारा 33 सूत्रीय कार्यक्रम घोषणा पत्र में वामपंथी लोकतान्त्रिक और धर्म निरपेक्ष शक्तियों की एकजुटता का आहवान किया गया था। 1991 के लोकसभा के चुनाव में भी दल द्वारा जारी किये गये घोषणा पत्र में देश में बढ़ती हुए साम्प्रदायिकता पर चिन्ता प्रकट की गई तथा धर्म स्थलों की स्वतन्त्रता के पूर्व की स्थिति को बनाये रखने की वकालत की गई। 1998 एवं 1999 के आम चुनावों में जारी घोषणा पत्र में पूर्व की नीतियों का समर्थन करने के साथ दल द्वारा वामपंथी, लोकतान्त्रिक और धर्म निरपेक्ष शक्तियों से एकजुट होकर साम्प्रदायिक शक्तियों को पराजित करने की अपील की गई।

भारतीय साम्यवादी दल (मार्क्सवादी)

सन् 1964 में अखिल भारतीय साम्यवादी दल के एक बहुत बड़े वर्ग ने रूस चीन के सैद्धान्तिक मतभेद के परिप्रेक्ष्य में एक नीवन दल का गठन किया जो सोवियत संघ के संशोधनवाद का घोर विरोधी था। इस नवीन दल का नाम ''मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी'' रखा गया और घोषणा की गई कि यह नवीन दल देश में समाजवाद एवं साम्यवाद की स्थापना करने के लिए उन भारतीय श्रम जीवियों का प्रभावी संगठन होगा जो कि मार्क्सवाद और लेनिनवाद के प्रति अटूट आस्था रखते हैं तथा जो प्राथमिक चरण के रूप में इस देश में जनवादी लोकतान्त्रिक राज्य की स्थापना करना चाहते है। मार्क्सवादी साम्यवादी दल दक्षिणपंथी साम्यवादी दल की तुलना में अधिक उग्र वामंपथी दल है। इसके संस्थापनक नेताओं में प्रमोददास गुप्ता, ज्याति बसु, ई0एम0एस0 नम्बूद्रीपाद, हरकिशनसिंह सुरजीत, ए0के0 गोपालन, पी0 राममूर्ती और टी0 रणदिवे का नाम उल्लेखनीय है। हरकिशनसिंह सुरजीत दल के महासचिव तथा मुख्य नीति निर्धारकों में से है। 1969 में राष्ट्रपति डॉ0 जाकिर हुसैन की मृत्यु के बाद राष्ट्रपति के निर्वाचन और कांग्रेस के विभाजन की प्रक्रिया में मार्क्सवादी दल ने श्रीमती गांधी का समर्थन किया था, परन्तु बाद में 1970के अन्त में दल में इस विचार ने जोर पकडा कि इससे मार्क्सवादी दल कांग्रेस से दब जाएगा और उसका क्रान्तिकारी स्वरूप समाप्त हो सकता है। इस कारण दल ने कांग्रेस के सम्बन्ध में अपनी नीति बदल ली।

मार्च 1977 के लोकसभा के चुनावों के समय मार्क्सवादियों ने जो चुनाव घोषणा पत्र जनता के सामने रखा वह एक प्रकार से ''राष्ट्रीयकरण का अर्थतन्त्र'' था जो मजदूर वर्ग के नेतृत्व में जन लोकतंत्र स्थापति करना करना चाहता है। मार्क्सवादी दल लोगो की प्रभुसत्ता के आधार पर एक नये संविधान का पक्षधर है जिसमें समानुपातिक प्रतिनिधित्व की अनुमति होगी और राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं होगा। मार्क्सवादियों के अनुसार राज्यपाल का पद तथा केन्द्रीय एवं राज्य विधान मण्डलों में द्वितीय सदनों को समाप्त कर देना चाहिए। मार्क्सवादी दल राज्य को अधिक शक्तियॅा प्रदान करने, सभी नागरिकों को समान अधिकार, सभी भाषाओं के लिये समानता का समर्थक है।

जनता दल—अक्टूबर 1988 में चौधरी देवीलाल के प्रयासों से जनतादल का गठन किया गया। 1989 के इन चुनावों में कांग्रेस (इ) की पराजय हुई। राष्ट्रीय मोर्चा 144 स्थानों पर विजयी रहा जिसमें 141 स्थान जनता दल के थे जनता दल संसदीय दल के नेता पद के लिए तीन नाम उभर कर सामने आये—सर्वश्री विश्वनाथ प्रतापसिंह, चन्द्रशेखर और चौधरी देवीलाल। जनता दल संसदीय दल की बैठक में चौधरी देवीलाल को सर्वसम्मति से नेता

निर्वाचित किया गया, लेकिन उन्होने विश्वनाथ प्रताप सिंह का नाम प्रस्तावित कर दिया, जिसका संसदीय दल ने अनुमोदन कर दिया। इस निर्णय से क्षुब्ध हुए वरिष्ठ नेता चन्द्रशेखर बैठक से उठकर चले गए यही से जनता दल में फूट के बीज पड़ गये। राष्ट्रीय मोर्चा के नेता निर्वाचित किये जाने पर विश्वनाथ प्रताप सिंह को प्रधानमंत्री बनाया गया। चौधरी देवीलाल को उपप्रधानमंत्री और कृषि मंत्री बनाया गया। सत्ता में आने के बाद प्रधानमंत्री और उपप्रधानमंत्री के बीच दूरीयॉ बढ़ती गई हरियाणा में मेहम प्रकरण के बाद जो राजनीतिक धटनाए हुई, उन्होने इस दूरी को बहुत बढ़ा दिया इसकी चरम परिणति उपप्रधानमंत्री चौधरी देवीलाल की केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल से बर्खास्तगी के रूप में हुई। इसके बाद चौधरी देवीलाल और चन्द्रेशखर के बीच नजदीकियॉ बढ़ी। विश्वनाथ प्रतापसिंह ने एक व्यक्ति एक पद के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए जनता दल के अध्यक्ष पद से त्यागपत्र दे दिया जनता दल अध्यक्ष पद के लिए दल के प्रमुख व्यक्तियों में वर्चस्व की लड़ाई चली। अन्त में चौधरी देवीलाल के समर्थन में कर्नाटक मुख्यमत्री एस0आर0 बोम्मई को दल का अध्यक्ष बनाया गया ।

सन् 1990 में राज्य विधानसभाओं के निर्वाचन सम्पन्न हुए। उत्तार प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, और गुजरात में जनता दल की सरकारें सत्तारूढ़ हुई। राजस्थान में यह दल भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाली सरकार में शामिल हुआ। हरियाणा में यह दल पहले से सत्तारूढ़ था। मुलायम सिंह यादव (उत्तर प्रदेश), लालूप्रसाद यादव (बिहार), चिमनभाई पटेल (गुजरात), बीजू पटनायक (उड़ीसा) और बनारसीदास तथा ओमप्रकाश चौटाल। (हरियाणा) जनता दल के मुख्यमंत्री थे। जनता दल की एकता में प्रारम्भ से ही सन्देह व्यक्त किया जा रहा था। विश्वनाथ प्रताप सिंह की कार्यशैली, चौधरी देवीलाल की किग मेकर की भूमिका और उनका पुत्र प्रेम, चन्द्रशेखर की राजनीतिक पैतरेबाजी, मण्डल मुद्दे पर रामविलास पासवान और शरद यादव का दबाव मुलायमसिंह यादव, लालू प्रसाद यादव, बीजू पटनायक तथा चिमनभाई पटेल जैसे क्षेत्रीय क्षत्रपों का अभ्युदय दल के अध्यक्ष एस0आर0 बोम्मई की कमजोर भूमिका तथा कांग्रेस (इ) की विघटित करने की रणनीति के कारण इस दल का विभाजन हो गया। केन्द्र में विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व वाली सरकार के पतन के बाद इस दल का विधिवत विभाजन हो गया और चौधरी देवीलाल तथा चन्द्रशेखर के समर्थक इस दल से अलग हो गये और उन्होने जनता दल (समाजवादी)की स्थापना की। शेष बचे दल को जनता दल (बोम्मई) के रूप में जाना गया।

सन् 1991 के लोकसभा चुनाव में जनता दल की शक्ति में भारी कमी आई। इसे मात्र 55 स्थानों पर ही विजय प्राप्त हुई। इसके बाद दल में एकता कायम नहीं रह सकी। अजीतसिंह के नेतृत्व में अनेक सदस्यों ने जनता दल छोड दिया। लोकसभाध्यक्ष शिवराज

पाटिल ने इसे दल विभाजन मानते हुए नये दल को जनता दल (अ) के रूप में मान्यता दे दी। बाद में अजीत सिंह और उसकेसमर्थक कांग्रेस (इ) में शामिल हो गये। जनता दल (बोम्मई) में मण्डल समर्थको का प्रभाव बढ़ता गया। सन् 1993 में विश्वनाथ प्रताप सिंह ने जनता दल के नेता पद से त्यागपत्र दे दिया। उसके स्थान पर शरद यादव को लोकसभा में दल का नेता निर्वाचित किया गया। नरसिम्हाराव के नेतृत्व वाली कांग्रेस (इ) की सरकार द्वारा मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू किये जाने के निर्णय को अपने दल की नीतियों की विजय बताया गया। दल द्वारा सामाजिक न्याय के मुख्य मुद्दा बनाया गया।

नवम्बर 1993 के विधानसभायी चुनावो के पूर्व जनता दल के एकीकृत स्वरूप को पुनर्जीवित करने के प्रयास किये गये। जनता दल (बोम्मई), जनता दल (अजीत) और जनता दल (समाजवादी) के नेताओं में इस बात पर सहमति हुई कि विधानसभा चुनावों के पश्चात विलय की प्रक्रिया को पूरा कर लिया जायेगा। जनता दल द्वारा उत्तर प्रदेश में मुलायमसिंह यादव को अपने दल के साथ गठजोड करने की अपील की गई जिसें उन्होने अस्वीकार कर दिया। इस चुनाव में विश्वनाथ प्रतापसिंह के बीमार होने के कारण चुनाव प्रचार का उत्तरदायित्व मुख्य रूप से बिहार के मुख्यमंत्री लालूप्रसाद यादव पर था। इस चुनाव में जनता दल को करारी पराजय का सामना करना पड़ा। उत्तर प्रदेश में इसे मात्र 27 तथा राजस्थान में 6 स्थान प्राप्त हुए। राजस्थान में जनता दल में फूट पड़ गई। इसके 2 सदस्यों ने अपने दल से अलग होकर भारतीय जनता दल की स्थापना की। सन् 1994 के कर्नाटक विधानसभा चुनावा में जनता दल को भारी सफलता प्राप्त हुई और स्पष्ट बहुमत प्राप्त किया। एच0 डी0 देवेगौड़ा को नेता निर्वाचित किये जाने पर उन्हें मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाई गई। 1995 में सम्पन्न बिहार विधानसभा के चुनाव में राज्य के मुख्यमंत्री लालू प्रसाद यादव का करिश्मा एकबार पुनः कायम रहा और जनता दल को राज्य विधानसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। यादव पुनः राज्य के मुख्यमत्री बने, लेकिन इन चुनावों के पूर्व जार्ज फर्नाडीस और नीतिश कुमार जनता दल से अलग हो गये और उन्होने समता पार्टी की स्थापना कर ली। बिहार के चुनाव में समता पार्टी की करारी पराजय हुई। सन् 1995 के उड़ीसा राज्य विधानसभा चुनाव में बीजू पटनायक के नेतृत्व में जनता दल की पराजय हुई और उसे सत्ता से अपदस्थ होना पड़ा।

हवाला प्रकरण में दल के अध्यक्ष एस. आर. बोम्मई और जनता दल संसदीय दल के नेता शरद यादव ने त्यागपत्र दे दिया। बिहार के मुख्यमत्री लालूप्रसाद यादव को दल का नया अध्यक्ष मनोनीत किया गया और 1996 का लोकसभा का चुनाव उन्हीं के नेतृत्व में लड़ा गया। सन् 1996 के लोकसभा चुनाव में जनता दल को बिहार और उड़ीसा में अपेक्षाकृत सफलता नहीं मिली लेकिन कर्नाटक में इस दल को उल्लेखनीय सफलता मिली। इस

लोकसभा निर्वाचन में दल को 45 स्थान प्राप्त हुए जो 1991 की तुलना में 10 स्थान कम थे। इसी दल के नेता और कर्नाटक के मुख्यमंत्री एच. डी. देवेगौडा कांग्रेस के बाहरी समर्थन से प्रधानमंत्री के पद पर आसीन हुए। शरद यादव को दल का नया कार्यकारी अध्यक्ष बनाया गया। 1998 के लोक सभायी चुनावों में बड़ें नेताओं को छोड़कर इस दल का लगभग सफाया हो गया।

1999 के लोकसभा निर्वाचन से पूर्व जनता दल के अध्यक्ष शरद यादव ने जनता दल को संगठित करने का प्रयास किया। इस अभियान के तहत उन्होंने लोकशक्ति के नेता तथा पूर्व प्रधानमंत्री एच.डी. देवेगौडा के प्रतिद्वन्द्वी रामकृष्ण हेगड़े को जनता दल में सम्मिलित कर लिया। इसी समय जनता दल ने भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतोंत्रिक गठबन्धन में सम्मिलित होकर 1999 का लोकसभा निर्वाचन लड़ने का निर्णय लिया। परिणामस्वरूप एच.डी. देवेगौडा ने साम्प्रदायिकता के नाम पर अपने समर्थित गुट के साथ जनता दल से अलग होकर जनता दल (एस) नाम से दल बना लिया जबकि शरद यादव ने जनता दल को जनता दल (यूनाइटेड) नाम दिया। इस दल में रामविलास पासवान, रामकृष्ण हेगड़ आदि महत्वपूर्ण नेता सम्मलित थे। जनता दल (यूनाइटेड) ने 1999 के लोकसभा निर्वाचन में 21 स्थानों पर विजय प्राप्त की तथा जनता दल (सेक्यूलर) की पराजय हुई। यहां तक कि एच. डी. देवेगौडा स्वयं निर्वाचन में हार गये। जनता दल (यूनाइटेड) भाजपा गठबन्धन सरकार में शामिल रही। शारद यादव; रामविलास पासवान, दिग्विजय सिंह, वी. श्रीनिवास प्रसाद को मन्त्रिमण्डल में सम्मलित किया गया।

क्षेत्रीय दल

भारत में प्रमुख रूप से तीन प्रकार के क्षेत्रीय दल है। पहले वे क्षेत्रीय दल है जो वास्तव में जाति, धर्म, क्षेत्र अथवा सामुदायिक हितों का प्रतिनिधित्व करते है और उन पर आधारित है। इसके प्रमुख उदाहरण–तमिलनाड़ में द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, अन्ना द्रमुक, तमिल मनीला कांग्रेस, पंजाब में अकाली दल, जम्मू कश्मीर में नेशनल कॉन्फ्रेंस, महाराष्ट्र में शिव सेना, बिहार में झारखण्ड पार्टी, आन्ध्र प्रदेश में तेलगुदेशम, असम में असम गण परिषद, मणिपुर में मणिपुर पीपुल्स पार्टी तथा हरियाणा में हरियाणा विकास पार्टी है। दूसरे प्रकार के क्षेत्रीय दल वे हैं जो किसी समस्या विशेष को लेकर अथवा सदस्यों की क्षुब्धता के कारण राष्ट्रीय दलों से अलग होकर बने है। इनमें से अधिकतर दल कुछ समय के लिए राष्ट्रीय रहे है। ऐसे दलों में भारतीय क्रान्ति दल, बंगला कांग्रेस, उत्कल कांग्रेस, केरल कांग्रेस, तेलंगाना प्रजासमिति, विशाल हरियाणा तथा हरियाणा विकास पार्टी इत्यादि दल सम्मिलित किए जा

सकते है। तीसरे प्रकार के दल वे है जो विचारधारा तथा लक्ष्यों के आधार पर तो राष्ट्रीय दल है परन्तु उनका समर्थन केवल कुछ लक्ष्यों तथा कुछ मामलों में कूछ क्षेत्रों तक सीमित है। इस प्रकार के दल फारवर्ड ब्लाक, सोशलिस्ट युनिटी सेन्टर, किसान मजदूर पार्टी, मुस्लिम लीग तथा क्रान्तिकारी सोशलिस्ट पार्टी इत्यादि है। प्रमुख क्षेत्रीय दलों को निम्नानुसार रखा जा सकता है ।

द्रविड मुनेत्र कड़गम

तमिलनाडु का द्रविड़ मुनेत्र कड़गम क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दलों में अपना विशेष महत्व और प्रभाव रखरता है। 1949 में सी0 एन0 अन्नादुराई ने द्रविड़ कड़गम से अलग होकर द्रविड़ मुनेत्र कड़गम दल की स्थापना की जिसका उद्देश्य द्रविड़ परम्परा और संस्कृति की रक्षा करना और तमिल समुदाय को राजनीतिक क्षेत्र में प्रभावी स्थिति प्रदान करना है। 1965 में सम्पूर्ण मद्रास राज्य का नामकरण (वर्तमान में चेन्नई) हिन्दी विरोध के साथ ही ''राज्यों के लिए स्वायत्ता'' इस दल की नीति एवं कार्यक्रम का एक प्रमुख आधार है। द्रमुक औद्योगिक लाइसेंस देने की प्रणाली में आमूल चूल परिवर्तन कर लाइसेंस बॉटने का कार्य राज्यों को सौप देना चाहता है यह दल मिश्रित अर्थतन्त्र का समर्थक है और चाहता है कि देश की योजना में त्रिपक्षीय साझेदारी होनी चाहिए जिसमें सरकार मालिक और श्रमिक सम्मिलित हों।

द्रमुक यह आरोप लगाता रहा है कि दक्षिण की निर्धनता का मुख्य कारण यहां औद्योगीकरण का सीमित विकास है और इसके लिए उत्तर भारतीय व्यापारियों द्वारा दक्षिण पर आर्थिक नियन्त्रण जिम्मेदार है। द्रमुख ने कई अवसरों पर उत्तर भारत को दक्षिण का शोषण करने वाली साम्राज्यवादी शक्ति की संज्ञा दी और कहा कि केन्द्र की सरकार दक्षिण के लोगों की दुर्दशा तथा आर्थिक स्थिरता के प्रति उदासीन है। इस प्रकार दक्षिण की आर्थिक स्वतन्त्रता का प्रश्न, उत्तर के राजनीतिक प्रभुत्व से मुक्ति तथा द्रविड़ संस्कृति को आर्य संस्कृति के नियन्त्रण से पृथकता के साथ जोड़ा गया। संकुचित एवं स्थानीय नीतियों का समर्थक होने के कारण स्वभावतः इस दल को तमिलनाडु की जनता का समर्थन प्राप्त रहा है। सन् 1967 में इस दल ने मद्रास राज्य विधानसभा के चुनावों में उल्लेखनीय विजय कर सी0 एन0 अन्नादुराई के नेतृत्व में द्रमुक मंत्रिमंडल ने शपथ ली। इसके बाद द्रमुक ने राष्ट्रवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए पृथक द्रविड़िस्थान की मांग को छोड़ दिया। 1967 में राज्य विधानसभा के 234 में से 138 स्थान और लोकसभा में 25 में से 25 स्थान इस दल ने प्राप्त किया। अन्नादुराई की मृत्यु के बाद से करूणानिधि को राज्य का नया मुख्यमत्री निर्वाचित

किया गया। नवम्बर 1972 में दल का विभाजन होगया और एम0 जी0 रामचन्द्रन ने अन्ना–द्रमुक की स्थापना की। सन् 1967 से 1975 तक इस दल का राज्य की राजनीति पर वर्चस्व बना रहा। सन् 1975 में तमिलनाडु की द्रमुक सरकार को बर्खास्त करके राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। मार्च 1977 के छठे लोकसभाई चुनावों में द्रमुक का जनता पार्टी के साथ गठबन्धन होने के कारण यह दल अपनी सारी पूर्व सफलताएँ खो बैठा और इसे केवल 1 ही स्थान प्राप्त हुआ। जून, 1977 में तमिलनाडु विधानसभा के चुनाव हुए और 234 स्थानों में से द्रमुक ने केवल 48 स्थान प्राप्त किए। अन्ना द्रमुक ने द्रमुक को लोकसभा और राज्यसभा दोनो मेंगौण स्थिति में ला दिया। 1980 के मध्यावधि लोकसभा चुनावों में द्रमुक ने कांग्रेस (इ) के साथ गठबन्धन कर अपनी स्थिति में आश्चर्यजनक सुधार लाकर 16 स्थान प्राप्त किए। कांग्रेस (इ)को तमिलनाडु में 39 में से 20 स्थान मिले। इससे स्पष्ट हो गया कि तमिलनाडु में किसी राष्ट्रीय दल की अपेक्षा अभी क्षेत्रीय दल द्रमुक का अधिक प्रभाव है। मई, 1980 में हुए राज्य विधानसभा चुनावों में द्रमुक की पुनः पराजय हुई और दिसम्बर 1984 के लोकसभा चुनावों में द्रमुक केवल 1 सीट जीत सकी। लोकसभा के साथ ही तमिलनाडु विधानसभा के चुनाव भी हुए। विधानसभा की 234 सीटों में से द्रमुक 20 सीटें जीत सकी। करूणानिधि अपने प्रभावी व्यक्तित्व के बाबजूद पार्टी को जिता नहीं सके। उन्होंने केन्द्र राज्य सम्बन्ध एवं श्रीलंका में तमिलों की दुरावस्था के मसले उठाए, लेकिन मतदाता दोहरी भावुकता के साथ सत्ताधारी दल से जुडा रहा। सन् 1988 के बाद द्रमुक 7 दलीय राष्ट्रीय मोर्चे का एक घटक अंग बन गया। जनवारी 1989 में तमिलनाडु विधानसभा के चुनाव में द्रमुक को पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। एम0 करूणानिधि मुख्यमंत्री बने। सन् 1990 में इस दल की सरकार को बर्खास्त किया गया। सन् 1991 के संसदीय और विधानसभा चुनाव में इस दल का लगभग सफाया हो गया। सन् 1996 के लोकसभा के चुनाव में पूर्व द्रमुक की स्थिति बहुत कमजोर थी, लेकर राज्य की मुख्यमन्त्री कु0 जयललिता की नीतियों के विरूद्व जन रोष, जी0 के0 मूपनार के नेत्त्व वाली तमिल मनीला कांग्रेस के साथ गठबन्धन तथा फिल्म अभिनेता रजनीकांत के द्रमुक और तमिल मनीला कांग्रेस के गठबन्धन को समर्थन देने के कारण राजनीतिक स्थिति में गुणात्मक परिवर्तन आया। तमिलनाडु की जनता ने द्रमुक–तमिलनु मनीला कांग्रेस के गठबन्धन को पूर्ण समर्थन दिया द्रमुक को लोकसभा में 17 स्थान तथा राज्य विधानसभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। 234 सदस्यीय राज्य विधानसभा में द्रमुक को अकेले ही 168 स्थान प्राप्त हुए। एम0 करूणानिधि के नेतृत्व में राज्य में द्रमुक सरकार सत्तारूढ़ हुई। द्रमुक 1999 में राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन की सरकार में सहभागी बनी। इसे 1999 में लोकसभा के चुनावों में 12 स्थान प्राप्त हुए थे। 2004 के लोकसभा

चुनावों में इसने कांग्रेस के साथ गठबंधन किया और इस गठबंधन को राज्य की सभी सीटें प्राप्त हुई। वर्तमान में यह संप्रग सरकार में शामिल है।

अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम

अविभाजित द्रमुक के अध्यक्ष करूणानिधि और कोषाध्यक्ष एम0जी0 रामचन्द्रन के बीच तीव्र मतभेद उत्पन्न हो जाने पर नवम्बर 1972 में रामचन्द्रन ने अपने पृथक दल अन्ना द्रमुक का निर्माण किया जिसका पूरा नाम अखिल भारतीय अन्ना द्रविड़ मुनेत्र कड़गम है। यह एक क्षेत्रीय दल है, जिसका प्रभाव क्षेत्र तमिलनाडु और पाण्डिचेरी है। इस दल की नीति के अनुसार राज्य में सत्तारूढ़ होने और अपने हाथ में सत्ता सुरक्षित रखने के लिए आवश्यक है कि केन्द्र में शासक दल के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाए रखे जाएं। आपातकाल के दौरान अन्ना द्रमुक श्रीमती गांधी का समर्थक रहा और जब केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार बन गई तो दल ने उसे समर्थन देने की घोषणा की। अन्ना द्रमुक ने अपना कोई चुनाव घोषाणा–पत्र प्रकाशित नहीं किया, लेकिन ग्रामीण महिलाओं और युवकों में इस दल और उसके नेता रामचन्द्रन की भारी लोकप्रियता रही है। रामचन्द्रन की लोकप्रियता के कारण तमिलनाडु की राजनीति को सिनेमाई राजनीति कहा जाता है। अन्नाद्रमुक की नीति केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के साथ सहयोग करने की है। अपनी इस नीति के अनुसार जून, 1975 से 1976 तक के आपातकाल में दल ने उस समय केन्द्र में सत्तारूढ़ कांग्रेस का तथा उसके बाद जनता पार्टी का तथा बाद में चरणसिंह की मिली जुली सरकार का समर्थन ही नहीं किया अपितु अन्ना द्रमुक के दो सदस्य के0 बाला पंजनूर और श्रीमती सत्यवाणी मुथु इस सरकार में मन्त्री भी बने। दिसम्बर, 1984 के चुनाव में केन्द्र में सत्तारूढ़ कांग्रेस और अन्ना द्रमुक के बीच सहयोग बना रहा।

मार्च, 1977 के लोकसभाई चुनावों में जहां द्रमुक ने केवल 1 स्थान प्राप्त किया, वहॉ अन्ना द्रमुक ने कांग्रेस के साथ गठबन्धन कर 19 स्थान जीते। जून, 1977 में तमिलनाडु विधानसभा के 234 स्थानों में से द्रमुक ने केवल 48 स्थान जीते, वहॉ अन्ना द्रमुक ने 130 स्थान प्राप्त कर अपनी सरकार बनाई। पाण्डिचेरी विधानसभा में 30 में से 14 स्थान अन्ना द्रमुक ने जीते। तमिलनाडु विधानसभाई चुनाव में प्रचार में कांग्रेस, अन्ना द्रमुक ने प्रान्तीयता को महत्व दिया फलतः तमिलनाडु की जनता ने सभी नीतियों को नकार कर प्रान्तीय दल को ही स्वीकार किया। जनता पार्टी ने विधानसभा की 234 सीटों के लिए 233 उम्मीदवार खडे किए थे पर उसे केवल 10 सीटों पर सफलता मिली। कॉग्रेस के 198 प्रत्याशियों में से केवल 27 जीते। अन्न द्रमुक के 200 प्रत्याशियों में से 129 ने विजय प्राप्त की। मत प्रतिशत को ले

तो अन्ना द्रमुक को 37.5, द्रमुक को 21, कांग्रेस को 20 और जनता पार्टी को 10 प्रतिशत के लगभग मत मिले। जनवरी, 1980 के आम चनुावों में लोकसभा में अन्ना द्रमुक ने जनता पार्टी के साथ चुनाव गठबन्धन किया। फलस्वरूप दल को भारी पराजय का सामना करना पड़ा। अन्ना द्रमुक ने केवल 2 स्थानों पर विजय प्राप्त की। वह मार्च, 1977 के अपने लाभ को बुरी तरह खो बैठी। लोकप्रियता और विजय की दौड में द्रमुक ने अन्ना द्रमुक को पछाड़ दिया। लेकिन मई, 1980 में हुए राज्य विधान सभा चुनाव में अन्ना द्रमुक पुनः विजयी हुआ और उसने अपनी सरकार बनाई। दिसम्बर, 1984 के आम चुनावों में लोकसभा में अन्ना द्रमुक ने 12 सीटे जीतकर द्रमुक को पुनः भारी शिकस्त दी। द्रमुक को केवल एक सीट मिली। राज्य विधानसभा के चुनाव साथ ही हुए जिसमें भारी बहुमत से विजय प्राप्त कर अन्ना द्रमुक ने सरकार बनाई।

अन्ना द्रमुक का विभाजन

दिसम्बर, 1987 में मुख्यमत्री एम0 जी0 रामचन्द्र के देहावसान के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी के चयन को लेकर अन्ना द्रमुक में फूट पड़ गई। वी0 आर0 नेदुन चेझियन को कार्यवाहक मुख्यमंत्री की शपथ दिलाई गई, लेकिन उन्हे मुख्यमंत्री के रूप में कार्य नहीं करने दिया गया अतः श्रीमती जानकी रामचन्द्रन को राज्य के मुख्यमंत्री के रूप में शपथ दिलाई गई। इसके साथ ही अन्ना द्रमुक दल जानकी गुट और कु0 जयललिता गुट में विभाजित हो गया, जिसके कारण जनवरी, 1988 में राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया। जनवरी, 1989 में राज्य विधानसभा के निर्वाचन हुए। इसमें अखिल भारतीय अन्ना द्रमुक के दोनो गुटों कु0 जयललिता और जानकी रामचन्द्रन तथा कांग्रेस (इ)के बीच मतों का विभाजन होने के कारण करूणानिधि के नेतृत्व वाले द्रमुक को बहुमत प्राप्त हो गया। अखिल भारतीय अन्ना द्रमुक केदोनों गुटों में शक्ति परीक्षण का दौर चला, जिसमें अधिसंख्यक नेताओं और कार्यकत्ताओं ने कु0 जयललिता को अपना समर्थन दिया और यह वास्तविक अन्ना द्रमुक बन गया।

अखिल भारतीय अन्ना द्रमुक

कु0 जयललिता के नेतृत्व वाले अखिल भारतीय अन्ना द्रमुक ने अपने को केन्द्र में राजीव गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस (इ) का सहयोगी दल बनाया। इसके सदस्यों ने संसद में कांग्रेस (इ) की सरकार के पक्ष में मतदान किया और अपने को विपक्षी राजनीति से पृथक रखा। इसका प्रतिद्वंद्वी द्रमुक राष्ट्रीय राजनीति में राष्ट्रीय मोर्चे का एक मुख्य घटक था। सन्

1989 का लोकसभा का चुनाव अखिल भारतीय अन्ना द्रमुक ने कांग्रेस (इ) के साथ मिलकर लड़ा। इसने अपने लिए आवंटित लोकसभा के लिए सभी 11 स्थानों पर विजय प्राप्त की। द्रमुक का पूरी तरह से सफायां हो गया और उसे एक भी स्थान प्राप्त नही हुआ। यह दल राज्य में करूणानिधि के नेतृत्व वाली द्रमुक सरकार के विरूद्व जनमत जागृत करता रहा। तमिलनाडु की राजनीति में द्रमुक और अन्नाद्रमुक के बीच ही राजनीतिक उठा पटक होती रही है। दोनों दलों ने अपनी सुविधानुसार राष्ट्रीय स्तर पर होने वाले गठबंधनों में भागीदारी की।

अकाली दल

अकाली दल पंजाबी का एक प्रमुख क्षेत्रीय दल तथा सिक्खों का सामाजिक–राजनीतिक संगठन है। इस दल के संस्थापाकों में मास्टर तारा सिंह, सन्त फतेह सिंह, सन्त चानन सिंह और जस्टिस गुरनाम सिंह के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। 1960 के दशक के बाद शिरोमणि अकाली दल का विभाजन हो गया और यह अकाली दल मास्टर तारासिंह तथा अकाली दल सन्त फतेह सिंह में विभाजित हो गया। सन्त फतेह सिंह और चानन सिंह के नेतृत्व में अकाली दल ने पृथक् 'पंजाबी सूबे' के लिये आन्दोलन चलाया। परिणामस्वरूप पंजाब का विभाजन कर पंजाब और हरियाणा नाम के दो अलग--अलग राज्यों का गठन कर चण्डीगढ़ को केन्द्र शासित प्रदेश का दर्जा दिया गया। 'पंजाबी सूबे' का निर्माण शिरोमणी अकाली दल की बहुत बड़ी उपलब्धि थी।

सन् 1990 से 1992 के बीच अकाली दल अनेक गुटों में विभाजित हो गया। अकाली दल (लोंगोवाल गुट या बरनाला गुट), अकाली दल (तलबंडी गुट) और अकाली दल (काबुल गुट) जैसे प्रतिद्वंद्वी गुट सामने आये। सन् 1992 के राज्य विधानसभा चुनाव का अकाली दल (काबुल गुट)को छोडकर सभी प्रमुख अकालीगुटों ने बहिष्कार किया। इस चुनाव में कांग्रेस (इ)को राज्य से होने वाले लोकसभा और राज्य विधानसभा चुनाव में भारी विजय प्राप्त हुई। अकालीदल अनेक गुटों में विभाजित हो गया। उदारवादी तत्व प्रकाशसिंह बादल के नेतृत्व में संगठित हुए और उनके नेतृत्व वाला दल अकाली दल कहलाया दूसरी ओर उग्रवादी तत्वों का नेतृत्व सिमरनजीत सिंह मान के हाथ में आ गया जिसे अकाली दल (मांन) की संज्ञा दी गई। सन् 1996 के लोकसभा चुनाव में प्रकाशसिंह बादल के नेतृत्व वाले अकाली दल ने भारतीय जनता पार्टी तथा बहुजन समाज पार्टी के साथ चुनाव गठबन्धन किया जिसका परिणाम था, चुनाव में भारी सफलता। 1998 के लोकसभा चुनाव में शिरोमणि अकाली दल (बादल) ने लोकसभा के 8 स्थानों पर विजय प्राप्त की। केन्द्र में यह भारतीय जनता पार्टी का

समर्थक दल है, जिसने विश्वास मत पर भारतीय जनता पार्टी का समर्थन किया। तेरहवी लोकसभा में वर्ष 1999 में इस दल को 2 स्थान प्राप्त हुए है। 2004 के लोकसभा चुनावों में इसे पुनः उल्लेखनीय सफलता मिली।

तेलगुदेशम

तेलगुदेशम् आन्ध्र प्रदेश का प्रमुख क्षेत्रीय दल है। सन् 1983 के राज्य विधानसभा के चुनावों से पूर्व स्थापित इस क्षेत्रीय दल ने राज्य में अपनी जड़े जमा कर राज्य विधानसभा में भारी बहुमत प्राप्त किया। इस दल की सफलता का मूलाधार इसके संस्थापक नेता और तेलगू फिल्मों के लोकप्रिय कलाकार एन0 टी0 रामाराव के चमत्कारी व्यक्तित्व को जाता था। उन्होने गहन चुनाव प्राचार कर तेलगु भाषा और संस्कृति के गौरव को अक्षुण्ण रखने का नारा देकर तेलगु भाषी लोगो में उत्तरोत्तर लोकप्रियता प्राप्त की। सन् 1984 के लोकसभा चुनाव में इस दल को कांग्रेस (इ) के बाद सबसे बडे दल होने का गौरव प्राप्त हुआ। राज्य विधानसभा के चुनाव में इसने स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर सत्ता के सूत्र वापस अपने हाथ में लिए। सन् 1989 तक यह दल राज्य सत्ता में रहा। सन् 1983 से 1989 तक का समय तेलगुदेशम् के चरमोत्कर्ष का काल कहा जा सकता है। इस अवधि में जहां इस दल को राज्य के मतदाताओं का उत्तरोतर समर्थन प्राप्त होता गया, वहीं इसके नेता एन0 टी0 रामाराव का व्यक्तित्व ऊँचाइयॉ प्राप्त करता गया और वे विपक्षी राजनीति के मुख्य केन्द्र बिन्दु बन गये।

सन् 1984 में लोक सभा में मुख्य विपक्षी दल का दर्जा प्राप्त करके तेलगुदेशम् ने सारे देश का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। इस बीच राज्यपाल द्वारा एन0 टी0 रामाराव को मुख्यमत्रीं पद से बर्खास्त करके नान्देला भास्करराव को मुख्यमन्त्री के रूप में नियुक्त करने के निर्णय का देश व्यापी विरोध हुआ फलतः रामलाल ने राज्यपाल पद से त्यागपत्र दे दिया। डॉ0 शंकरदयाल शर्मा ने एन0 टी0 रामाराव को पुनः मुख्यमन्त्री के रूप में शपथ दिलाई।

सन् 1989 के लोकसभा के चुनाव में राज्य के मतदाताओं ने तेलगुदेशम् के इस सुदृढ़ गढ़ को ध्वस्त कर दिया। इसे राज्य में मात्र 2 स्थान प्राप्त हुए। राज्य विधानसभा के चुनाव लोकसभा चुनाव के साथ ही सम्पन्न हुए। इसमें तेलगुदेशम् को पराजय का सामना करना पड़ा। कांग्रेस (इ) पुनः सत्ता में आई। सन् 1991 के लोकसभा चुनाव में तेलगुदेशम् को 13 स्थान प्राप्त हुए लेकिन इसके कतिपय सदस्यों के दलबदल पकर कांग्रेस (इ) में शामिल होने से इस दल की शक्ति में कमी आई। इसके अलावा एन0 टी0 रामाराव के विवाह प्रकरण से

इस दल की प्रतिष्ठा में कमी आई। 1994 के राज्य विधानसभा चुनाव में संघर्षरत एन0 टी0 रामाराव के नेतृत्व में तेलगुदेशम् को राज्य विधानसभा में भारी बहुमत प्राप्त हुआ और उन्होने मुख्यमन्त्री के रूप में शपथ ली, लेकिन उनकी पत्नी लक्ष्मी पार्वती की भूमिका से रूष्ट होकर उनके दामाद एन0 चन्द्रबाबू नायडू के नेतृत्व में बहुत बडी संख्या में विधायकों ने उनके प्रति विद्रोह कर दिया। फलस्वरूप रामाराव सरकार अल्पमत में रह गई। रामाराव को मुख्यमन्त्री पद से त्यागपत्र देना पड़ा। इस सदमे को वे सहन नहीं कर सके अन्ततः उनका देहावसान हो गया। इसके साथ ही राज्य की राजनीति से एक अध्यायय का अन्त हो गया। 1998 की लोकसभा में इसके 12 सदस्य निर्वाचित हुए। 1999 में तेरहवीं लोकसभा के चुनावों में इस दल के 29 सदस्य चुने गये है।

समाजवादी पार्टी

अक्टूबर 1992 में मुलायम सिंह यादव ने जनता दल से अलग होकर समाजवादी पार्टी नामक क्षेत्रीय दल का गठन किया। मुलायम सिंह मुसलमानों, पिछडें वर्गो, अनुसूचित जातियों, जाटों और गुर्जरों जैसी जातियों में अपना जनाधार विस्तृत किया। अपने को चौधरी चरणसिंह का वास्तविक उत्तराधिकारी और मानसपुत्र बता कर जनता दल (अजीत) के समर्थक वर्ग को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास किया। उन्होंने अल्पसंख्यकों को पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन देकर मुस्लिम मतों के आधार पर राजनीति करने वाले इमामों की फतवा राजनीति का विरोध किया। कांशीराम के नेतृत्व वाली बहुमत समाज पार्टी के साथ गठबन्धन करके समाजवादी पार्टी राज्य की सबसे मजबूत राजनीतिक शक्ति बनकर सामने आई। सन् 1993 के राज्य विधानसभा चुनाव के समय अपने दल का चुनाव घोषणापत्र जारी करते समय मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू करने, सत्ता में आते ही नकल विरोधी कानून को रद्द करने तथा साम्प्रदायिक सौहार्द्र कायम रखने, बिक्री कर को समाप्त करने तथा साम्प्रदायिक दंगा होने की स्थिति में सम्बन्धित जिले के कलेक्टर और पुलिस अधीक्षक को उत्तरदायी बनाने जैसे मुद्दों को दोहराया गया। चुनाव परिणाम में समाजवादी दल और बहुजन समाज पार्टी (सपा–बसपा) गठबन्धन को स्पष्ट बहुमत तो प्राप्त नहीं हुआ, लेकिन 171 स्थान प्राप्त कर यह दूसरे स्थान पर रहा। कांग्रेस (इ), जनता दल और निर्दलीय सदस्यों द्वारा बिना शर्त इस गठबन्धन का समर्थन करने की घोषणा के साथ ही मुलायम सिंह का राज्य के मुख्यमन्त्री बनने का मार्ग प्रशस्त हो गया। दिसम्बर 1993, मुलायम सिंह के नेतृत्व में सपा–बसपा की संविद सरकार सत्तारूढ़ हुई जो लम्बे समय तक नहीं चल सकी। बसपा द्वारा मुलायम सिंह सरकार से समर्थन वापस लेने के कारण उनकी सरकार का पतन हो गया। इसके बावजूद

मुलायम सिंह यादव राज्य में अपना जनाधार सुदृढ़ करने की दृष्टि से धुंआधार दौरे करते रहे। सन् 1996 के लोकसभा चुनाव में मुलायम सिंह के नेतृत्व में समाजवादी पार्टी को 17 स्थान प्राप्त हुए तथा 1998 में 20 स्थान प्राप्त हुए। निःसंदेह समाजवादी पार्टी उत्तर प्रदेश की बहुत बड़ी राजनीतिक शक्ति है। 1999 में हुए तेरहवीं लोकसभा के चुनावों में इस दल को 26 स्थान प्राप्त हुए हैं। 2004 के चुनावों में सपा की शक्ति में वृद्धि हुई।

बहुजन समाज पार्टी

14 अप्रैल, 1984 को कांशीराम द्वारा बहुजन समाज पार्टी की स्थापना की गई। इस दल का आज न तो कोई संविधान ही है और न कोई औपचारिक संगठन ही है। कांशीराम के बाद मायावती को छोड़कर न तो दल में कोई प्रभावीशाली नेता ही है, और न ही कोई प्रादेशिक नेता ही। सारा दल मायावती के व्यक्तित्व पर आधारित है। जहाँ तक बहुजन समाज पार्टी (बसपा) की नीतियों और कार्यक्रम का सम्बन्ध है यह बनिया, राजपूत और ब्राह्मणवाद का विरोध, अनुसूचित जातियों और जनजातियों के कल्याण तथा 'मनी' (धन), माफिया और मीडिया' के विरोध करने के कार्यक्रम पर आधारित है। इसके आलाचक बसपा पर जातिवादी राजनीति करने का आरोप लगते हैं। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और पंजाब इसके प्रमुख प्रभाव क्षेत्र हैं।

सन् 1989 के लोकसभा चुनाव में बसपा को 3 स्थान प्राप्त हुए, वहाँ 1991 के लोकसभा चुनाव में इस दल को मात्र 11 स्थान प्राप्त हुए। इसके बाद 1993 के राज्य विधानसभा के चुनावों में उत्तर प्रदेश में 67 स्थानों पर विजय प्राप्त कर अपनी शक्ति में भारी वृद्धि की। बसपा सदस्यों ने मुलायम सिंह मन्त्रिमण्डल में भाग लिया, लेकिन दल की महासचिव सुश्री मायावती और तत्कालीन मुख्यमन्त्री मुलायम सिंह के बीच राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता ने बसपा को यादव के नेतृत्व वाले मन्त्रिमण्डल से अपना समर्थन वापस लेने के लिये बाध्य किया। बाद में सुश्री मायावती भारतीय जनता पार्टी के समर्थन से उत्तर प्रदेश की मुख्यमन्त्री बनी। लेकिन जून, 1995 में भारतीय जनता पार्टी ने मायावती की कार्यशैली तथा उत्तेजक बयानों से नाराज होकर इस सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया। इस पर मायावती ने मुख्यमन्त्री पद से त्यागपत्र दे दिया। राज्य में विधानसभा को भंग कर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। सन् 1996 के लोकसभा चुनावों में बसपा को 11 स्थान प्राप्त हुए और दल के अध्यक्ष कांशीराम विजयी हुए। कांशीराम के नेतृत्व में बसपा ने विश्वास मत के समय दोनो ही प्रधानमन्त्रियों अटल बिहारी बाजपेई और एच0 डी0 देवगौड़ा का

विरोध किया। 1998 के लोकसभा चुनावों में पार्टी ने 5 स्थान प्राप्त किये। 1999 में तेरहवीं लोकसभा के चुनावों में इस दल को 14 स्थान प्राप्त हुए।

नेशनल कॉफ्रेन्स

नेशनल कान्फ्रेन्स जम्मू–कश्मीर का मुख्य क्षेत्रीय दल है। इसकी स्थापना कश्मीर के सबसे लोकप्रिय नेता शेख अब्दुल्ला द्वारा की गई। इसकी नीतियों और कार्यक्रमों में जम्मूकश्मीर में संविधान के अनुच्छेद 370 को बनाये रखने, राज्य के भारतीय संघ में विलय को अन्तिम मानने और इसे भारत का अभिन्न अंग मानने, धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को मुख्य रूप से शामिल कर सकते हैं। इसके नेता शेख अब्दुल्ला का राजनीतिक इतिहास उतार–चढ़ावों से भरा हुआ था। सन् 1975 में तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी और उनके बीच समझौते पर हस्ताक्षर किये गये। इसके आधार पर कांग्रेस के मुख्यमंत्री सैयद मीर कासिम ने शेख अब्दुल्ला के लिये मुख्यमन्त्री का पद खाली कर दिया। शेख अब्दुल्ला राज्य के मुख्य मन्त्री बने। इसके बाद कांग्रेस और उनके सम्बन्ध बिगड़ गये। कांग्रेस ने उनकी सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया। सन् 1977 में मुख्यमन्त्री शेख अब्दुल्ला की सलाह पर राज्यपाल एल0 के0 झा ने राज्य विधानसभा को भंग कर पुनः निर्वाचन करवाया। राज्य में नेशनल कान्फ्रेन्सकी एकदलीय सरकार सत्तारूढ़ हुई। इसके बाद कांग्रेस (इ) कभी अपनी एकदलीय सरकार बनाने में सफल नहीं हुई। शेख अब्दुल्ला के देहावसान के बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र डॉ. फारूख अब्दुल्ला को दल का नेता निर्वाचित किया गया। वे राज्य के मुख्यमन्त्री बने, लेकिन इससे नेशनल कान्फ्रेन्समें सत्ता संघर्ष प्रारम्भ हो गया। डॉ. फारूख अब्दुल्ला और उनके बहनोई गुलाम मोहम्मद शाह के बीच अनवरत सत्ता संषर्घ चलता रहा। डॉ. फारूख अब्दुल्ला ने राष्ट्रीय राजनीति में कांग्रेस (इ) के विरूद्ध विपक्षी दलों को समर्थन देने की नीति अपनाई। श्रीनगर में विपक्षी दलों का सम्मलेन आयोजित हुआ। इससे कांग्रेस (इ) का रूष्ट होना स्वाभाविक ही था। सन् 1984 में कांग्रेस (इ) की शह से राज्य में दलबदल कराया गया। मुलाम मोहम्मद शाह के नेतृत्व में कतिपय विधायकों ने नेशनल कान्फ्रेन्स छोड़ते हुए नेशलन कान्फ्रेन्स (खलिदा) के गठन की घोषणा की। इससे फारूख मन्त्रिमण्डल अल्पमत में रह गया। मुख्यमन्त्री डॉ. फारूख अब्दुल्ला ने राज्यपाल जगमोहन से राज्य विधानसभा का अधिवेशन बुलाकर अपना बहुमत सिद्ध करने का अनुरोध किया, लेकिन राज्यपाल ने ऐसा करने के स्थान पर फारूख अब्दुल्ला को बर्खास्त कर गुलाम मोहम्मद शाह को मुख्यमन्त्री के रूप में नियुक्त किया जिसकी देशव्यापी निन्दा हुई। साम्यवादी, गैर साम्यवादी, राष्ट्रीय और क्षेत्रीय दलों ने केन्द्र के इस कदम कड़ा विरोध किया। इसके बाद

डॉ. फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व में नेशनल कान्फ्रेन्स ने गुलाम मोहम्मद शाह के नेतृत्व वाली अल्पमतीय सरकार को हटाने का अभियान छेड़ा। इस बीच राजीव गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस (इ) और नेशनल कान्फ्रेन्स के बीच मतभेदों को कम करने के प्रयास किये जाते रहे। केन्द्रीय मन्त्री राजेश पायलट ने इसमें मुख्य भूमिका का निर्वाह किया। इससे नेशनल कान्फ्रेन्स और कांग्रेस (इ) में गठबन्धन बनने का आधार बना। इसके आधार पर ही 1986 में राज्यपाल जगमोहन द्वारा गुलाम मोहम्मद शाह के नेतृत्व वाली अल्पमतीय सरकार को बर्खास्त कर विधानसभा को भंग किया गया। इसके बाद राज्य विधानसभा के लिए हुए चुनाव में डॉ. फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व में नेशनल कान्फ्रेन्स और कांग्रेस (इ) के गठबन्धन ने तीन–चौथाई बहुमत प्राप्त किया। फलतः उनके नेतृत्व में नेशनल कान्फ्रेन्स और कांग्रेस (इ) की संविद सरकार सत्तारूढ़ हुई। इसके पूर्व जम्मू–कश्मीर में राजीव और डॉ. फारूख अब्दुल्ला के बीच समझौता हुआ। सन् 1989 में केन्द्र में सत्तापरिर्वतन हुआ। विश्वनाथ प्रताप सिंह के नेतृत्व में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार सत्तारूढ़ हुई। इस सरकार ने जगमोहन की राज्यपाल पद पर नियुक्ति की। इसके विरोध में डा० फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली संविद सरकार ने अपना त्यागपत्र दे दिया। इसके बाद राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू रहा है। सितम्बर 1996 में जम्मू–कश्मीर में विधानसभा के चुनाव सम्पन्न हुए। 2001 में हुए विधानसभा चुनावों में नेशनल कान्फ्रेन्स को सत्ता से बाहर होना पड़ा। 1999 की तेरहवीं लोकसभा के चुनावों में इस दल को 4 स्थान प्राप्त हुए।

असम गण परिषद् (अगप)

असमगण परिषद असम का क्षेत्रीय दल है। असम से विदेशियों को निष्कासित करने के लिए अखिल असम छात्र संघ और असम गण संग्राम परिषद् के तत्वावधान में एक प्रबल जन आन्दोलन चलाया गया। देश के गैर साम्यवादी विपक्षी दलों तथा जनता द्वारा इस आन्दोलन को समर्थन देने से इस आन्दोलन के प्रति देशव्यापी ध्यान आकर्षित हुआ। राज्य में आन्दोलन, बन्द का आयोजन करना इस आन्दोलन के प्रमुख अंग थे। अन्त में 1985 में प्रधानमन्त्री राजीव गांधी और असम के आन्दोलनकारियो के बीच असम समझौता हुआ, जिसके अन्तर्गत राज्य विधानसभा को भंग कर नये चुनाव कराये जाने की व्यवस्था थी। इस पर हितेश्वर सैकिया के नेतृत्व वाली कांग्रेस (इ) की सरकार द्वारा त्यागपत्र दे दिया गया। इससे राज्य विधानसभा के निर्वाचन होने का मार्ग प्रशस्त हुआ। अखिल असम छात्रसंघ और अखिल असमगण परिषद ने अपना विलय करते हुएं असम गण परिषद के रूप में संगठित किया। इस दल को राज्य विधानसभा में भारी समर्थन प्राप्त हुआ। प्रफुल्लकुमार महन्त को

असम गण परिषद् का नेता निर्वाचित किये जाने पर मुख्यमन्त्री बनाया गया। असमगण परिषद् की नीतियों में असम की सांस्कृतिक विरासत और धरोहर की सुरक्षा और राज्य में अवैध रूप से घुसकर आये विदेशियों की पहचान करके उन्हे बाहर निकालने तथा राज्य का विकास करने जैसे मुद्दे शामिल थे। सत्तारूढ़ होने के बाद असमगण परिषद् में अन्र्तकलह और गुटबाजी की स्थिति रही। यह मुख्यमन्त्री प्रफुल्ल कुमार महन्त और गृहमन्त्री भृगुकुमार

फूकन के नेतृत्व में दो प्रतिद्वंदी गुटों में विभाजित हो गई। इससे जहां दल में गुटबाजी और अनुशासनहीनता की घटनाएँ घटित हुई वहाँ सरकार की बुरी कार्य शैली के कारण जनता में दल की छवि गिरी। राष्ट्रीय राजनीति में असमगण परिषद् ने राष्ट्रीय मोर्चे के साथ अपने को सम्बद्ध कर लिया। विश्वनाथ प्रतापसिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार में दिनेश गोस्वामी इस दल के मन्त्री रहे। नवम्बर, 1990 में चन्द्रशेखर के नेतृत्व में जनता दल (समाजवादी) की सरकार ने प्रफुल्ल कुमार महन्त के नेतृत्व वाले मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त कर राज्य में राष्ट्रीय शासन लागू कर दिया। इसके पश्चात् इस दल का विभाजन हो गया। भृगु कुमार फूकन के समर्थको ने महन्त के नेतृत्व को अस्वीकार करते हुए अलग से नये दल का गठन किया। सन् 1991 के राज्य विधानसभा और लोकसभा के चुनाव में असमगण परिषद् की भारी पराजय हुई। इस चुनाव के बाद इस दल ने राष्ट्रीय मोर्चे से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। असमगण परिषद ने राज्य में सशक्त विपक्ष की भूमिका को बरकरार रखा।

शिवसेना

शिवसेना महाराष्ट्र का एक प्रमुख क्षेत्रीय दल है। बाल ठाकरे इसके संस्थापक है। प्रारम्भ में शिवसेना ने महाराष्ट्र महाराष्ट्रियों के लिए है एक नारा लगाकर गैर महाराष्ट्रियों में दहशत उत्पन्न कर दी थी। बाद में शिवसेना के दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ और इसने राष्ट्रीय प्ररिप्रेक्ष्य में सोच विकसित करके इस नारे का व्यवहार में परित्याग कर दिया। शिवसेना हिन्दुत्व विचारधारा की कट्टर समर्थक है। सन् 1989 से इस दल और भारतीय जनता पार्टी के बीच चुनाव गठबन्धन है। सन् 1995 के महाराष्ट्र विधानसभा के सम्पन्न हुए चुनाव में शविसेना भारतीय जनता पार्टी के गठबन्धन ने स्पष्ट बहुमत प्राप्त किया। शिवसनो के नेता मनोहर जोशी को मुख्यमन्त्री पद की शपथ दिलाई गई। राज्य में यह पहला अवसर था कि शिवसेना का कोई व्यक्ति मुख्यमन्त्री बना हो। इससे शिवसेना की शक्ति और प्रतिष्ठा में वृद्धि हुई। सन् 1996 के लोकसभा चुनाव में शिवसेना ने महाराष्ट्र में 15 स्थानों पर विजय प्राप्त कर अपनी शक्ति में भारी वृद्धि की। इस दल को 1998 की बारहवीं लोक सभा के चुनावों में 6 तथा 1999 में तेरहवी लोकसभा के चुनावोंमें 15 स्थान प्राप्त हुए।

हरियाणा विकास पार्टी

हरियाणा विकास पार्टी हरियाणा का प्रमुख क्षेत्रीय दल है। चौधरी बंशीलाल इसके संस्थापक है। सन् 1996 में लोकसभा के साथ साथ हरियाणा विधानसभा के निर्वाचन सम्पन्न हुए। इन चुनावों में हरियाणा विकास पार्टी ने भारतीय जनता पार्टी के साथ चुनाव गठबन्धन किया। चौधरी बंशीलाल के नेतृत्व में इस गठबन्धन ने 90 सदस्यीय सदन में 44 स्थान प्राप्त किये। बंशीलाल को राज्य के मुख्यमन्त्री के रूप में शपथ दिलाई गई। फरवरी 2000 के विधानसभा निर्वाचन में हरियाणा विकास पार्टी की पराजय हुई तथा ओमप्रकाश चौटाला मुख्यमन्त्री बने।

तमिल मनीला कांग्रेस

यह तमिलनाडु का प्रमुख क्षेत्रीय दल है। सन् 1996 कें लोकसभा चुनाव में पूर्व प्रधानमन्त्री पी० वी० नरसिम्हाराव द्वारा कांग्रेस (इ) के अखिल भारतीय अन्ना द्रमुक के साथ चुनाव गठबन्धन करने के निर्णय से रूष्ट होकर जी० के० मूपनार, पी० चिदम्बरम् तथा एम० अरूणाचलम् के नेतृत्व में राज्य के अनेक कांग्रेसजनों ने कांग्रेस (इ) से त्यागपत्र देकर तमिल मनीला कांग्रेस नाम से एक क्षेत्रीय दलका गठन किया। इस दल ने द्रमुक के साथ चुनाव गठबन्ध किया। इस दल को लोकसभा में 20 तथा राज्य विधानसभा में 39 स्थान प्राप्त हुए। केन्द्र में संयुक्त मोर्चे की सरकार को सत्तारूढ़ करने में इस दल की अहम भूमिका रही थी।

अन्य क्षेत्रीय दल

उपर्युक्त मुख्य क्षेत्रीय दलों के अतिरिक्त बिहार में झारखण्ड पार्टी, मणिपुर में मणिपुर प्रीपुल्स पार्टी, मिजोरम में मिजो नेशनल फ्रंट, नागालैण्ड में नागा नेशनल फ्रंट, असम में प्लेंस ट्राइबल्स काउन्सिल, सिक्किम में सिक्किम संग्राम परिषद्, त्रिपुरा में त्रिपुरा उपजाति सभा, महाराष्ट्र में पीजेन्ट एण्ड वर्क्रर्स पार्टी, गोवा–दमन एवं दीव में महाराष्ट्रवादी गोमान्तक पार्टी, केरल में केरल कांग्रेस (मणि गुट और मुस्लिम लीग) और मेघालय में आल पार्टी हिल लीडर्स कॉन्फ्रेंस, हिल स्टेट यूनियन, हिल स्टेट पीपुल्स डेमोक्रेटिक पार्टी के नाम गिनाये जा सकते है।

—*****—
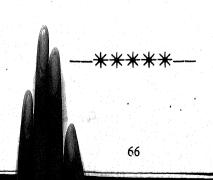
अध्याय—तीन

गठबन्धन की राजनीति : सामान्य परिचय

अध्याय–तीन

गठबन्धन की राजनीति : सामान्य परिचय

भारतीय संसदीय राजनीति की परम्परा में दो या दो से अधिक राजनीतिक दलों की मिली जुली सरकारों के लिए गठबन्धन, संयुक्त व संविद आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता रहा है। सामान्य रूप से इन शब्दों के अर्थ परिस्थिति विशेष में बनी सरकारों के सन्दर्भ में सन्दर्भित भिन्नता प्रकट करते है किन्तु ये सभी राजनीतिक शब्दावली के अनुसार आंग्ल भाषा के एक ही शब्द "कोएलिशन" की ओर संकेत करते है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में गठबन्धन शब्द का प्रयोग "कोएलीसन" के अर्थ में ही किया गया हैं।

"कोएलिसन" शब्द लैटिन के "कोलेसियो" से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है एक साथ जाना, एक साथ उगना या मिलना। इंग्लिश शब्दकोष में इसे विभिन्न दलों, व्यक्तियों या राज्यों का स्थायी रूप से एक में विलीन हुए बिना, किसी संयुक्त कार्य केलिए किया गया समझौता बताया गया है।[1] गठबन्धन वस्तुतः संसदीय राजनीति की राजनीतिक प्रक्रिया की उपज है। संसदीय शासन में सरकार के (मन्त्रिमण्डल) गठन के लिए लोकप्रिय सदन में बहुमत की अपरिहार्यता गठबन्धन की राजनीति को प्रेरित करती है। इसलिए राजनीति की यह प्रक्रिया बहुदलीय व्यवस्था वाले संसदीय लोकतत्रं में ही प्रायः दृष्टिगोचर होती है।

साधारणतया गठबन्धन का अर्थ एक ऐसे समूह से होता है जो किसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु विशेष रूप से अस्थायी तौर पर संयुक्त होते है। राजनीति विज्ञान में इस शब्द का प्रयोग उस अर्थ में होता है जबकि विभिन्न राजनीतिक दल, निहित स्वार्थ समूह अथवा गुट नीति निर्णयों को निश्चित करने अथवा सत्ता प्राप्ति के लिए राजनीतिक समूह बनाते है। राजनीतिक अर्थ में गठबन्धन का अर्थ सामान्य रूप से एक सामूहिक व्यवस्था से है जिसके अन्तर्गत राजनीतिक दलों अथवा उसके सदस्य सरकार अथवा मंत्रिपरिषद गठित करने के लिए एक साथ होते है।[2]

विलियम एच0 रिकर ने ईस्टन को उद्वत करते हुए स्पष्ट किया है कि गठबन्धन सामान्यतया राजनीतिक निर्णय निर्माण के लिए एक विशेष प्रकार का सामाजिक संगठन है। राजनीति को मूल्या के अधिकारिक बंटबारे के रूप में परिभाषित किया जाता रहा है....

---

[1] - An alliance for combined action of district parties, persons or states, without permanent incorporation into one body". दि आक्सफोर्ड डिक्सनरी, द्वितीय संस्करण, जिल्द III पृष्ठ 389 आक्सफोर्ड 1989

2 – विलियम एचरिकर, "द थ्योरी ऑफ पोलिटिकल कोएलीशन", न्यू हैवेन, येल युनिवर्सिटी प्रेस, अध्याय 1

.... बँटवारा गठबन्धन निर्माण की प्रक्रिया है, यह स्पष्ट है कि गठबन्धन का सिद्धान्त राजनीति के सिद्धान्त का केन्द्रीय भाग है।[3]

वैसे तो गठबन्धन सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न के संयुक्त होने की प्रक्रिया है किन्तु यह स्थिति विशुद्ध संघर्ष या विशुद्ध सहयोग की स्थिति में बन पाना संभव नहीं है। संघर्ष की स्थिति में हार और जीत की स्पष्ट स्थिति गठबन्धन निर्माण में बाधक है। इसी तरह सहयोगियों में यदि पूर्ण तादात्म्य स्थापित हो जाये तो गठबन्धन का स्वरूप ही बदल जायेगा। अर्थात तब ऐसी स्थिति में सहयोगी अलग अलग न रहकर एकीकृत हो जायेगे इसलिए बिलियम ए0 गैम्सन का कहना है कि गठबन्धन का निर्माण तभी संभव है जब संघर्ष और सामान्य हित दोनो साथ साथ विद्यमान हो और दोनो साथ–साथ चुने जाने वाले मार्ग का निर्धारण करें। गठबन्धन की स्थिति में कोई भी निर्णय ऐसा नहीं होता है जिसमें सभी सहयोगियों को एक साथ अधिकतम लाभ मिल सके किन्तु साथ साथ इसकी भी सम्भावना रहती है कि अलग अलग कार्य करने की अपेक्षा संयुक्त होकर काम करने से दोनो (या सभी) सहयोगियों को अधिक लाभ मिलेगा। इसलिए विलियम ए0 गैम्सन ने गठबन्धन की परिभाषा देते हुए कहा कि गठबन्धन का अर्थ दो या दो से अधिक इकाइयों द्वारा मिश्रित प्रेरणा की स्थिति में किसी निर्णय को प्रभावित करने के उद्देश्य की दृष्टि से साधनों के सम्मिलित प्रयोग से होता है।[4]

वस्तुतः गठबन्धन से आशय दो या दो से अधिक दलों द्वारा मिलकर गठित उस समूह से है जो किसी सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए सम्मिलित किया गया हो। यह सामान्य उद्देश्य एक नई सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था के गठन से लेकर सत्ता प्राप्त करने तक हो सकता है। जब यह समूह सत्ता प्राप्त करने में सफल हो जाता है तब इसे गठबन्धन, संयुक्त अथवा संविद, सरकार कहते है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में 'भारत में गठबन्धन की राजनीति'' के व्यापक सन्दर्भ में गठबन्धन के निर्माण निर्वाचिन का संचालन, बहुदलीय गठबन्धन सरकार के निर्माण और सरकार संचालन में आने वाली समस्याओं एवं संभावनाओं का विशेष रूप से अध्ययन करने का प्रयास किया गया है।

यहाँ इसी सन्दर्भ में कुछ भ्रमों का निराकरण आवश्यक है। गठबन्धन और अल्पमत सरकार को समानार्थी नहीं समझना चाहिए। जब दो या दो से अधिक दल संयुक्त रूप से सरकार का निर्माण कहते है तो उसे गठबन्धन सरकार कहते है। गठबन्धन के सहयोगी प्रत्येक दल अलग अलग अल्पमत में होते हैं, किन्तु सम्मिलित रूप

---

[3] - In a political sense, coalition commonly denotes a Co-operaticive arrangement under which distinct rict political parties, or at all events members of such parties unite to form a government or ministry. Encyclopedia of the social science, editor-in-Chief Edwrin, R.A.Seligman, Associate Editor Alwin Johnson, Vol–III, Bright Commentators, The macmillan Company, New York, 1963, P. 600

[4] – इण्टर नेशनल एन साइक्लोपीडिया ऑफ द सोशल साइंसेज, जिल्द II पृष्ठ 530–31

से संसद में बहुमत प्राप्त कर लेते हैं और इस तरह संसदीय नियमों के अनुसार सत्ता प्रप्ति का अधिकारी हो जाते है, जैसे 1996 में श्री एच0 डी0 देवगौड़ा के नेतृत्व वाली संयुक्त मोर्चा सरकार, 1997 में श्री गुजराल के नेतृत्व वाली सयुक्त मोर्चा सरकार, 1998 व 1999 में श्री बाजपेयी के नेतृत्व वाली राजग सरकार तथा 2004 में डॉ0 मनमोहन सिंह के नेतृत्व में संप्रग सरकार इसके विपरीत अल्पमत सरकार में केवल एक ही दल सत्तारूढ़ रहता है। अकेले अपने ही साधनों के बल पर वह दल संसद में अल्पमत में होता है, किन्तु एक या एक से अधिक दल संसद में उसका बाहर से समर्थन करते है और व्यवस्थापिका में उसका बहुमत बनाये रहते है, जैसे 1989 में श्री बी0 पी0 सिंह के नेतृत्व में जनता दल सरकार 1990 में श्री चन्द्रशेखंर के नेतृत्व में बनी सरकार व 1991 में श्री पी0 वी0 नरसिंहराव के नेतृत्व में बनी कांग्रेस सरकार इस तरह के सत्तारूढ़ दल की सरकार को अल्पमत सरकार रहते है।

इसी प्रकार गठबंधन और समझौता (एलायंस) में भीं स्पष्ट अन्तर है। समझौता वस्तुतः गठबन्धन निर्माण की प्रक्रिया है। यह प्रारम्भिक चरण है।

गठबन्धन निर्माण के लिए उत्तरदायी कारण

गठबन्धन की राजनीति अथवा सरकार मुख्य रूप से निम्न तीन कारणों से प्रारम्भ होती है या अस्तित्व में आती है–[5]

1– बहुदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत संसद के निम्न सदन में मन्त्रिपरिषद गठित करने के लिए निश्चित बहुमत प्राप्त करने में किसी एक दल की असमर्थता।

2– द्विदलीय व्यवस्था के अन्तर्गत जब दलों में सन्तुलन हो और दो में से कोई एक दल किसी एक छोटे गुट के साथ मिलकर सत्ता प्राप्त करना चाहता हो, अथवा

3– राष्ट्रीय आपात काल में जबकि सभी शक्तियां सामान्य सुरक्षा की दृष्टि से एक ही दिशा में कार्य करने को तत्पर हो।

भारत में राज्यों अथवा केन्द्र में बनी गठबन्धन सरकारें मूलतः पहले कारण के चलते अस्तित्व में आयी। संसदीय शासन की अपरिहार्यता, सरकार गठन के लिए निचले सदन में बहुमत ने, आवश्यकता पड़नें पर गठबन्धन की भावना को प्रेरित किया है। जहॉ तक भारत में संघीय सरकार का प्रश्न है, वहॉ भी गठबन्धन की राजनीति के पीछे लोकसभा में किसी एक दल को पूर्ण बहुमत न मिल पाना है। इसलिए यहॉ विश्लेषण का बिन्दु यह है कि कोई एक दल लोकसभा में क्यो स्पष्ट बहुमत नहीं प्राप्त कर पा रहा है।

---

[5] – एनसाइक्लोपीडिया आफ सोशल साइंसेज, एडीटर–इन–चीफ एडविन आर. ए. सेलिंगमैन, एसोशियेशन एडीटर, आल्विन जानसन, जिल्द VIII, ब्राइट कमेन्टेटर्स द मैकमिलान क0, न्यूयार्क 1963 पृष्ठ–600,605

वस्तुतः भारतीय राजनीति में केन्द्र और राज्यों दोनो ही स्तर, पर कांग्रेस पार्टी का वर्चस्व रहा है और केन्द्र में कांग्रेस ही एकमात्र ऐसा राजनीतिक दल रहा है जिसने पूर्ण बहुमत के साथ सरकार बनाई। 1977 में बनी जनता पार्टी की सरकार को हम इस श्रेणी में नहीं सम्मिलित कर सकते क्योकि जनता पार्टी का जन्म स्वयं एक बहुत बडे गठबन्धन के आधार पर हुआ था। किन्तु 1967 के आम चुनावों से ही कांग्रेस का यह वर्चस्व टूटने लगा और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों का राजनीति में प्रभाव बढने लगा। इसके लिए स्वयं कांग्रेस की शक्ति के केन्द्रीयकरण और केन्द्र द्वारा राज्यों के मामलों में अधिकाधिक हस्तक्षेप की नीति उत्तरदायी है।[6] इस प्रकार क्षेत्रीय राजनीतिक दलोंकी अलग अलग क्षेत्रों में प्रभावशाली स्थिति व लोकसभा में उनके बढते प्रतिनिधित्व ने यह स्थिति उत्पन्न कर दी है कि किसी भी राष्ट्रीय दल के लिए यह कठिन हो गया हैं कि वह अकेले दम पर लोकसभा में बहुमत प्राप्त कर सरकार बना सके अथवा इन क्षेत्रीय दलों से सहयोगात्मक गठबन्धन की स्थिति से बच सके।

कांग्रेस के साथ ही राष्ट्रीय दलों के लिए जाति पर आधारित राजनीतिक दलों ने कम मुश्किले नहीं खडी की है। बिहार में राष्ट्रीय जनता दल, उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी व समाजवादी पार्टी के प्रभाव ने भी राष्ट्रीय दलों के एक दलीय बहुमत वाली सरकार के मार्ग में रोड़े अड़ाये है और गठबन्धन धर्म के विकास को प्रेरित किया है यह सब सामाजिक न्याय के नाम पर संभव हुआ है।[7]

किसी एक दल को लोकसभा में पूर्ण बहुमत न मिल पाने के कारण नित नये उगने वाले सिद्धान्त विहीन राजनीतिक दल भी बनते जा रहे है। स्वार्थो व महात्वाकांक्षाओं के कारण दलों में विखंडन हो रहा है और नये राजनीतिक दल अस्तित्व में आ रहे है ये राजनीतिक दल मतों के विभाजन का खेल खेलकर राजनीति के वास्तविक खिलाडी के रूप में नहीं बल्कि खेल बिगाडने वाले की भूमिका में अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहे है।[8] भारत में दलीय विखंडन व दल बदल कितने आम हो गये है इसका अनुमान भारत के पूर्व मुख्य निर्वाचन आयुक्त आर0 के0 त्रिवेदी के इस व्यक्तव्य से लगाया जा सकता है कि भारत में केवल 1967 से 1973 के बीच 2,700 विखंडन अथवा दल बदल हुए।[9]

गठबन्धन सरकारों का वर्गीकरण

---

[6] – मैरी, थामस, ''पोलिटिकल पार्टीज इन इण्डिया, लिबरल टाइम्स वाल्यूम ҇ न0 1, 2001 पृष्ठ 20
[7] – वही, पृष्ठ 21
[8] – डी. एन. सिंह, ''भारत में संसदीय लोकतन्त्र : चुनौतियां और संभावनायें ! म. गां. का. विद्यापीठ में राज. वि. विभाग द्वारा 27–28 फरवरी 2001 को आयोजित संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध पत्र
[9] – मैरी थामस, '' पोलिटिकल पार्टीज इन इण्डिया'' लिबरल टाइम्स, वाल्यूम ҇ए नं.1, 2001 पृष्ठ 22

भारत में केन्द्रीय स्तर पर विशुद्ध रूप से अब तक 1989, 1996, 1998 व 1999 व 2004 में बनी सरकारों को गठबन्धन की श्रेणी में रखा जा सकता है। किन्तु राज्यों की राजनीति में अब तक कई गठबन्धन सरकारे अस्तित्व में आ चुकी है। इन सबके समवेत अध्ययन के आधार पर गठबन्धन सरकारों का वर्गीकरण निम्नलिखित आधारों पर किया जा सकता है।

1– संख्या का आधार :–गठबन्धन में सम्मिलित दलों की संख्या के आधार पर गठबन्धन सरकारों के आधार पर गठबन्धन सरकारों के दो प्रकार होते है –

क– द्विदलीय गठबन्धन सरकार

ख– बहुदलीय गठबन्धन सरकार

क– द्विदलीय गठबन्धन सरकार :–

जब दो दल आपस में संयुक्त होकर संयुक्त सरकार का गठन करते है तो इस प्रकार की सरकार द्विदलीय गठबन्धन सरकार कहलाती है। भारत के केन्द्रीय राजनीति में अब तक दो दलों का गठबन्धन अस्तित्व में नही आया है। किन्तु राज्योंकी राजनीति में अनेको बार द्विदलीय गठबन्धन सरकारें बनी है। जैसे केरल में 1954 में बनी प्रसोपा एवं कांग्रेस की सरकार उड़ीसा में 1959 में कांग्रेस गणतंत्र की सरकार, पुनः 1967 में उड़ीसा में स्वतंत्र दल एवं जन कांग्रेस की गठबन्धन सरकार, पंजाब में 1970 में अकाली व जन संघ की सरकार पुनः 1997 में पंजाब में बनी अकाली भाजपा सरकार तथा महाराष्ट्र में शिवसेना–भाजपा गठबन्धन सरकार व वर्तमान कांग्रेस–राष्ट्रीय कांग्रेस पार्टी का गठबन्धन सरकार आदि।

ख– बहुदलीय गठबन्धन सरकार :–

जब दो से अधिक दल आपस में संयुक्त होकर गठबन्धन का निर्माण करते है तो इसके आधार पर बनने वाली सरकार बहुदलीय गठबन्धन सरकार कहलाती है ।केन्द्र मं बनी अब तक की सभी गठबन्धन सरकारें इसी श्रेणी में आती है। राज्यों में सन् 1960 ई0 में केरल में बनी प्रसोपा, कांग्रेस व मुस्लिम लीग की संविद सरकार, सन् 1967 में प0 बंगाल में अजय मुखर्जी के नेतृत्व में बनी 14 दलों की गठबन्धन सरकार, उत्तर प्रदेश में सन् 1967 में चौधरी चरण सिंह के नेतृत्व में बनी संविद सरकार, पुनः 1970 में त्रिभुवन नारायण सिंह के नेतृत्व में बनी संविद सरकार, हरियाणा में सन् 1967 ई0 में बनी सरकार, 1967 में ही पंजाब में बनी संविद सरकार व वर्तमान प0 बंगाल, केरल व उ0 प्र0 की गठबन्धन सरकारें आदि।

2– सिद्धान्तों अथवा विचारधारा का आधार :–

सिद्धान्तों अथवा विचारधारा के आधार पर गठबन्धन सरकारों के दो भेद होते है –

क– सिद्धान्तों अथवा विचार की समानता के आधार पर बनने वाले गठबन्धन

ख– सिद्धान्त विहीन गठबन्धन

क– सिद्धान्तों अथवा विचारों की समानता के आधार पर बनने वाले गठबन्धन :–

जब एक समान सिद्धान्तों पर गठित राजनीतिक दल अथवा समान विचारधारा व कार्यक्रम रखने वाले दल संयुक्त होकर गठबन्धन का निर्माण करते है तो उन्हे सैद्धान्तिक आधार वाले गठबन्धन की श्रेणी में रखा जाता है। किन्तु यहॉ यह उल्लेखनीय है कि केन्द्र में अब तक जितनी भी गठबन्धन सरकारे बनी, उनमें से कोई भी सैद्धान्तिक समानता के आधार पर नहीं बनी। जहॉ तक राज्यों का प्रश्न है पं0 बंगाल की वाम मोर्चा सरकार व केरल में रही वाम मोर्चा सरकारें इसी श्रेणी में आती है। वर्तमान में महाराष्ट्र की कांग्रेस–रा0 कां0 पा0 की सरकार भी इसी प्रकार की गठबन्धन सरकारें है। एक सीमा तक पंजाब की पूर्व अकाली जनसंध व अकाली भाजपा सरकार व महाराष्ट्र की मनोहर जोशी के नेतृत्व में बनी शिवसेना–भाजपा सरकार को भी इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। यहॉ यह स्पष्ट करना समाचीन होगा कि सैद्धान्तिक समानता के आधार पर बनने वाली गठबन्धन सरकारे, सामान्यतया द्विदलीय होती है। कुछ उदाहरणों जैसे पं0 बंगाल में ये बहुदलीय भी हो सकती है।

ख– सिद्धान्त बिहीन गठबन्धन :–

जब दो या दो से अधिक राजनीतिक दल बिना किसी सैद्धान्तिक या वैचारिक समानता के संयुक्त होकर गठबन्धन का निर्माण करते है तो ऐसी गठबन्धन सरकारों को सिद्धान्त विहीन गठबन्धन सरकार कहा जा सकता है। केन्द्र में बनी अब तक की सभी गठबन्धन सरकारें और राज्योंमें बनी अधिकॉश गठबन्धन सरकारें इसी श्रेणी में आती है ।

3– कार्यक्रम का आधार :– कभी कभी राजनीतिक दल निर्धारित कार्यक्रम अथवा बिना किसी निर्धारित कार्यक्रम के आधार पर गठबन्धन का निर्माण करते है अतः कार्यक्रम के आधार पर भी गठबन्धन सरकारोंके दो प्रकार हो सकते है –

क– निर्धारित कार्यक्रम के आधार पर गठबन्धन

ख– बिना किसी निर्धारित कार्यक्रम के आधार पर गठबन्धन

क– निर्धारित कार्यक्रम के आधार पर गठबन्धन :–

जब दो या दो से अधिक राजनीतिक दल किन्ही विशेष कार्यक्रमों के आधार पर संगठित होते है और इन्ही कार्यक्रमों को कियान्वित करने के लिए सरकार का गठन

करते है तो ऐसी सरकार को निर्धारित कार्यक्रमों पर आधारित गठबन्धन सरकार कहते है। 1967 में उत्तर प्रदेश में बनी संविद सरकार 19 सूत्रीय न्यूनतम सामान्य कार्यक्रमों पर आधारित थी। 1999 के चुनाव में बने गठबन्धन ने न केवल अपना नाम राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन रखा बल्कि अपना संयुक्त चुनावी धोषणा पत्र भी जारी किया था जिसमें उन नीतियों और कार्यक्रमों का उल्लेख था जिनके आधार पर सत्तारूढ़ होने की स्थिति में शासन का संचालन किया जायेगा उल्लेखनीय है कि 1996 में बनी संयुक्त मोर्चा सरकार चुनाव बाद की परिस्थितियों के बाद बने गठबन्धन का परिणाम थी किन्तु सरकार गठन के बाद संयुक्त मोर्चे से जुडे नेताओं ने एक साझा कार्यक्रम की आवश्यकता अनुभव की और सरकार चलाने के लिए एक न्यूनतम साझा–कार्यक्रम की सफलतम अभिव्यक्ति के लिए गठबन्धन (मोर्चे) में सम्मिलित दलों की एक समन्वय समिति का भी गठन किया गया। तेलगूदेशम के नेता एवं आंध्र प्रदेश के मुख्यमन्त्री श्री चन्द्रबाबू नायडू को इस समन्वय समिति का संयोजक चुना गया था। इसी प्रकार 1998 व 1999 में हुए लोकसभा चुनावों में भाजपा नेतृत्व में बना गठबन्धन चुनाव पूर्व ही अस्तित्व में आ गया था और सरकार चलाने के लिए "न्यूनतम साझा कार्यक्रम" भी तय कर लिए गये थे। यहॉ भी समता पार्टी के नेता श्री जार्ज फर्नान्डीस के संयोजकत्व में समन्वय समिति के प्रयोग को दोहराया गया। 2004 में बनी संप्रग सरकार ने भी न्यूनतम साझा कार्यक्रम और समन्वय सीमित पर बल दिया है। कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी समनवय समिति की संयोजक हैं,

ख– बिना किसी निर्धारित कार्यक्रम के आधार पर गठबन्धन :–

जब दो या दो से अधिक दल बिना किसी खास कार्यक्रम पर सहमत हुए ही संयुक्त हो जाते है और सरकार का गठन करते है तब ऐसी सरकार को बिना निर्धारित कार्यक्रम के आधार पर गठित गठबन्धन सरकार कहते है। उ0प्र0 में 1970 में बनी कांग्रेस भा0कां0द0 की संयुक्त सरकार 1995 व 1996 में बनी बसपा–भाजपा सरकार, व 1997 में श्री कल्याण सिंह के नेतृत्व में बनी विभिन्न दलों की सरकार को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है 1996 में केन्द्र में बनी संयुक्त मोर्चा सरकार का गठन बिना किसी कार्यक्रम के आधार पर होता है किन्तु सरकार गठन के बाद वे न्यूनतम साझा कार्यक्रम की अपरिहार्यता को स्वीकार कर लेते है।

4– समय अवधि अथवा चुनाव समझौते का आधार :–समय अथवा चुनाव समझौते के आधार पर गठबन्धन सरकार के दो प्रकार होते है –

क– चुनाव पूर्व गठबन्धन

ख– चुनाव बाद गठबन्धन

क– चुनाव पूर्व गठबन्धन :–

जब दो या दो से अधिक राजनीतिक दल आम चुनाव अथवा मध्यावधि चुनाव पूर्व ही आपस में समझौता अथवा चुनाव व्यवस्था कर लेते है और उसी व्यवस्था के आधार पर चुनाव लडते है तथा गठबन्धन के बहुमत में आने पर सरकार का गठन करते है तो ऐसी सरकार को चुनाव पूर्व गठबन्धन कहते है। 1967 में उड़ीसा में बनी स्वतंत्र दल जन कांग्रेस की सरकार, केरल में यूनाइटेड डेमोक्रेटिक फ्रन्ट तथा लेफ्ट डेमोक्रेटिक फ्रन्ट की बनने वाली सरकारें, 1977 में पं0 बंगाल में बाम मोर्चे की सरकार व केन्द्र में 1998 व 1999 में बनी राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन की सरकार, 2004 में बनी संप्रग सरकार इसी वर्ग में आते है।

ख– चुनाव बाद गठबन्धन :–

जब दो या दो से अधिक राजनीतिक दल परस्पर एक दूसरे के विरूद्ध निर्वाचन में भाग लेते है और किसी भी एक दल को पूर्ण बहुमत न मिलने पर परिस्थितिवश अवसर का लाभ उठाते हुए संयुक्त होते है और सरकार का निर्माण करते है तो ऐसी गठबन्धन सरकार को चुनाव बाद गठबन्धन सरकार कहते है। 1996 व 1997 में केन्द्रीय राजनीति में संयुक्त मोर्चो की सरकार इसी प्रकार की सरकार थी। 1967 के बाद से राज्यों में बनने वाली अधिकॉश गठबन्धन सरकारे बिना किसी चुनावी समझौते के ही अस्तित्व में आई थी।

5– सदन में स्थिति का आधार :–

लोकप्रिय सदन में गठबन्धन के बहुमत की स्थिति केआधार पर गठबन्धन सरकार के दो प्रकार होते है –

क– बहुमत प्राप्त गठबन्धन

ख– अल्पमत मत गठबन्धन

क– बहुमत प्राप्त गठबन्धन :–

जब दो या दो से अधिक राजनीतिक दल आपस में संयुक्त होकर गठबंधन सरकार का निर्माण करते है और लोकसदन में उनके द्वारा बनाये गये गठबन्धन को पूर्ण बहुमत प्राप्त होता है तो ऐसी गठबन्धन सरकार को बहुमत प्राप्त गठबन्धन कहते है। पं0

बंगाल में 1977 से बनी वामं मोर्चे की सरकार 1995,1996 में उ0प्र0 में बनी भाजपा–बसपा गठबन्धन सरकारें 1997 में श्री कल्याण सिंह के नेतृत्व में बनी सरकार व वर्तमान भाजपा बसपा गठबन्धन सरकार राज्यों में इस श्रेणी के कुछ प्रमुख उदाहरण है। केन्द्र में 1998 व 1999 में श्री अटल बिहारी बाजपेयी के नेतृत्व में बनी गठबन्धन सरकारें बहुमत प्राप्त गठबन्धन के उदाहरण है यदि 1977 के जनता पार्टी की सरकार को भी गठबन्धन सरकार का एक उदाहरण माना जाये तो वह सरकार भी इसी वर्ग में सम्मिलित की जायेगी।

ख– अल्पमत गठबन्धन :–

जब दो या दो से अधिक राजनीतिक दल आपस में संयुक्त होकर गठबन्धन सरकार का निर्माण करें, किन्तु इस गठबन्धन को लोकसदन में पूर्ण बहुमत न प्राप्त हो और किसी अन्य दल के वाह्य समर्थन के आधार पर सरकार का संचालन कर रहे हो तो ऐसी गठबन्धन सरकार को अल्पमत गठबन्धन सरकार कहते है। 1967–69 में पं0 बंगाल में पी0 सी0 घोष के नेतृत्व में बनी गठबन्धन सरकार व 1968 में बिहार में बी0 पी0 मंडल के नेतृत्व में बनी सरकार अल्पमत गठबन्धन सरकार थी। इसी प्रकार केन्द्रीय राजनीति में 1996 में श्री एच0डी0 देवगौड़ा व 1997 में श्री इन्द्र कुमार गुजराल के नेतृत्व में बनी सरकारे अल्पमत गठबन्धन सरकारें थी।

गठबन्धन का सिद्धान्त :–

किसी भी देश के राजनीतिक परिदृश्य पर आवश्यकतानुसार गठबन्धनों का निर्माण कतिपय निर्धारित सिद्धान्तों और मान्यताओं के आधार पर होता है। कुछ निर्धारित तत्व व कारक होते है जो न केवल गठबन्धन के सहभागियों का निर्धारण करते है वरन् गठबन्धन निर्माण की प्रक्रिया का भी निरूपण करते है। इन तत्वों व कारको को राजवैज्ञानिकों ने प्रारम्भ से ही जानने व परखने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध में सबसे पहला महत्वपूर्ण प्रयास थियोडोर कैपलों का था। गठबन्धन (कोएलिशन) निर्माण के सम्बन्ध में कैपलों का सिद्धान्त यह है कि किसी भी निर्णय को प्रभावित करने की किसी भी व्यक्ति की क्षमता उसके साधनों के अनुपात में होती है।[10] इसलिए कोई भी व्यक्ति या दल सदैव उसी संयुक्त में सम्मिलित होना चाहेगा जिसमें वह अपने साधनों का अधिकतम प्रयास कर सकें अर्थात जिसमें वह सुदृढ़ स्थिति में रह सके। "अ" "ब" और "स" तीन व्यक्तियों अथवा दलों के कमशः 48,30 और 22 प्रतिशत प्राप्त मतों की स्थितिं में "अ" और "स" का गठबन्धन यथासंभव नहीं बन पायेगा क्योकि ऐसी स्थिति में "अ" के 48

10–थियोडोर कैपलो, ए थ्योरी ऑ कोएलिशन इन द ट्रेड, सोशियोलोजिकल रिव्यू, 21 (1956) पृ0–484–893

प्रतिशत शक्ति के समक्ष "स" का 22 प्रतिशत साधन निर्णय को उतना अधिक प्रभावित नहीं कर पायेगा जितना कि "ब" और "स" के गठबन्धन में जिसमें "ब" के 30 प्रतिशत मतों के समक्ष "स" के 22 प्रतिशत मतों में बहुत अधिक अन्तर नहीं है।

कैपलो का गठबन्धन निर्माण का सिद्धान्त निम्नलिखित चार मान्यताओं पर आधारित है :–

1– किसी भी तीन व्यक्तियों के गुट में तीनों व्यक्तियों की शक्ति भिन्न–भिन्न होती है। इनमें जो शक्तिशाली होगा वह स्थितियों को नियंत्रित करने का प्रयास करेगा।

2– इन तीन व्यक्तियों के गुट का प्रत्येक सदस्य दूसरे दो अन्य सदस्यों को नियंत्रित करने का प्रयत्न करेगा। यदि इन दोनो सदस्यों पर नियंत्रण न हो सका तो किसी एक पर नियंत्रण करना चाहेगा। किसी पर नियंत्रण न होने की दशा में एक पर और एक की अपेक्षा दो व्यक्तियों पर नियंत्रण ज्यादा अच्छा होगा।

3– गठबन्धन की शक्ति इन दो व्यक्तियों की शक्ति के बराबर होती है ।

4– हर तीन के व्यक्तियों में गठबन्धन निर्माण की संभावना रहती है। इन तीन व्यक्तियों में से यदि एक बहुत शक्तिशाली है और अन्य दोनो को दबाना चाहता है तो ये दोनो अन्य व्यक्ति पहले शक्तिशाली व्यक्ति के विरूद्ध संयुक्त हो जायेगें। उदाहरण के लिए हम तीन व्यक्तियों को लेते है जिनमें अ शक्तिशाली है ब और स से तो गठबन्धन का निर्माण इस तरह से होगा। <(ब+स)

कैपलों के अनुसार इन तीन अ, ब और स के गुट में स का किसी के भी ऊपर नियंत्रण नहीं रहता है किन्तु वह अ या ब के साथ गठबन्धन बनाकर अ या ब पर नियंत्रण की स्थिति प्राप्त कर सकता है। यदि वह ब के साथ गठबन्धन बनाता है तो "अ" के ऊपर उसका नियंत्रण हो जायेगा क्योकि ब और संसयुक्त रूप से अधिक शक्तिशाली होगें किन्तु गठबन्धन में वह "ब" के नियंत्रण में रहेगा क्योकिं "ब" उसकी तुलना में अधिक सशक्त है। इसी प्रकार "अ" के साथ "स" का गठबन्धन बनने की स्थिति में "स" "ब" पर नियंत्रण की स्थिति में आ जाता है क्योकि "अ" और "स" की संयुक्त शक्ति ब से अधिक है लेकिन गठबन्धन में वह "अ" के नियंत्रण में रहेगा इसलिए कैपलों के अनुसार "स" "अ" या "ब" के साथ गठबन्धन का निर्माण कर सकता है अर्थात अ,ब और स तीन व्यक्तियों में से "अ" "स" और "ब" "स" दोनों ही गठबन्धन बनने की समान संभावना है।

कैपलो का यह सिद्धान्त यह तो स्पष्ट कर देता है कि "अ" "स" और "ब" "स" दोनो ही गठबन्धन बन सकता है, किन्तु यह नहीं बतला पाता कि इन दो सम्भावित

गठबन्धनों में से कौन सा गठबन्धन अधिक सम्भव है। गैम्सन ने इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया।

गठबन्धन निर्माण के सम्बन्ध में गैम्सन ने तीन सिद्धान्त प्रस्तुत किये है–[11]

1– न्यूनतम साधनों का सिद्धान्त :–

पहला सिद्धान्त जिसे गैम्सन और रिकर ने विकसित किया था उसे न्यूनतम साधनों का सिद्धान्त कहते है। इस सिद्धान्त के अनुसार अ, ब, स और द को लेकर अ ब , अ द , ब द, अ स, ब स, और स द आदि जो छः गुट बन सकते है, इनमें से वस्तुतः वही गुट बनेगा जिसके बनने में कुल साधनों का न्यूनतम किन्तु पर्याप्त प्रयोग करना पड़े। उदाहरण के लिए किसी परिस्थिति में जिसमें तीन उम्मीदवार है, अ को 48 प्रतिशत, ब को 30 प्रतिशत, और स को 22 प्रतिशत मत मिलते है। तीनों का अपने अपने मतों पर पूर्ण नियंत्रण है। ऐसी स्थिति में ब स, जिनमें मतों का प्रतिशत 52 होगा (अथार्त तन्यूनतम् होगा) के गठबन्धन के बनने की संभावना अधिक होगी।[12]

2– न्यूनतम शक्ति सिद्धान्त :–

दूसरा सिद्धान्त न्यूनतम शक्ति सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त एल0 एस0 शैंपले के किसी भी संख्या के व्यक्तियों के खेल (एन0–परसन गैम) में किसी खिलाड़ी के मूल्य का मूल्यांकन करने के तरीके पर आधारिकत है। शैपले का यह तरीका इस बात पर आधारित है कि कोई भी खिलाडी कितनी बार एक अपर्याप्त गठबन्धन को विजयी गठबन्धन बनाये रखने की क्षमता रखता है। इस सिद्धान्त के अनुसार विजयी गठबन्धन वह होगा जिसमें उसके सदस्यों की निर्धारिक शक्ति का कम से कम प्रयोग हो।

3– प्रतियोगिता विरोधी सिद्धान्त :–

इस सम्बन्ध में तीसरा सिद्धान्त प्रतियोगिता विरोधी सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त की मूल मान्यता यह है कि गठबन्धन निर्माण की स्थिति में खिलाड़ी एक दूसरे से प्रतियोगिता नहीं करना चाहते। इसके विपरीत वे अपने गुट में एक दूसरे से सामाजिक सम्बन्ध बनाये रखना चाहते है। ऐसी स्थिति में गठबन्धन का निर्माण न्यूनतम विरोध की दिशा में होगा अर्थात खिलाड़ी यथा सम्भव कठोर और चालाक सौदेबाजी से बचने का प्रयास करेंगे। यह भी होता है कि जो खिलाडी जितना ही अधिक प्राप्त करने की कोशिश करता है,

---

[11] रामचन्द्र सिंह, भारत में संयुक्त सरकारें : खिंचाव तनाव (उत्तर प्रदेश का अनुभव। 1967 से 1970 तक) शोध प्रबन्ध, राज0वि0, का0हि0वि0वि0 1971

[12] विलियम ए0गैम्सन, ए थ्योरी ऑ पोलिटिकल कोएलिशन फार्मेशन, अमेरिकन सोशियोलोजिकल रिव्यू, 21, 1961, पृ0–489–493

उतना ही उसके प्राप्त करने की संभावना कम हो जाती है। ऐसी स्थिति में अधिक सम्भव है कि गठबन्धन उन लोगों का बने जो कि इसे बनाने के लिए सबसे कम प्रयत्नशील हो।

विलियम एच0 रिकर के अनुसार राजनीति का सम्बन्ध मूल्यों के अधिकारिक निर्णय से है। निर्णय की प्रक्रिया में सबसे दिलचस्प बात यह है कि निर्णय की प्रक्रिया सदैव गठबन्धन निर्माण की प्रक्रिया होती है। दो या दो से अधिक व्यक्ति मिलकर एक गुट बनाते है। इस गुट को ही गठबन्धन कहते है। रिकर का राजनीतिक गठबन्धन का सिद्धान्त निम्न दो मान्यताओं पर आधारित है :–

1– मनुष्य का व्यवहार बौद्धिक होता है। वह अपने लिए अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना चाहता है। किसी भी कार्य के कई विकल्प प्रस्तुत होने की दशा में मनुष्य वही मार्ग अपनाता है जिसमें उसे अधिकतम प्राप्ति की संभावना होती है।

2– गठबन्धन की स्थिति में सम्बन्धित पक्षें के हितों में सीधा और पूर्ण संघर्ष आवश्यक होता है ताकि एक पक्ष की हार दूसरे पक्ष का लाभ हो और जितनी ही एक पक्ष की हार हो उतना ही दूसरे पक्ष का लाभ हो। इसका अर्थ यह है कि सभी पक्षों को मिलाकर एक गठबन्धन कभी नहीं बन सकता है, क्योकि यदि सभी गठबन्धन में शामिल हो जायेगे तो इससे किसी की हानि नहीं होगी। परिणामस्वरूप किसी को कोई लाभ नहीं होगा। अन्ततः गठबन्धन निर्माण के लिए किसी के मन में कोई आकर्षण ही नहीं होगा।

नियमानुसार बहुमत के लिए जो आकार निर्धारित है उस आकार को प्राप्त करने वाला अथवा उससे अधिक प्राप्त करने वाला गठबन्धन विजयी गठबन्धन कहलाता है। जो इस बहुमत को नहीं प्राप्त कर पाते वे पराजित अथवा गतिरोध उत्पन्न करने वाले गठबन्धन कहे जाते है।

विजयी गठबन्धन का आकार क्या होना चाहिये? रिकर के अनुसार विजयी गठबन्धन का आकार सदैव उतना होना चाहिए जितना ठीक ठीक बहुमत प्राप्त करने के लिए आवश्यक है, किन्तु यह खेल उसी दशा में संभव है ज़ब गठबन्धन के निर्माताओं को इस बात की सही सही जानकारी हो कि कौन किस पक्ष का है। व्यावहारिक राजनीतिक जीवन में इस सम्बन्ध में स्पष्ट जानकारी नहीं हो पाती, इसलिए गठबन्धन का आकार न्यूनतम से थोड़ा बड़ा ही होता है।

गठबन्धन के निर्माण की रणनीति में गठबन्धन के निर्माण की प्रक्रिया उस समय प्रारम्भ होती है, जब कोई एक नेता किसी एक विशेष निर्णय के लिए अन्य लोगो से बातचीत प्रारम्भ करता है। गठबन्धन के निर्माण के लिए उसे अपने अनुयाइयों को विशेष

निर्णय के प्रति आकर्षित करना आवश्यक है। इस तरह एक गुट तैयार होता है। इस प्रकार गठबन्धन के निर्माण में दो चरण होते है। प्रथम चरण में कोई एक सदस्य गठबन्धन निर्माण की दिशा में प्रयास करता है। दूसरे चरण में दो या दो से अधिक लोग उसके साथ मिलकर एक गुट बनाते है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक कि अन्तिम चरण में इस गुट का आकार इतना नहीं हो जाता कि वह बहुमत प्राप्त कर सके। गठबन्धन के निर्माण की गतिशीलता नेताओं द्वारा समर्थकों को आकर्षित करने की क्षमता पर निर्भर करता है। नेता अपने साधनों के माध्यम से समर्थको को आकृष्ट करते है। यह प्रक्रिया साइट पेमेन्ट अर्थात सह–पुरस्कार कहलाती है। यह सह–पुरस्कार बहुत महत्वपूर्ण होता है। इसका सम्बन्ध एक हित के स्थान पर दूसरे हित की सन्तुष्टि करना होता है। सह–पुरस्कार कई प्रकार के हो सकते है जैसे बदला लेने की धमकी, धन नीति सम्बन्धी बातें भावनात्मक सन्तोष आदि आदि। जो नेतृत्व जितना ही अधिक सह–पुरस्कार देने की क्षमता रखता है, वह गठबन्धन निर्माण में उतना ही सफल होता है। गठबन्धन के निर्माण के सम्बन्ध में रिकर का यह भी कहना है कि यदि किसी स्थिति में तीन गुट है, जिनमें दो बड़े–बड़े एवं एक छोटा और अकेले कोई इस स्थिति में नहीं है कि वह बहुमत प्राप्त कर सके, ऐसी स्थिति में जो दो बड़े गुट है वे कभी भी एक दूसरे से मिलकर गठबन्धन नहीं बनायेगे। दोनो बड़े गुट तीसरे छोटे गुट को ही अपने साथ मिलाकर गठबन्धन बनाने का प्रयत्न करेगे।

गठबन्धन निर्माण में सहयोगी सत्ता प्राप्त करने की भावना से गठबन्धन का निर्माण करते है साथ ही सहयोगियों के अलग–अलग सिद्धान्त और आदर्श भी होते है। गठबन्धन निर्माण में सत्ता प्राप्ति की इच्छा और आदर्शो के प्रति कितनी आस्था होती है, इन दोनो की क्या भूमिका होती है–विशेषकर ऐसी स्थिति में जब कि परस्पर विरोध हो–इस प्रश्न पर माइकेल लाइसरसन ने विचार प्रस्तुत किया है।[13] लाइसरसन ने इसे प्रयोग द्वारा जानने की चेष्टा की है। अपने प्रयोगो के आधार पर लाइसरसन इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि ऐसी स्थिति में जहाँ खिलाडियों में से कुछ खिलाड़ी समान अथवा मिलते जुलते विचारों, सिद्धान्तों एवं आदर्शो के होगे वे गठबन्धन बनाने का प्रयास करेगे। यदि मिलते जुलते विचारों के खिलाड़ी नहीं है तो वे उसके साथ गठबन्धन बनाना चाहेगे जिसके साथ उसका मतभेद न्यूनतम होगा। ऐसी स्थिति में जहाँ खिलाड़ी सभी भावी बिजयी गठबन्धन के बीच में उदासीन है, वहाँ उनकी कियाये शक्ति को ही प्राप्त करने

---

13. माइकेल लाइसरसन, सेवेन ग्रोनिंग्स व डब्ल्यू केली, (संपा0), द स्टडी ऑफ कोएलिसन बिहैवियर : थ्योरेटिकल प्रास्पेक्टिक्स एण्ड केसेज फ्राम फोर कन्टीनेन्ट्स, फरवरी 1970, पृ0–323–335

को प्रेरित होगी। उपर्युक्त दोनो परिस्थितियों के मध्य की स्थिति में वे उत्तरदायित्व की नैतिकता के अनुसार चलेगे और समझौते की नीति अपनायेगे।

उपर्युक्त सिद्धान्त गठबन्धन निर्माण की प्रक्रियाओं की ओर संकेत करते है। किन्तु ये सिद्धान्त कुछ प्रश्नों को अनुत्तरित छोड़ जाते है जैसे गठबन्धन का निर्माण हो जाने पर इसके सहयोगियों में पुरस्कार (सत्ता) का बॅटवारा किस प्रकार होता है? सहयोगियों की आपसी शक्ति की भिन्नता उनके द्वारा प्राप्त हुए पुरस्कार की मात्र को कहॉ तक प्रभावित करती है? आदि। गठबन्धन में उसके विभिन्न सहयोगियों में संभावित पुरस्कार की मात्रा का निश्चय करने के लिए जेरोम एम0 चर्टकोफ ने एक सूत्र दिया है–[14]

$$\text{संभावित } x = \left[\frac{rx \quad R}{\Sigma \quad r}\right] \pm \left[\frac{R}{N} - \left(\frac{rx \quad R}{\Sigma \quad r}\right)\right]$$

जहां r_x=X का संसाधन

Σ_r गठबन्धन के सभी सदस्यों के संसाधनों का योग

R=गठबंधन द्वारा जीता गया पूरा पुरस्कार

N=गठबन्धन में सम्मिलित लोगों की पूर्ण संख्या

$$\pm = + \text{ यदि } \left[\frac{rx \quad R}{\Sigma \quad r}\right] < \frac{R}{N}$$

$$- \text{ यदि } \left[\frac{rx \quad R}{\Sigma \quad r}\right] < \frac{R}{N}$$

इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि गठबंधन के सहयोगियों का संभावित पुरस्कार इसके सहयोगियों की शक्ति के अनुपात से निर्धारित होता है।

शोध समस्या

गठबन्धन से सम्बन्धित सैद्धान्तिक पक्षों का विवेचन करने के बाद गठबन्धन की राजनीति से सम्बन्धित कुछ समस्याओं पर विचार करना अपरिहार्य हो जाता है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में भारत की केन्द्रीय राजनीति के सन्दर्भ में इन्ही समस्याओं को समझने और इनके हल के संभावित प्रकल्पों को उकेरने का प्रयत्न किया गया। गठबन्धन के सम्बन्ध में विचार करते समय प्रमुख रूप से निम्न तीन प्रश्न उपस्थित हैं –

1. गठबन्धन का निर्माण किस प्रकार होता है।
2. गठबन्धन किस प्रकार बना रहता है और
3. गठबन्धन किन कारणों से टूटता है।

---

14 जेरोम एम. चर्टकोफ, सोशल साइकोलॉजिकल थ्योरीज एण्ड रिसर्च ऑन कोएलिशन फर्मेशन सेवेन ग्रोविंग्स, इ. डब्ल्यू केली व माइकेल लाइसरसन द्वारा सम्पादित पुस्तक, पूर्वोक्त, पृ0–320–321

1. गठबन्धन का निर्माण

गठबन्धन निर्माण के सम्बन्ध में स्वेन ग्रोनिंग्स का कहना है कि किसी भी गठबन्धन
के निर्माण में निम्नलिखित चार तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है:[15]

(क) स्थिति

(ख) अनुकूलता

(ग) प्रेरणा

(घ) अन्तःक्रिया

(क) स्थिति

वास्तव में कोई भी गठबन्धन एक विशेष स्थिति का ही परिणाम होता है। स्थिति के अन्तर्गत निर्वाचन के नियम, व्यवस्थापिका के कार्यवाही सम्बन्धी नियम, व्यवस्थापिका में दलों की स्थिति, देश का तात्कालिक वातावरण, जनता की आकांक्षा और देश की राजनीति व संस्कृति आदि आते हैं।

मारिश डूवर्जर कें अनुसार जहाँ साधारण बहुमत तथा सरल मतदान की निर्वाचन पद्धति होती है, वहॉ सामान्यतया द्विदलीय पद्धति पायी जाती है।[16] ऐसी स्थिति में सत्ता कभी एक दल और कभी दूसरे दल के हाथ में होती है। इस दशा में राष्ट्रीय विपदा की स्थिति को छोडकर अन्य किसी स्थिति में गठबन्धन निर्माण की आवश्यकता नहीं रहती। इसके विपरीत जहॉ साधारण बहुमत तथा द्विमतदान और अनुपातिक प्रणाली प्रचलित होती है, वहॉ बहुदलीय व्यवस्था पायी जाती है[17] बहुदलीय व्यवस्था में ही जहॉ कोई भी दल अकेले अपनी सरकार बनाने में समर्थ नहीं होता, वहॉ गठबंधन सरकारे बनती है।

किन्तु भारत के सम्बन्ध में दोनो ही सिद्धान्त गलत सिद्ध होते है। भारत में साधारण बहुमत सरल मतदान प्रणाली है किन्तु यहॉ कभी भी द्विदलीय व्यवस्था नहीं रही। यहॉ साधारण बहुमत द्विमतदान और अनुपातिक प्रतिनिधित्व, प्रणाली लोकसभा तथा विधान सभाओं के चुनाव में नही अपनाई जाती फिर भी प्रारम्भ से ही बहुदलीय व्यवस्था अस्तित्व में रही है। भारत में प्रचलित साधारण बहुमत एकल मतदान प्रणाली भारतीय राजनीति में लम्बे समय तक कांग्रेस को उसकी लोकप्रियता के अनुपात से अधिक सीटे दिलवाने में सहायक रही है, जिसके परिणामस्वरूप कांग्रेस भारत की बहुदलीय व्यवस्था

15–सेवेन ग्रोनिंग्स, ई. डब्ल्यू केली व माइकेल लाइसरसन (सम्या0), पूर्वोक्त पृ0–445–465
16–मारिश डूवर्जर, पोलिटिकल पार्टील : देयर आर्गनाइजेशन एण्ड एक्टिविटीज इन माडर्न स्टेट, लन्दन,–मैथ्यू एण्ड कं0 लि0, न्यूयार्क, जान विली एण्ड सन्स INC 1955, पृ0 330–350
17–वहीं0, पृ0 339

में प्रधान दल[18] बना रहा और केन्द्र तथा अधिकॉश राज्यों में अकेले सत्तारूढ रहा। किन्तु भारतीय राजनीतिक में क्षेत्रीय राज्यों के बढ़ते व कांग्रेस के धटते प्रभाव के कारण अब कम से कम केन्द्र में कांग्रेस अपनी इस प्रधान दल की स्थिति कमोबेश खो चुका है और गठबन्धन के राजनीति का दौर प्रारम्भ हो चुका है।

विधायिका के कार्यवाही सम्बन्धी नियम से तात्पर्य विधायिका में निर्णय लेने की प्रक्रिया से है। निर्णय साधारण बहुमत के लिए जाते है अथवा दो तिहाई बहुमत से। विधायिका में निर्णय लेने की प्रक्रिया जितना कठोर होगी, गठबन्धन का निर्माण उतना हीकठिन होगा।

किस गठबन्धन में कौन कौन दल होंगे या कौन–कौन से दल मिलकर गठबन्धन बनायेगें–यह सब व्यवस्थापिका में दलों की स्थिति पर निर्भर करता है.। ग्रोनिंग्स के अनुसार वे दल जिनकी स्थिति धुरी, जैसी केन्द्रीय होती है, वे संयुक्त निर्माण में पहल नहीं करते, वरन दूसरे दलों द्वारा आमन्त्रित किये जाने की प्रतीक्षा करते है। केन्द्रीय स्थिति वाले दल का जिस तरफ समर्थन होता है, प्रायः उसी गुट का गठबन्धन बनता है।

देश का तात्कालिक वातावरण यदि इस प्रकार का हो जो वर्तमान सरकार के विपक्ष में जनमत को खीच रहा हो तो जनमत के भय से अन्य दल (जो कि वर्तमान सरकार में नही थे) गठबन्धन बनाकर वर्तमान सरकार का विकल्प प्रस्तुत कर सकते है। कुल मिलाकर जब स्थिति इस प्रकार की हो कि अकेले एक दल सरकार बनाने की स्थिति में न हो लेकिन दो या दो से अधिक दल मिलकर सरकार का विकल्प प्रस्तुत कर सकते हो तो गठबन्धन निर्माण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

ख– अनुकूलता :–

अनुकूलता से ग्रोनिंग्स का आशय दलों की उन विशेषताओं से है जो गठबन्धन निर्माण की प्रवृत्ति को बढ़ाती है। इस दिशा में सबसे पहली अनुकूलता आदर्शात्मक है। इस सम्बन्ध में सबसे पहली परिकल्पना यह कर सकते है कि अनुकूल आदर्शों वाले दलों के गठबन्धन बनाने की संभावना अधिक होती है। प्रतिकूल आदर्शो वाले राजनीतिक दलों की अपेक्षा अनुकूल आदर्शों वाले दलों का गठबन्धन बनने की अधिक संभावना रहती है। दूसरे शब्दों में विभिन्न दलों में आदर्शात्मक भिन्नता जितनी ही कम होगी, उन दलों में गठबन्धन बनने की संभावना उतनी ही अधिक होगी।

18–डूवर्जर के अनुसार प्रधान दल उसे कहते हैं जो एक विशेष समय तक अन्य दलों की अपेक्षा बड़ा हो और उसे तथा अन्य प्रतिद्वन्दी दलों को प्राप्त होने वाली सीटों के बीच बहुत अधिक अन्तर हो। इसके अतिरिक्त प्रधान दल होने के लिये यह भी आवश्यक है कि उस दल के सिद्धान्त दर्शन, पद्धति, शैली तथा विचार आदि का उरा युग के साथ तादात्म्य हो। प्राधन्य का सम्बन्ध शक्ति के साथ उतना नहीं है, जितना प्रभाव के साथ। वही, पृ0 308

दूसरी परिकल्पना यह है कि उग्र विचारों वाले दलों की अपेक्षा नरम विचारों वाले दलों के गठबन्धन बनाने की अधिक संभावना रहती है। किन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में जब हानि की अपेक्षा लाभ की अधिक संभावना होती है तब विषम विचारों वाले दलों का भी गठबन्धन बनता है। इसी प्रकार जिन दलों के कार्यक्रम और सामाजिक आधार जितने अधिक अनुकूल होगें, उनके साथ गठबन्धन की संभावना उतनी ही अधिक होगी। राजनीतिक दलों के संगठन भी गठबन्धन निर्माण की प्रक्रिया को प्रभावित करते है। कई बार ऐसा देखा जाता है कि केन्द्रीय अथवा राष्ट्रीय स्तर के नेता गठबन्धन बना लेते है और जिले अथवा प्रदेश स्तर के नेता उसे नही मानते। साथ ही यह भी होता है कि जिले अथवा प्रदेश के नेता गठबन्धन बना लेते है और राष्ट्रीय स्तर के नेता उसे नहीं मानते। परिणामास्वरूप गठबन्धन का निर्माण नहीं हो पाता। ग्रोनिग्स के अनुसार जिन दलों में स्थानीय स्तर पर जितना ही अधिक सहयोग रहता है, राष्ट्रीय स्तर उनके बीच गठबन्धन बनने की संभावना उतनी ही अधिक होती है। इसी प्रकार जिन दलों के नेताओं की सामाजिक पृष्ठभूमि जितनी ही अधिक अनुकूल होती है उतना ही अधिक गठबन्धन बनने की संभावना रहती है। दलों के नेता जितना हीअधिक यह अनुभव करते है कि गठबन्धन बनना चाहिए, उतना ही अधिक गठबन्धन बनने की संभावना बढ जाती है। गठबन्धन निर्माण में दलों एवं उसके नेताओं के पूर्व के अनुभव भी गठबन्धन निर्माण को काफी अधिक प्रभावित करते है। यदि किसी दल ने दूसरे के साथ मिलकर एक बार गठबन्धन बनाया और यह अनुभव अच्छा नहीं रहा तो दूसरी बार, उसके साथ मिलकर गठबन्धन बनाने की संभावना कम हो जाती है और यदि अच्छा रहा तो गठबन्धन बनने की पुनः संभावना बनी रहती है।

ग– प्रेरणा :–

गठबन्धन निर्माण में तीसरा प्रभावशाली तत्व प्रेरणा है। इस सम्बन्ध में दो प्रेरणाये कार्य करती है –

1– सत्ता या अन्य किसी प्रकार का लाभ प्राप्त करने की प्रेरणा

2– अपने अस्तित्व को बनाये रखने की प्रेरणा

प्रत्येक राजनीतिक दल का उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना होता है। जब अकेले बहुमत प्राप्त कर सत्ता प्राप्त करना संभव नहीं रह जाता तब संयुक्त होकर सत्ता प्राप्त करने का विकल्प शेष बचता है और उसी दिशा में प्रयास भी होते है। किन्तु सत्ता प्राप्त करने के साथ साथ प्रत्येक दल का यह भी उद्देश्य होता है कि वह अपना अस्तित्व बनाये रखे। गठबन्धन बनाते समय प्रत्येक दल यह देखता है कि वह किस दल के साथ मिलकर

गठबन्धन बनाये जिससे उसके अस्तित्व को कम से कम खतरा हो। परिणामस्वरूप प्रत्येक दल उसी गठबन्धन में सम्मिलित होना चाहेगा जिसमें उसे अपने सिद्धान्तों के साथ कम से कम समझौता करना पडे उसकी स्थिति सुदृढ़ बनी रहे और वह एक राजनीतिक दल के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रखे।

घ– अन्तःक्रिया :–

गठबन्धन निर्माण में चौथा तत्व, दलों की अन्तः क्रिया से सम्बन्धित है। दलों के बीच आपसी सम्पर्क अर्थात अन्तः क्रिया जितनी ही अधिक होगा, गठबन्धन निर्माण की संभावना भी उतनी ही अधिक होगी।

स्थिति, अनुकूलता, प्रेरणा व अन्तःक्रिया गठबंधन निर्माण को किस प्रकार प्रेरित करते हैं, उसे गोनिंग्स में निम्न माडल के माध्यम से स्पष्ट कि है।
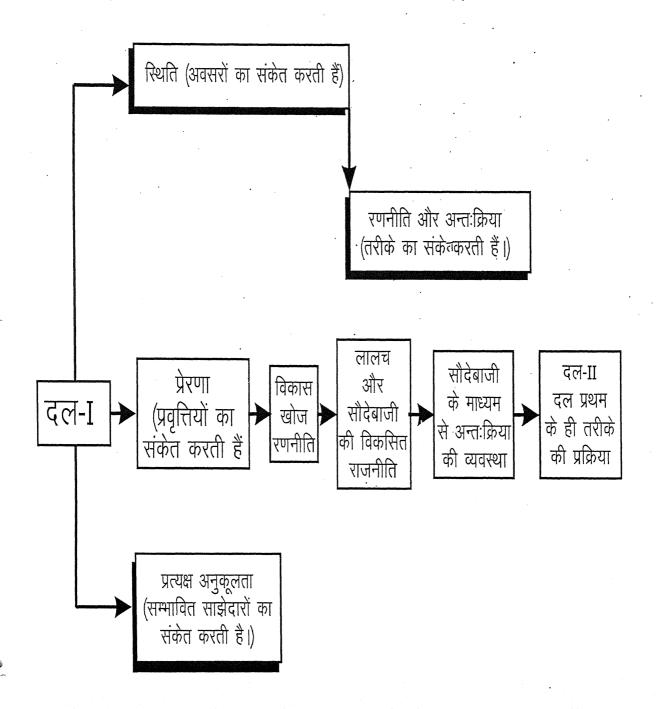
गठबन्धन का कायम रहना और टूटना :–

प्रत्येक गठबन्धन में सरकार चलाने और इस उद्देश्य से संघटक दलों में तालमेल बनाये रखने के लिए एक समिति का गठन किया जाता है। जब तक यह समिति सफलता पूर्वक कार्य करती रहती है गठबन्धन तभी तक कायम रहता है।[19] जब यह समिति अपनी भूमिका में असफल होती है, गठबन्धन भी टूट जाता है। इसी प्रकार गठबन्धन किसी किसी सामान्य कार्यक्रम के आधार पर बनता है।[20] जब तक इस सामान्य कार्यक्रम में सहयोगी दलों की आस्था बनी रहती है तब तक गठबन्धन चलता रहता है और जैसे ही इस सामान्य कार्यक्रम के प्रति संघटक दलों की आस्था समाप्त हो जाती है, वैसे ही गठबन्धन चलने में असमर्थ हो जाता है। गठबन्धन चलाने के लिए निर्धारित नियमोंमें भी आस्था होनी चाहिए। दलों के केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण का भी गठबन्धन की कार्यवाही पर प्रभाव पडता है जब तक राज्य स्तर के नेताओं को स्वतंत्रता प्राप्त रहती है, तब तक गठबन्धन सफलतापूर्वक चलता है और जब राज्य स्तर के नेताओं पर राष्ट्रीय स्तर के नेताओं का दबाब पड़ता है तब गठबन्धन चलने में बाधा उत्पन्न हो जाती है, भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में इन परिकल्पनाओं का परीक्षण अध्याय चार और पॉच में किया जायेगा।

इसी प्रकार जिस गठबन्धन के सहयोगी दलों में जितना अधिक अनुशासन रहता है, वह गठबन्धन उतना ही अधिक स्थायी रह सकता है। अनुशासन की कठोरता गठबन्धन सरकार के पतन का भी कारण बन सकता है। कार्यक्रम जितने ही अधिक सामान्य होंगे, गठबन्धन उतना ही स्थायी रहेगा। परिस्थितियॉ भी गठबन्धन चलाने व तोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। गठबन्धन के निर्माण के समय की परिस्थितिं के विद्यमान रहने तक गठबन्धन चलता है। परिस्थितियों के परिवर्तित होते ही, अगर वे गठबन्धन के संघटक दलों के अनुकूल नहीं है, तो गठबन्धन टूट जाता है। इसी प्रकार चुनाव के समय विभिन्न दलों के हित एक दूसरे से टकराते है, उस समय भी गठबन्धन संकट में पड जाता है। भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में इन परिकल्पनाओं का परीक्षंण भी अध्याय चार, पॉच और छः में किया गया है।

प्रभावशाली नेतृत्व की उपस्थिति भी गठबन्धन को बनाये रखने में सहायक होती है किन्तु कभी कभी प्रभावशाली नेतृत्व गठबन्धन के टूटने का भी कारण बन सकता है। संवैधानिक प्रावधान भी गठबन्धन के स्थायित्व के मुद्दे को प्रभावित करते है। इस सन्दर्भ में भारतीय संविधान की भूमिका का परीक्षण भी इस शोध प्रबन्ध के अन्तर्गत किया गया है।

---

19. 1996 में संयुक्त मोर्चा 1998, 1999 में राजग व 2004 की संप्रग सरकारों में समन्वय समिति का प्रयोग किया गया।
20. "न्यूनतम साझा कार्यक्रम" का प्रयोग

चतुर्थ अध्याय

गठबन्धन की राजनीति

(१९७७ से १९९७ तक)

चतुर्थ अध्याय

गठबन्धन की राजनीति (1977 से 1997 तक)

स्वतन्त्रता के पश्चात प्रथम आम चुनावों से अब तक के भारतीय राजनीति को राजनीतिक दलों के कार्यव्यवहार व गठबन्धन की राजनीति के सन्दर्भ में तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है–

1. काँग्रेसवाद
2. गैर–काँग्रेसवाद
3. गैर–भाजपावाद

भारतीय राजनीति का प्रारम्भ काँग्रेसवाद से होता है, जब अनेक छोटे–बड़े राजनीतिक दलों के होते हुए भी कांग्रेस का वर्चस्व समूचे भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर दिखायी देता है। वस्तुतः यह वह काल था जब कांग्रेस को किसी विशेष राजनीतिक चुनौती का सामना नहीं करना पड़ता था। इसका प्रमुख कारण था राष्ट्रीय आन्दोलन में प्रमुख भूमिका धारक होने के कारण इसका अत्यधिक शक्तिशाली होना। "स्वतन्त्रता संग्राम के आन्दोलन में विभिन्न प्रकार के धार्मिक सांस्कृतिक एवं क्षेत्रीय तथा साम्प्रदायिक एवं जातीय संगठनों का भी अभूतपूर्व योगदान रहा किन्तु वे सभी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कांग्रेस द्वारा संचालित राष्ट्रीय धारा से जुड़ते या उसी में समाहित होते चले गये। बाद में समय–समय पर जन्म लेने वाले राजनीतिक दल या दलों के समूह अथवा मोर्चे भी कांग्रेस के साथ अधिकांश रूप से जुड़ते चले गये। इस प्रकार कांग्रेस वस्तुतः संस्थाओं की संस्था और दलों का दल बनकर एक मंच का सा कार्य करती रहे। वह अपने आप में एक आन्दोलन बन गयी[1] यही कारण था कि कांग्रेस की व्यापकता भारत के हर क्षेत्र हर व्यक्ति तक थी, जिसका कि उसे प्रारम्भिक लाभ भी मिला।

गैर काँग्रेसवाद की राजनीति

किन्तु 1967 में हुए चतुर्थ आम चुनाव से यह मिथक दरकने सा लगा था। केन्द्र में कांग्रेस को मामूली बहुमत से बढ़त मिली और अनेक राज्यों में किसी भी दल को पूर्ण बहुतमत न मिल पाने के कारण संविद सरकारें बनी। डॉ इकबाल नारायण इसे भारतीय

---

1 सुप्रिया राय एवं एस0पी0एन0 सिंह, "भारतीय संविद सरकारों की बदलती प्रवृत्तियाँः वर्तमान सन्दर्भ लोकतन्त्र समीक्षा, खण्ड 29, 1997, प्र0 13

राजनीति में संक्रमण काल का प्रारम्भ मानते हैं।[2] गैर काँग्रेसवादी विचार धारा के पुरोधा डॉ0 राम मनोहर लोहिया थे।[3] यद्यपि इस दर्शन के बीज भारतीय राजनीति में पहले से ही विद्यमान थे किन्तु मुखर और संगठित रूप से यह 1967 के चुनावों से ही दिखायी देता है। समूचे भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर, राज्यों के स्तर पर और केन्द्र स्तर पर भी गठबन्धन अथवा गठबन्धन जैसी स्थितियाँ प्रकट होने लगी इस क्रम में न केवल समान विचारों वाले दलों के बीच चुनावी समझौते और गठबन्धन तथा सीटों के बंटवारे हुए अपितु परस्पर विरोधी विचारों वाले दलों के बीच भी चुनावी समझौते करने के प्रयास हुए। परिणामस्वरूप 1967 या उसके बाद अनेक राज्यों में गैर कांग्रेसी गठबन्धन सरकारें अस्तित्व में आयीं।

केन्द्रीय स्तर पर गठबन्धन की राजनीति के प्रयास होते रहे किन्तु गठबन्धन सरकार बनाने व कांग्रेस को सत्ता से बाहर करने के लिये प्रतीक्षा करनी पड़ी। कांग्रेस विरोध अथवा गैर–काँग्रेसवादी दर्शन के आधार पर अब तक दो गठबन्धन सरकारे अस्तित्व में आयीं–

1. जनता पार्टी सरकार (1977–1979)
2. जनता दल सरकार (1989–1990)

जनता पार्टी सरकार

केन्द्र में सत्तारूढ़ होने वाली पहली गैर काँग्रेसी सरकार जनता पार्टी की सरकार थी। वैसे तो सैद्धान्तिक रूप से जनता पार्टी एक राजनीति दल था किन्तु व्यवहार में यह कई राजनीतिक दलों का गठबन्धन था जो विशेष परिस्थितियों में विशिष्ट नेतृत्व की प्रेरणा से जन्मा था।

यद्यपि 1972 के बाद से ही यह अनुभव किया जा रहा था कि भारत के गैर–साम्यवादी राजनीतिक दलों के द्वारा परस्पर विलय के आधार पर भारतीय जनता को कांग्रेस का एक सशक्त विकल्प दिया जाना चाहिये। किन्तु 25 जून 1975 को लागू किये गये और 19 माह तक चले आपात काल की ज्यादतियों को भुगतने के बाद ही यह कार्य सम्भव हो पाया। 18 जनवरी 1977 को तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने मार्च

---

2 इकबाल नारायण, "ट्रन्जिशनल पोलिटिक्स इन इन्डिया, बेरिन्दर ग्रोवर राजन अरोरा द्वारा सम्पादित पुस्तक इन्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पोलिटिक्स एट कास रोड्स, दीप एण्ड दीप प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995, पृ0 1022
3 डॉ0 सुप्रिया राय व डॉ0 एस0पी0एन0 सिंह "भारतीय संविद सरकारों की बदलती प्रवृत्ति, वर्तमान सन्दर्भ, पूर्वोक्त, पृ0 14

तक लोकसभा चुनाव करवाने की घोषणा की इसके दूसरे ही दिन चार प्रमुख गैर साम्यवादी दलों[4] ने मिलकर जनता पार्टी के नाम से एक संयुक्त संगठन के स्थापना की घोषणा की। इनके साथ बाद में कांग्रेस के विद्रोही चन्द्रशेखर, मोहन धारिया व रामधन भी सम्मिलित हो गये। मोरार जी देसाई को इस संगठन का अध्यक्ष बनाया गया। विधिवत रूप से एक राजनीतिक दल के गठन के लिये अनेक औपचारिक्ताओं को पूरा किया जाना था और इस कार्य में बहुत समय लगने की उम्मीद थी, इस लिये प्रारम्भ में जनता पार्टी का गठन एक संयुक्त चुनावी मोर्चे के रूप में किया गया। किन्तु इसके साथ ही चारों दलों के नेताओं ने यह आश्वासन दिया कि जनता पार्टी में उनका विलय अन्तिम है और इस सम्बन्ध में औपचारिकतायें पूरी की जानी शेष हैं।

यद्यपि जनता पार्टी विभिन्न विचारों वाले राजनीतिक दलों का गठबन्धन था तथापि 13 फरवरी 1977 को जारी जनता पार्टी के घोषणा पत्र में गाँधीवादी आदर्शों पर एक स्वच्छ शासन देने का वायदा किया गया था। विभिन्न क्षेत्रों में जनता के लिये जो वायदे किये गये थे वे निम्न थे–[5]

राजनीतिक क्षेत्र

राजनीतिक क्षेत्र में निम्न 12 सूत्रीय कार्यक्रम की घोषणा की गई थी–

1. आपात–स्थिति उठा ली जायेगी।
2. मौलिक अधिकारों का निलम्बन वापस लिया जायेगा।
3. सभी राजनीतिक बन्दी रिहा किये जायेंगे।
4. न्यायिक जांच के बिना किसी भी संस्था पर प्रतिबनध नहीं लगेगा।
5. संविधान का 42वॉ संशोधन रद्द किया जायेगा।
6. धारा 352 का दुरूपयोग रोकने की व्यवस्था की जायेगी।
7. धारा 356 का दुरूपयोग रोकने की व्यवस्था की जायेगी।
8. चुनाव प्रणाली में तारकुण्डे समिति और अन्य विशेषज्ञों की सिफारिशों के आधार पर सुधार किये जायेंगे।
9. मताधिकार की आयु 18 वर्ष कर दी जायेगी।
10. विधि के समक्ष समन्ता।
11. पत्र पत्रिकाओं से सेन्सर हटा दिया जायेगा।

---

4 संगठन कॉंग्रेस, जनसंघ, भारतीय लोकदल व समाजवादी दल
5 जनता पार्टी का चुनावी घोषणा पत्र 1977

12. इस प्रकार की व्यवस्था होगी कि सरकारी कर्मचारियों को गैर कानूनी आदेश मानने के लिये बाध्य न किया जा सके।

आर्थिक क्षेत्र

घोषणा पत्र में आर्थिक मामलों के निम्न बिन्दुओं पर बल दिया गया था–

1. व्यक्तिगत सम्पत्ति के मौलिक अधिकार का अन्त और रोजी–रोटी का मौलिक अधिकार।
2. गाँधीवादी व्यवस्था के अनुसार अर्थ व्यवस्था का विकेन्द्रीकरण।
3. 10 वर्ष के भीतर भुखमरी का अन्त।
4. स्वावलम्बनके लिये अनुकूल तकनीकों का विकास।
5. खेती को प्राथमिकता और भूमि सुधार कानूनों को क्रियान्वित करने का संकल्प।
6. गाँव और शहर के बीच विषमता समाप्त करने के कार्यक्रम,
7. रोजमर्रा की वस्तुओं के उत्पादन पर बल,
8. लघु उद्योग और कुटीर उद्योगो का विकास,
9. आय, वेतन और दामों के बीच निश्चित नीति,
10 दस हजार रू.तक की आय पर आयकर छूट,
11. ढाई एकड़ तक की जोत पर लगान माफ,
12. न्याय संगत कर व्यवस्था और बिक्री कर के बदले उत्पादन शुल्क,
13. जल तथा ऊर्जा के प्रसंग मे राष्ट्रव्यापी नीति और वातावरण को शुद्व रखने का कार्यक्रम,

सामाजिक क्षेत्र

सामाजिक क्षेत्र में जनता पार्टी ने निम्नलिखित कार्यक्रमों की घोषणा की।

1. माध्यमिक स्तर तक अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था व निरक्षरता की समाप्ति,
2. सभी के लिये पीने योग्य पानी की व्यवस्था,
3. राष्ट्रव्यापी स्वास्थ्य व्यवस्था और स्वास्थ्य सम्बन्धी बीमा,
4. ग्राम विकास का नया आन्दोलन,
5. सस्ते दामों के मकान और सार्वजनिक आवास व्यवस्था,
6. नगर विकास के लिये एक वैज्ञानिक नीति,
7. सामाजिक बीमें की एक बड़ी योजना,
8. जनसख्या के सम्बन्ध मे व्यापक दृष्टिकोण के आधार पर परिवार नियोजन,

9. अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिये पूर्ण अधिकारों और आश्वासनों सहित नये युग का सूत्रपात,
10. नागरिक अधिकारों के विषय में जाँच आयोग,
11. भ्रष्टाचार उन्मूलन के लिये एक स्वायत्त व्यवस्था,
12. नारी अधिकार तथा युवा वर्ग की समृद्वि,
13. गरीबो के लिये कानूनी सहायता तथा कम खर्चीली न्याय व्यवस्था,
14. जनता के अध्यवसाय तथा स्वावलम्बी कर्मठता को प्रोत्साहन

इनके अतिरिक्त विदेश नीति के सम्वन्ध मे कहा गया था। कि जनता पार्टी राष्ट्रीय हित, आकांक्षओं और प्राथमिकताओं पर ध्यान देंगी और गुट निरपेक्षता की नीति अपनायेगी। सार्वजनिक जीवन और प्रशासन में भ्रष्टाचार के विषय में संथानम समिति की सिफारिशों को लागू करने तथा लोकपाल व लोक आयुक्त विधेयक, पारित रहने की बातें भी घोषणा पत्र में कही गई।

छठवें लोक सभा चुनावों में आशातीत सफलता

उपर्युक्त घोषणा पत्र और, कार्यक्रमों के साथ जनता पार्टी चुनावी समर में कूद पड़ी। जनता पार्टी के नेताओं नें अपने सकारात्मक कार्यक्रमों के साथ–साथ आपात काल के 19 माह की ज्यादतियों को जनता के बीच चुनावी मुद्दे के रूप में प्रस्तुत किया। 13 मार्च 1977 को जनता पार्टी के प्रेरणा स्त्रोत जय प्रकाश नारायण ने कहा, "भारत को आजाद करो, तानाशाही हटाओ। यह अन्तिम मौका है। अगर, अबकी चूक क़ी तो जुल्मके 19 महीने आतंक के 19 साल बन जायेंगे।[6] इस प्रकार छठवें लोक सभा में पहली बार कांग्रेस को पराजय का मुँह देखना पड़ा। तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व0 श्रीमती इन्दिरा गाँधी और उनके पुत्र स्व0 संजय गाँधी क्रमशः राय बरेली और अमेठी के प्रतिष्ठापरक सीट पर स्वयं चुनाव हार गये। जनता पार्टी को पूर्ण बहुमत मिला और 24 मार्च 1977 को मोराजी देसाई के नेतृत्व में केन्द्र में पहली गैर काँग्रेसी (गठबन्धन)[7] सरकार बनी। कांग्रेस फार डेमोक्रेसी के नेता बाबू जगजीवन राम और हेमवती नन्दन बहुगुणा पहले सरकार में शामिल नहीं हुए थे किन्तु जय प्रकाश नारायण की अपील पर 27 मार्च 1977 को मंत्रिमण्डल में शामिल हो गये। इस दल को लोक सभा में 28 स्थान प्राप्त हुए थे। पंजाब में जनता पार्टी का अकाली दल से चुनवी गठबंधन था जिसे लोक सभा में 8 स्थान

6 दैनिक जागरण (कानपुर) 14.3.77 पृ0 1

7 जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है जनता पार्टी स्वयं में चार राजनीतिक दलों के गठबंधन के रूप में अस्तित्व में आया था जिसमें बाद में कांग्रेस फार डिमोक्रेसी व चन्द्रशेखर गुट का भी विलय हो गया।

प्राप्त हुए थे। अकाली दल के नेता प्रकाश सिंह बादल को मंत्रिमण्डल में शामिल किया गया। चुनाव के बाद 1 मई 1977 को जनता पार्टी का विधिवत गठन किया गया जिसमें बाबू जगजीवन राम ने भी अपने दल कांग्रेस फॉर डिमोक्रेसी के जनता पार्टी में अन्तिम विलय की घोषणा की। चन्द्रशेखर को सर्वसम्मति से जनता पार्टी का अध्यक्ष चुना गया।

जनता पार्टी के समस्या बिन्दु

यद्यपि जनता पार्टी एक दल के रूप में संगठित की गई थी किन्तु यह संगठन बाह्य आवरण मात्र सिद्ध हुआ। जनता पार्टी कई दलों के संयुक्त होने से बनी थी, इसलिऐ इनमें वह भावात्मक एकता उत्पन्न नहीं हो पाई जो एकदल के दलीय अनुशासन और सरकार के कुशल संचालन हेतु अनिवार्य होती हैं अतः जनता पार्टी घटकवाद व पारस्परिक कलह से नहीं बच सकी। जनसंघ और लोकदल के बीच राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ और दोहरी सदस्यता के मुद्दे पर विवाद उत्पन्न हो गया। चौधरी चरण सिंह ने भी अपने दल से सम्बद्ध एक किसान संगठन का निर्माण कर जनसंघ के दोहरी सदस्यता को चुनौती दी। इस प्रकार सभी को धीरे–धीरे रास्ता मिला और घटकवाद जनता पार्टी का ऐसा लाइलाज कैन्सर बन गया जिसने अन्ततः जनता पार्टी की जिन्दगी ही खत्म कर दी।[8]

जनता पार्टी की दूसरी समस्या थी, इसमें शामिल कुछ घटकों की महत्वाकांक्षायें। इनमें से कम से कम दो नेता ऐसे थे जिन्होंने अपनी प्रधानमंत्री बनने की महत्वकांक्षा के चलते सरकार को समय–समय पर कठिनाई में डालने में कोई परहेज नहीं किया और इनमें से एक इसी महत्वकांक्षा के चलते दल विभाजन और जनता सरकार के पतन के प्रेरक बन प्रधानमंत्री भी बने किन्तु संसद में अपना बहुमत सिद्ध नहीं कर सके।

जनता पार्टी की तीसरी समस्या यह थी कि इसकी अपनी कोई विचारधारा नहीं थी। यह मात्र कांग्रेस विरोध की नकारात्मक विचारधारा के नाम पर संगठित हुए दलों का एक समूह मात्र बन कर रह गई। और एक बार जब कांग्रेस को परास्त कर लिया गया और कुछ महीनों तक सत्ता–सुख की गंध मिल गई तो पुनः परस्पर विरोधी हित व विचार सिर उठाने लगे। कांग्रेस विरोध की प्रेरणा के समाप्त होते ही पार्टी आपसी घमासान का मैदान बन गई। वास्तव में बाहर से प्रतीत होने के बाबजूद इस गठबन्धन में समान नीतियों, समान हितो, समान विचारधारा, समान नेतृत्व व सामान्य सहमति आदि

8 सुप्रिया राय और एस0पी0एन0 सिंह, भारतीय संविद सरकारों की बदलती प्रवृत्तियाँ, वर्तमान सन्दर्भ पूर्वोक्त, पृ. 15

का अभाव था, जिस कारण सुविचारित तार्किक, ढंग से स्थापित यह गठबंधन भी अन्य संविद सरकारों की तरह कमजोर व अल्पकालिक साबित हुआ।

जहां तक नेतृत्व का प्रश्न है, प्रधानमंत्री स्व0 मोरार जी देसाई के नेतृत्व क्षमता, प्रशासनिक कुशलता व राजनीतिक अनुभव पर कोई प्रश्न चिन्ह लगाया ही नहीं जा सकता। उनके नेतृत्व में सामाजिक आर्थिक राजनीतिक क्षेत्रों में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य सम्पादित हुए जिन्हें जनता सरकार की महत्वपूर्ण उपलब्धियॉ माना जा सकता है फिर भी कुछ ऐसी स्थितियॉ विद्यमान थीं जिनके चलते मोरार जी देसाई गठबन्धन को, पूरे पांच साल तक बांधे रह सकने में सफल नहीं हो सके। वास्तव में घटकीय कलह और नेताओं के निजी महात्वाकांक्षाओं ने उनके नेतृत्व की धार को मन्द कर दिया था। दूसरे मोरार जी देसाई समकक्ष नेताओं में वरिष्ठ तो थे किन्तु उनके अन्य महात्वाकांक्षी नेताओं के प्रभामण्डल से उनका प्रभामण्डल बहुत अधिक चमत्कारी व श्रेष्ठ नहीं था जिसके प्रभाव से वे अन्य नेताओं को संगठित रख पाते। तीसरे मोरार जी देसाई एक सख्त प्रशासक माने जाते थे। उन्होंने अपनी नीतियों और सिद्धान्तों के साथ एक सीमा के आगे समझौतावादी दृष्टिकोंण नहीं अपनाया। चौथे, मोरार जी देसाई जिस घटक, संगठन कॉंग्रेस, के नेता थे उस घटक के संसद सदस्यों की संख्या लोकदल व जनसंघ जैसे घटकों से कम थी। जनसंघ के 94 व भारतीय लोकदल के 71 सांसदों की तुलना में संगठन कांग्रेस के सांसदों की संख्या मात्र 50 थी। इस संख्या के मनोवैज्ञानिक दबाव ने भी उनकी नेतृत्व क्षमता की धार को मन्द किया।

जय प्रकाश नारायण, जो जनता पार्टी के संगठन के प्रेरक थे स्वयं अस्वस्थता के कारण व घटकों के कलह के कारण क्षुब्ध थे व इस राजनीतिक कलह में कुछ भी सकारात्मक कर पाने की स्थिति में नहीं थे। परिणाम स्वरूप जुलाई 1979 में जनता पार्टी विभाजित हो गई। चौ0 चरण सिंह जनता पार्टी सरकार से अलग हो गये। सरकार अल्पमत में आ गई और 15 जुलाई 1979 को मोरार जी देसाई ने प्रधानमंत्री पद से त्याग पत्र दे दिया। बाद में चौधरी चरण सिंह के नेतृत्व में अल्पमत सरकार बनी किन्तु संसद में बहुमत सिद्ध न हो पाने की आशंका मात्र से चरण सिंह ने संसद में जाने से पूर्व ही त्याग पत्र दे दिया और इस प्रकार केन्द्र में पहली गठबन्धन सरकार के नाटक का पूर्ण पटाक्षेप हो गया। 1980 में हुए आम चुनावों में कांग्रेस को फिर बहुमत मिला और श्रीमती इन्दिरा गाँधी पुनः प्रधानमंत्री बन गईं।

राष्ट्रीय मोर्चा सरकार 1989

31 अक्टूबर 1984 को हुई श्रीमती इन्दिरागाँधी की हत्या के बाद 1984 में हुए नोवें लाकसभा चुनावों में राजीव गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस को अभूतपूर्व सफलता मिली। अधिकांश राजनीतिक दलों का सफाया सा हो गया। इस चुनाव में कांग्रेस को लोकसभा में कुल 415 स्थान व 48.2 प्रतिशत मत प्राप्त हुए[9]। इसे कुछ राजनीतिक समीक्षकों ने इन्दिरा गाँधी की हत्या से उपजे सहानुभूति की लहर पर सवार सफलता माना[10] तो कुछ ने इसे राजीव गाँधी के नेतृत्व में परिवर्तन का प्रतीक[11]। जो भी हो राजीव गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस अपनी इस लोकप्रियता को अधिक दिनों तक कायम नहीं रख सकी। प्रशासनिक अनुभवहीनता, शासन में प्रधानमंत्री के नवीन मित्र मण्डली के बढ़ते दखल और भ्रष्टाचार की बढ़ती परछाई ने काँग्रेसी आभामण्डल को घूमिल कर दिया। जनता में काँग्रेसी शासन के विरूद्ध पुनः उसी प्रकार का असन्तोष दिखने लगा जैसा कि 1975–1977 के बीच उभरा था। इस स्थिति में बोफोर्स तोप सौदे में दलाली के मामले के रहस्योदघाटन ने आग में घी का काम किया। जनता में कांग्रेस के प्रति असन्तोष और अविश्वास की स्थिति ने पुनः कांग्रेस के सशक्त विकल्प की आवश्यकता का अनुभव किया। इसी बीच काँग्रेसी सरकार में रक्षामंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने कांग्रेस की नीतियों एवं स्थितियों से क्षुब्ध होकर अपने समर्थकों के साथ कांग्रेस छोड़ दी और जनमोर्चा नामक संगठन का गठन किया।

1987 के मध्य से ही विपक्षी दलों ने इस तथ्य पर विचार प्रारम्भ कर दिया था कि परस्पर विलय के आधार पर एक शक्तिशाली राजनीतिक दल का निर्माण किया जाना चाहिये, जिसे जनता के समक्ष कांग्रेस के राष्ट्रीय विकल्प के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। विपक्षी दलों के इन प्रयत्नों के ही परिणाम थे–जनता दल और राष्ट्रीय मोर्चा।

राष्ट्रीय मोर्चे का गठन–विपक्षी दलों की एकता के प्रयासों का पहला प्रतिफल सात दलों के राष्ट्रीय मोर्चे के रूप में उभर कर सामने आया है। 1977 में विपक्षी एकता के सूत्रधार लोकनायक जयप्रकाश नारायण और नायक मोरार जी देसाई थे तो 1988 की विपक्षी एकता के सूत्रधार हरियाणा के तत्कालीन मुख्यमंत्री देवीलाल और नायक

---

9 इन्डिया टुडे, जनवरी, 15 1985 (अंग्रेजी) पृ0 30–39
10 सुप्रिया राय एवं एस0पी0 एन0 सिंह, भारतीय संविद सरकारों की बदलती प्रवृत्तियाँ : वर्तमान सन्दर्भ, पूर्वोक्त, पृ0–16
11 इकबाल नारायण, "ट्रान्जिशनल पोलिटिक्स इन इण्डिया", पूर्वोक्त, 1023.

विश्वनाथ प्रताप सिंह थे। 7 अगस्त 1988 को 7 राजनीतिक दलों जनता पार्टी, लोकदल (ब), कांग्रेस (स), जनमोर्चा, तेलुगू देशम, असमगण परिषद, और द्रमुक ने मिलकर एक राष्ट्रीय मोर्चे के निर्माण की घोषणा की, मोर्चे के शीर्ष पद को लेकर उठने वाले विवाद को दो पदों–अध्यक्ष और संयोजक–का सृजन करके सुलझा लिया गया। अध्यक्ष पद पर एन0टी0 रामाराव व संयोजक पर वी0पी0 सिंह सुशोभित हुए। दोनो ही पद समानधर्मी थे।[12] इसके अतिरिक्त मोर्चे के घटकों में एकता व समन्वय बनाये रखने के लिये 11 सदस्यों के एक अध्यक्ष मण्डल की व्यवस्था की गई जिसके सभी सदस्य या तो अपने दल के अध्यक्ष थे या अपने राज्य विशेष के मुख्यमंत्री थे।[13] इसके अतिरिक्त मोर्चे के संघर्ष कार्यक्रमों को संचालित करने के लिये आठ सदस्यीय समिति का गठन किया गया जिसके अध्यक्ष हेमवती नन्द बहुगुणा थे। इस समिति के अन्य सदस्य थे–मधु दण्डवते, सुब्रह्मण्यम स्वामी, के0पी0 उन्नीकृष्णन, पी0 उपेन्द्र, मुरासोली मारन, दिनेश गोस्वामी व रामधन। मार्चे में एक नीति निर्धारक राष्ट्रीय परिषद की भी व्यवस्था की गई थी। इसके अलावा मोर्चे के संविधान, घोषणापत्र, न्यूनतम साझा कार्यक्रम तथा संघर्ष कार्यक्रम समितियों का गठन किया गया। मोर्चे के संगठनात्मक स्वरूप में इतने उपभागों के गठन के दो उद्देश्य थे–एक तो अधिक से अधिक नेताओं को काम में लगाकर उनके अहम् व महात्वाकांक्षाओं की तुष्टि व दूसरे सुविचारित तरीके से काम करते हुए मोर्चे की एकता को बनाये रखना। संभवतः इन्हीं कारणों से विभिन्न दलों की मांगों अथवा सुझावों को दृष्टिगत रखते हुए राष्ट्रीय मोर्चे के कार्यक्रमों की 71 सूत्री विस्तृत सूची जारी की गई।[14]

इस विपक्षी एक जुटता के पीछे 1989 में होने वाले लोकसभा के चुनावों का दबाव था, साथ ही सत्तारूढ़ दल के विरूद्ध उभरते व्यापक जनमत की प्रेरणा भी विपक्षी एकता के प्रयासों को प्रेरित कर रही थी। इतिहास इस बात का साक्षी रहा है कि जब–जब शासक दल कमजोर हुआ है, तब–तब विपक्ष को संजीवनी मिली है। इस दबाव को रामाराव ने स्वीकार भी किया, "हम महसूस करते हैं कि एकजुट होकर उन ताकतों से लड़ना जरूरी हो गया है जो इस समय देश को नष्ट कर रही है। हमारे राष्ट्रीय मोर्चे का उद्देश्य इस बुरी सरकार से जनता की रक्षा करना है।"[15]

---

12 माया, सितम्बर 15, 1988, पृ0 42–43
13 अध्यक्ष मण्डल के 11 सदस्य थे–एन0टी0रामाराव, वी0पी0 सिंह, अजीत सिंह, हेमवती नन्दन बहुगुणा, करूणानिधि, शरद चन्द्र सिन्हा, प्रफुल्ल महंत, देवीलाल, राम कृष्ण हेगड़े, बीजू पटनायक, माया, सितम्बर 15, 1988, पृ.–43
14 वही
15 वही

ध्यातव्य हो कि राष्ट्रीय मोर्चे में सम्मिलित दलों का विलय नहीं हुआ था बल्कि सभी दलों का अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना हुआ था। यह एकता संसद के भीतर व बाहर जनता के बीच एक जुट कार्य प्रदर्शन के लिऐ थी। वास्तव में राष्ट्रीय मोर्चे का गठन क्षेत्रीय दलों की अपनी आवश्यकता थी। ये क्षेत्रीय दल अपने क्षेत्र के वर्चस्व धारक थे और इनके लिये क्षेत्रीय स्तर पर अपनी पहचान व अपने कार्यक्रमों को बनाये रखना इनकी बाध्यता थी। अनेक राज्यों में इनके वर्चस्व के प्रदर्शन के चलते वहां राष्ट्रीय दलों की पहचान धूमिल होने लगी थी, और ये क्षेत्रीय दल राष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान तलाशने में लगे हुए थे। इसलिये राष्ट्रीय मोर्चा विपक्ष के इन सभी राष्ट्रीय व क्षेत्रीय शक्तियों के लिये एक अनिवार्यता बन गया। भारतीय राजनीति में यह पहला अवसर था जब विपक्षी एकता के लिये पहली बार क्षेत्रीय अथवा राज्य स्तर के दलों ने प्रयास किया। निश्चय ही यह पहला विपक्षी एकता ही नहीं वरन् राष्ट्रीय एकता व अखण्डता के लिये भी एक सकारात्मक कदम था। इससे जहां क्षेत्रीयता के दायरे से उभर राष्ट्रीय मुख्यधारा से जुड़ने का अवसर मिला वहीं उन्हें अपनी आवश्यक मांगों को राष्ट्र के समक्ष रखने का एक राष्ट्रीय मंच भी उपलब्ध हुआ।

जनता दल का निर्माण

यदि विपक्षी एकता के सन्दर्भ में राष्ट्रीय मोर्चे के गठन का श्रेय एन0टीन0 रामाराव को है तो जनता दल के निर्माण का श्रेय चौधरी देवीलाल को जाता है। अक्टूबर 1988 में जनता पार्टी, लोकदल (ब) और जनमोर्चे के विलय के परिणामस्वरूप जनता दल अस्तित्व में आया। वी0पी0 सिंह को जनता दल का अध्यक्ष बनाया गया। जनता दल राष्ट्रीय मोर्चे की सबसे महत्वपूर्ण इकाई थी।

चुनाव संचालन और सरकार का गठन

नौवीं लोकसभा के चुनावों की घोषणा होते ही सत्ता पक्ष और विपक्ष दोनो ही अपने–अपने चुनावी महासमर के अभियान में लग गया। यद्यपि जनमत कांग्रेस के विरूद्ध था और भ्रष्टाचार के आरोपों के चलते उसमें एक सीमा तक हताशा थी फिर भी कांग्रेस ने प्रारम्भ से ही आक्रामक चुनाव प्रचार अभियान प्रारम्भ कर दिया। इधर विपक्षी एकता के प्रयासों के परिणाम स्परूप जनता दल और राष्ट्रीय मोर्चे की स्थापना हो चुकी थी फिर भी विविध महात्वाकांक्षाओं और विरोधाभासों से घिरा विपक्ष अभी भी एकजुटता के सूत्र तलाश रहा था। एक तरफ जनता दल के दो महत्वपूर्ण नेताओं वी0पी0सिंह और

चन्द्रशेखर के बीच मतभेद जारी था तो दूसरी तरफ शरद यादव जैसे युवा नेता उत्साहित हो चुनावी संघर्ष में सफलता हेतु त्रिसूत्री रणनीति का गुणगान कर रहे थे–विलय, साझा और तालमेल। विलय की परिणति जनता दल थी, तो साझे के अन्तर्गत राष्ट्रीय मोर्चा आता था और तालमेल भाजपा और वामपंथी दलों से किया जाना था।[16] कुल मिलाकर जनता दल में अनुशासन कायम हो सकता था, राष्ट्रीय मोर्चे में भी एक जुटता की कल्पना की जा सकती थी किन्तु एक ही मंच पर भाजपा और सम्यवादियों से तालमेल की संभावना कठिन थी। किन्तु राष्ट्रीय मोर्चे के लिये इन दोनो ही ध्रुवों को साथ लेना अनिवार्य था। भाजपा से तालमेल के सम्बन्ध में मार्क्सवादी दो खेमों में बंटे हुए थे। नम्बूद्रीपाद जहां भाजपा से तालमेल के विरोधी थे, वहीं ज्योति वसु इसके पक्षधर थे।[17]

किन्तु इन सबके बाबजूद विपक्षी खेमें का एक जुट होना उनकी राजनीतिक विवशता थी। कांग्रेस विरोधी जनमत और कांग्रेस के विरूद्ध विपक्षी दलों की एक जुटता के चलते कांग्रेस की ओर कदम बढ़ाना आत्मघाती होता साथ ही जिस तरह से राजीव गाँधी ने धारा 356 का दुरूपयोग करते हुए कर्नाटक में बोम्मई सरकार को बर्खास्त किया था[18] उससे राज्यों में शासन कर रहे दलों में असुरक्षा का भाव था। यही आत्म रक्षा की भावना विपक्षी एकता का मूलाधार बन गई।[19]

इस प्रकार विलय, साझा और तालमेल के त्रिसूत्रीय फार्मूले से प्राप्त एकता के आधार पर राष्ट्रीय मोर्चा चुनावी समर में उतरा। राष्ट्रीय मोर्चे ने अपने घोषणा पत्र में व्यापक कार्यक्रमों की घोषणा की। इनमें से संक्षेप में कुछ प्रमुख कार्यक्रम व घोषणायें निम्नलिखित थीं।[20]

1. नागरिकों के लोकतांत्रिक अधिकारो को बहाल करना तथा काम के अधिकार व सूचना प्राप्त करने के अधिकार को मौलिक अधिकारों की सूची में शामिल करना।
2. संसदीय संस्थाओं को उनका सम्मान लौटाना और उन्हे उत्तरदायी बनाना।
3. आकाशवाणी और दूरदर्शन को स्वायत्तशासी निगम बनाने का प्रस्ताव।
4. प्रेस की स्वतंत्रता के संरक्षण का आश्वासन।
5. पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव नियमित रूप से करवाने की वचन बद्धता।
6. संविधान के अनु0 263 के अन्तर्गत अन्तर–राज्य परिषद की स्थाना।

---

16 माया, जुलाई 15, 1989, प्र0 32.
17 वही, पृ0 37
18 वही
19 वही
20 राष्ट्रीय मोर्चा से घोषणा पत्र से लिया गया अंश

7. राज्यपाल की संवैधानिक जिम्मेदारी निर्धारित करने के लिये संविधान में आवश्यक संशोधन।
8. भ्रष्टचार उन्मूलन और स्वच्छ प्रशासन की गारंटी।
9. योजना की आधी राशि ग्रामीण क्षेत्रों में खर्च करने का आश्वासन।
10. 10,000 रु0 तक के ऋण के माफी का आश्वासन।
11. अनुसूचित जाति तथा अनुसूचित जन जाति आयोग व अल्प संख्यक आयोगों को वैधानिक दर्जा प्रदान करना।
12. कमजोर वर्गों पर अत्याचार की सुनवाई के लिये विशेष अदालतों का गठन।
13. विशेष दंगाविरोधी दल का गठन।
14. मण्डल आयोग की सिफारिशों को लागू किया जाना।

उपर्युक्त मुद्दों और कार्यक्रमों के आधार पर राष्ट्रीय मोर्चे ने अपना चुनावी अभियान प्रारम्भ किया। चूंकि जनता दल मोर्चे का सबसे बड़ा व मुख्य घटक था इस लिये इसने राष्ट्रीय मोर्चे के घोषणा पत्र के आधार पर ही चुनाव लड़ना तय किया। किन्तु गठबन्धन की एक महत्वपूर्ण कमजोरी, आपसी मतभेद चुनाव प्रचार के दौरान दबे नहीं रह सके। पहले तो टिकटों के बंटवारे को लेकर मतभेद उत्पन्न हुए फिर प्रधानमंत्री पद की दावेदारी को लेकर। प्रधानमंत्री पद की दौड़ में कुल तीन लोग शामिल थे—विश्वनाथ प्रताप सिंह, चन्द्रशेखर और चौधरी देवी लाल। किन्तु बोफोर्स मुद्दे पर जिस तरह से वी0पी0 सिंह ने कांग्रेस छोड़ा था व राजीव गाँधी की आलोचना की थी उसके चलते जनता का झुकाव वी0पी0 सिंह की ओर अधिक था। साथ ही उनकी स्वच्छ निर्विवाद छवि तथा जनता के बीच जिस तरह से उन्होंने राष्ट्र की सुरक्षा से जुड़े भ्रष्टाचार के मुद्दे को उछाला था उससे भी उनकी लोक प्रियता का ग्राफ बढ़ा था। इसलिये स्थिति को भाप कर जनता दल के सूत्रधार चौधरी देवीलाल ने वी0पी0सिंह को अगले प्रधानमंत्री के रूप में प्रचारित करना प्रारम्भ कर दिया था। किन्तु दूसरी ओर चन्द्रशेखर बार—बार इस बात पर बल दे रहे थे कि उन्हें वी0पी0 सिंह का नेतृत्व किसी भी दशा में स्वीकार्य नहीं है[21] और प्रधानमंत्री पद का निर्णय निर्वाचित संसदीय दल के सदस्य करेंगे।[22]

1989 में हुए नौवे लोकसभा चुनाव में जनता दल ने कुल 243 स्थानों पर अपने प्रत्याशी खड़े किये थे जिसमें से 142 विजयी हुए राष्ट्रीय मोर्चे के अन्य दलों के केवल

21 माया, जुलाई 15, 1989 पृ0 31
22 आर0एन0 त्रिवेदी, व एम0पी0राय, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, जयपुर, 2001, पृ0 257—58

तेलूगु देशम पार्टी को मात्र दो सीटें मिल सकीं इस प्रकार सम्पूर्ण राष्ट्रीय मोर्चे से कुल 144 स्थान प्राप्त हुए। मोर्चे ने जिन अन्य दलों से तालमेल किया था उनमें भाजपा को 86, भाकपा को 12 माकपा 33 स्थान मिले। इस प्रकार मोर्चा अपने विपरीत घ्रुवों वाले सहयोगियों के साथ साधारण बहुमत प्राप्त कर चुका था। कांग्रेस (ई) को 197 स्थान मिल थे। लोक सभा में किसी भी दल को बहुमत प्राप्त न होने के कारण राष्ट्रपति ने सबसे बड़े दल के नेता राजीव गाँधी को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया किन्तु राजीव गाँधी ने सरकार बनाने से इन्कार किया और विपक्ष में बैठने की इच्छा जाहिर की। इधर जनता दल ने बड़े ही नाटकीय अन्दाज में वी0पी0 सिंह को जनता दल संसदीय दल का नेता चुन लिया था। संसदीय दल के नेता के निर्वाचन हेतु तीन लोगों के नाम चर्चा में थे—वी0पी0सिंह, देवीलाल और चन्द्रशेखर संसदीय दल की बैठक में देवीलाल को सर्वसम्मति से नेता निर्वाचित किया गया किन्तु देवीलाल ने वी0पी0 सिंह का नाम प्रस्तावित किया जिसका संसदीय दल ने अनुमोदन भी कर दिया। इस प्रक्रिया और निर्णय से क्षुब्ध होकर चन्द्रशेखर बैठक से उठकर चले गये[23] इस प्रकार सरकार निर्माण से पूर्व ही विवाद का बीजारोपण हो गया।

इस प्रकार कांग्रेस (ई) द्वारा सरकार बनाने से मना करने पर राष्ट्रपति ने दूसरे सबसे बड़े दल जनता दल के नेता वी0पी0 सिह को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया जिसे स्वीकार करते हुए वी0पी0 सिंह ने 2 दिसम्बर 1989 को प्रधानमंत्री के रूप में शपथ ग्रहण की। राष्ट्रीय मोर्चे के दल सरकार में शामिल थे जबकि भाजपा और वामपंथी दल बाहर से सरकार का समर्थन करने का आश्वासन दे चुके थे। इस प्रकार दूसरी गैर काँग्रेसी गठबन्धन सरकार अस्तित्व में आयी।

मोर्चा सरकारी कठिनाइयाँ

संसदीय शासन में विभिन्न गुटों, हितों व क्षेत्रों को प्रतिनिधित्व देकर एक सन्तुलित मंत्रिमण्डल का निर्माण कर पाना एक कठिन कार्य होता है। और यह कार्य तब और भी कठिन हो जाता है जब यह काम कई दलों की मिली जुली गठबन्धन सरकार के नेता को करना हो। यह कठिनाई तब और बढ़ जाती है जब गठबन्धन में परस्पर विरोधी विचारों औंर हितों वाले तत्व विद्यमान हो। 1989 में भाजपा और वामपंथियों द्वारा सरकार से बाहर रहते हुए सरकार का समर्थन करने की घोषणा से वी0पी0 सिंह की कठिनाइयाँ

23 आर0एन0 त्रिवेदी और एन0पी0 राय, पूर्वोक्त, पृ0 258

कुछ कम हो गई थीं किन्तु जनता दल व राष्ट्रीय मोर्चे के विविध तत्वों में तालमेल बिठा पाना उनके लिए अब भी समस्या थी। फिर भी प्रारम्भिक दौर में उन्हें 18 सदस्यीय मंत्रिमण्डल का निर्माण करने में विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। मंत्रिमण्डल का गठन विश्वनाथ प्रताप सिंह की निजी विश्वसनीयता की पहली परीक्षा थी। इसी से जाहिर होना था कि प्रतिबद्धता नैतिकता और सरकार चलाने के व्यावहारिक तरीके की उनकी बातें इस कसौटी पर खरी उतरती हैं या नहीं, किन्तु यहां वे अपनी पसन्द के 18 लोगों का जिनमें 14 जनता दल के थे और 4 सहयोगी दलों के मंत्रिमण्डल बनाने में सफल रहे। इस सम्बन्ध में इण्डिया टुडे को दिये एक साक्षात्कार में उन्होने स्वीकार किया कि मंत्रिमण्डल के सदस्य चुनते समय, मैंने उनकी पृष्ठ भूमि, हैसियत और राजनीतिक तजुर्बे का ख्याल रखा। हर एक का चयन मैंने उनकी पसंद और विचार धारा को ध्यान में रखते हुए किया।[24] इसी प्रकार मंत्रिमण्डल के सदस्यों के बीच विभागों का वंटवारा उन्होंने काफी योजना बना कर सावधानी से किया। यह कार्य उन्होंने इस तरह से अंजाम दिया कि प्रत्येक को उनकी सामर्थ्य के अनुरूप मंत्रालय मिले और सरकार की छवि भी ठीक बनें।[25] वी0पी0 सिंह की दूसरी समस्या थी दो विपरीत घ्रुवों–भाजपा व वामपंथी–के समर्थन पर टिका होना। बहुत कठिनाई से इनसे तालमेल संभव हो सका था। किन्तु सरकार बनाने के बाद दोनो ही पक्षों ने वी0पी0 सिंह के नेतृत्व वाली जनता दल सरकार को पक्के समर्थन का आवश्वासन दिया था और यह भी स्पष्ट कर दिया था कि अगर वी0पी0 सिंह प्रधानमंत्री नहीं रहेंगे तो वे अपने समर्थन के बारे में पुनर्विचार करेंगे। प्रत्यक्षतः दोनो ही घ्रुवों ने सरकार को निर्बाध, रूप से काम करने दिया।[26] किन्तु इन दोनो ही पक्षों का एक दृष्टिकोण पूरी तरह स्पष्ट था कि यदि सरकार को समर्थन देने के राजनीतिक लाभ राजनीतिक हानि से कम हो जायेंगे तो वे मध्यावधि चुनाव करवाना पसन्द करेंगे।[27] अन्ततः यह दृष्टिकोंण और स्थिति ही जनता दल सरकार के पतन का कारण बनीं।

किन्तु वी0पी0 सिंह की सबसे प्रमुख कठिनाई उनके अपने जनता दल के अन्दरूनी कलह से थी। इस अन्तर्कलह का सर्वप्रमुख कारण वरिष्ठ नेताओं की राजनीतिक महात्वाकांक्षा थी। चन्द्रशेखर तो प्रारम्भ से ही उनके नेतृत्व के विरोधी थे और जिस तरह से वी0पी0 सिंह को जनता दल संसदीय दल का नेता चुना गया वे और

---

24 इण्डिया टुडे, दिसम्बर 31, 1989, पृ0 15
25 वही
26 वही, पृ0 25
27 वही, पृ0 25, 26

भड़क उठे। किन्तु एक अनुभवी राजनेता के व्यक्तित्व का परिचय देते हुए उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा में बैठ गये। वी0पी0सिंह के लिये सबसे बड़ी समस्या "किंग मेकर" की भूमिका निभाने वाले व 1988–89 में विपक्षी एकता के सूत्रधार उपप्रधानमंत्री चौधरी देवीलाल थे। वे जब तक सरकार में रहे प्रधानमंत्री के लिये कोई–न कोई परेशानी पैदा करते रहे। भारत की राष्ट्रीय राजनीति में वोट बैंक के आधार के रूप में धर्म, जाति, भाषा, व क्षेत्र जैसे विभाजक तत्व पहले से ही विद्यमान थे देवीलाल ने गाँव और शहर का मुदा उछालकर इस कड़ी में एक कड़ी और जोड़ दी। ग्रामीण लोगों को अधिक सुविधायें दिये जाने के सम्बन्ध में देवीलाल की मांगों से सरकार लगातार कठिनाई का अनुभव करती रही। देवीलाल अपनी भूमिका के बदले पूरी कीमत वसूल करने को तत्पर थे। प्रधानमंत्री न बन पाना उनकी व्यक्गित विवशता थी किन्तु वे सरकार पर दबावकारी प्रभाव बनाये रखना चाहते थे। परिणामस्वरूप प्रधानमंत्री और उपप्रधानमंत्री में मतभेद गहराने लगे। मतभेद और कलह का नाटक 27 फरवरी 1990 को हुए हरियाणा में मेहम विधान सभा उपचुनाव के साथ गहराने लगा। पूरा राष्ट्र चाहता था कि इस चुनाव में हेराफेरी करने वाले मुख्यमंत्री ओम प्रकाश चौटाला को अपदस्थ किया जाये। किन्तु वी0पी0 सिंह ने देवीलाल के पुत्रमोह से समझौता किया और चौटाला को मुख्यमंत्री बने रहने की इजाजत दे दी।[28] इस बीच जून 1990 में चौटाला ने एक अन्य विधान सभा क्षेत्र दड़बाकला से चुनाव जीत लिया। उन्हें गुपचुप तरीके से मुख्यमंत्री बना दिया गया। इसके विरोध में अनेक मंत्रियों ने त्याग पत्र दे दिया। इस मुद्दे पर अपने क्षोभ का प्रदर्शन करते हुए वी0पी0 सिंह ने भी त्याग पत्र दिया और वापस भी ले लिया। अब दिन पर दिन देवीलाल और अन्य मंत्रियों में तालमेल बिठाये रख पाना प्रधानमंत्री के लिये कठिन होता जा रहा था। अन्ततः जब देवी लाल ने सार्वजनिक रूप से प्रधानमंत्री को रीढ़ हीन कहा तो वे मंत्रिमण्डल से बर्खास्त कर दिये गये।[29]

पहले से क्षुब्ध चन्द्रशेखर के लिये उपयुक्त अवसर आ चुका था। उन्होंने एक तरफ देवीलाल की तरफ मित्रता का हाथ बढ़ाया तो दूसरी ओर कांग्रेस से भी सम्पर्क साधना प्रारम्भ कर दिया क्योंकि जनता दल सरकार के नाटक का पटाक्षेप निकट प्रतीत होने लगा था। 7 अगस्त 1990 को आयोजित देवीलाल की रैली से एक दिन पूर्व वी0पी0 सिंह ने देवीलाल को कमजोर करने और पिछड़े वर्ग के मतदाताओं पर अपनी पकड़ मजबूत करने के उद्देश्य से मण्डल आयोग की सिफारिशें लागू करने की घोषणा कर दी।

---

28 इण्डिया टुडे, नवम्बर 15, 1990, पृ0 22
29 वही

यह कदम यद्यपि उन्होने अपने राजनीतिक लाभ के लिये उठाया था किन्तु यही कदम उनकी सरकार के पतन का कारण बना। इस सम्बन्ध में उन्होंने सहयोगी दलों से कोई परामर्श नहीं किया था। वी0पी0 सिंह के इस कदम से भाजपा जैसे सहयोगी सशंकित हो गये और उन्होंने भी अपने जनाधार के विस्तार की संभावनायें तलाश की। भाजपा के पास राम जन्मभूमि–बाबरी मस्जिद का मुद्दा था। वास्तव में आरक्षण के मुद्दे पर भाजपा के हिन्दू वोट बैंक में बिखराव की भारी आशंका व्याप्त हो गई जो उनके राजनीतिक अस्तित्व के लिये खतरा था। इसलिये भाजपा ने रामन्दिर मुद्दे को उछालने और सक्रिय विपक्ष की भूमिका में आने का फैसला किया। इस उद्देश्य से भाजपा ने लालकृष्ण आडवाणी के नेतृत्व में सोमनाथ से रथयात्रा प्रारम्भ की। इस रथयात्रा का मुख्य उद्देश्य राम के नाम पर हिन्दू मतों के बिखराव को रोकना था।

इस सम्बन्ध में भारतीय जनता पार्टी कार्यकारिणी ने 17 अक्टूबर 1990 को एक प्रस्ताव पारित कर रखा था जिसमें कहा गया था कि यदि राम मन्दिर निर्माण को रोका गया या आडवाणी की रथयात्रा रोकी गई तो वह समर्थन वापस ले लेगी। किन्तु जब रथयात्रा बिहार से गुजर रही थी तो 23 अक्टूबर 1990 को समस्तीपुर में अडवाणी को गिरफ्तार कर लिया गया। इसी दिन पार्टी के प्रमुख नेताओं ने राष्ट्रपति से भेंट कर सरकार से समर्थन वापस लेने का पत्र सौंप दिया। यद्यपि इस समर्थन वापसी का तात्कालिक कारण बिहार में आडवाणी की गिरफ्तारी और रथयात्रा को रोका जाना था तथापि ज्ञापन में समर्थन वापसी का प्रमुख कारण सरकार की हर मोर्चे पर विफलता को बताया गया था और वास्तविक कारण इस सरकार के चलते रहने से अपने अस्तित्व पर आसन्न संकट को टालना था। इस सम्बन्ध में भाजपा के रतन मालकानी के इस बयान से स्थिति स्पष्ट हो जाती है, "हम यह सलीब और कब तक ढ़ोते? यह व्यक्ति हमें हर तरह से तकलीफ ही देने लगा था। हम एक ऐसी सरकार को समर्थन दे रहे थे जो हमारा ही समाधि लेख लिखने पर आमादा थी।"[30]

इस प्रकार राष्ट्रपति द्वारा 7 नवम्बर 1990 की निर्धारित तिथि को संसद में विश्वास मत न प्राप्त कर पाने के बाद वी0पी0 सिंह ने प्रधानमंत्री पद से त्याग पत्र दे दिया और दूसरी गठबन्धन (अल्पमत) सरकार का पतन मात्र 11 महीनों में ही हो गया। इस गठबन्धन सरकार का जीवन जनता पार्टी से भी कम रहा वास्तव में अगर देखा जाय तो इन दोनो ही गठबन्धन प्रयोगों में कई समानतायें थीं–

---

30 इण्डिया टुडे, नवम्बर, 15, 1990, पृ0 24 पर उद्धत

1. दोनो हीं गैर–काँग्रेसवाद की नकारात्मक विचारधारा के उपज थे। कांग्रेस के विरूद्ध उपजे जनमत के प्रभाव में विपक्षी दल संगठित हुए किन्तु जैसे ही यह उद्देश्य उनके सामने से तिरोहित हुआ उनकी परिस्थिति जन्य एकता में दरारें दिखने लगीं।
2. दोनों ही प्रयोगों में विपक्षी दलों द्वारा बिछाई गई एकता के बिसात पर कांग्रेस से टूट कर आये हुए नेताओं का कब्जा हुआ।[31] इस तथ्य ने विपक्षी दलों के गठबन्धन को कमजोर किया क्योंकि विपक्ष के गैर–काँग्रेसी विपक्षी नेता इस स्थिति के प्रति स्वयं को बहुत सहज नहीं कर पा रहे थे।
3. जनता पार्टी और ज़नता दल दोनो ही सरकारों में गठबन्धन के घटकों के प्रमुख प्रभावी वरिष्ठ नेताओं की महत्वाकांक्षा लगातार गठबन्धन को कमजोर करती रहीं और यह महत्वकांक्षा ही दोनो के पतन के लिये प्रमुख रूप से उत्तरदायी थी।[32]
4. दोनों ही प्रयोगों में घटक दलों के बीच समन्वय बनाये रखने के कारगर उपाय नहीं किये गये थे। साथ ही घटक दलों के बीच अनुशासनहीनता दोनो ही बार सरकार के अक्षमता व विफलता का कारण बनीं।

इन समानताओं के बाबजूद जनता पार्टी व जनता दल सरकार के बीच कुछ आधारभूत अन्तर भी थे–

1. जनता पार्टी पूर्ण बहुमत प्राप्त सरकार थी जबकि जनता दल सरकार अल्पमत सरकार थी।
2. जनता पार्टी सरकार किसी दल के बाह्य समर्थन पर निभर्र नहीं थी जबकि जनता दल सरकार दो विपरीत विचारों बाले राजनीतिक पक्षो–भाजपा और वामपंथी दलों–के बाह्य समर्थन पर आधारित थीं।
3. जनता पार्टी सरकार दल के विभाजन के कारण गिरी जबकि जनता दल सरकार बाहर से समर्थन करने वाले दल भाजपा के द्वारा समर्थन वापस लिये जाने के कारण गिरी।

---

31 1977 में मोराज जी देसाई, 1989 में वी० पी० सिंह
32 1977 में मोरार जी देसाई के विरूद्ध चौ० चरण सिंह व बाबू जगजीवन राम व 1989 में वी० सिंह के विरूद्ध चौ० देवीलाल व चन्द्रशेखर

जनता दल सरकार का नेतृत्व एक ऐसे व्यक्ति के हाथ में था जो अपनी प्रशासनिक कुशलता व साफ सुथरी छवि के लिये जाना जाता था किन्तु गठबन्धन की परिस्थिति जन्य विवशताओं के चलते वे अपने नेतृत्व क्षमता का पूर्ण प्रदर्शन नहीं कर सके। वास्तव से सत्ता में टिके रहने के लिये जिस तरह से उन्होंने समझौते किये अथवा संकीर्ण राजनीतिक जोड–तोड़ का सहारा लिया उससे उनकी छवि और लोकप्रियता को गहरा धक्का लगा। किसी नेता की लोकप्रियता सत्ता में बने रहने और सहयोगियो पर नियंत्रण व अनुशासन कायम रखने वाली सबसे महत्वपूर्ण शक्ति होती है। लोकप्रियता की हानि के साथ ही इस शक्ति में क्षरण होने लगता है और नेता की दल पर पकड़ कमजोर होने लगती है। वी0पी0 सिंह के साथ भी ऐसी ही हुआ। जब तक लोकप्रियता की आंधी उनके साथ थी, लोगों ने उनका साथ दिया। जैसे जैसे जनमत का सम्मान उनसे दूर होने लगा वैसे वैसे समर्थक भी उनसे दूर होते गये। वास्तव में वी0पी0 सिंह के लिये सबसे बड़ी चुनौती थी, भाजपा और वामपंथियों के अन्तविरोधों में सन्तुलन साधना, इसमें वे काफी हद तक कामयाब भी रहे किन्तु वे अपने दल के देवी लाल और चन्द्रशेखर की चुनौतियों से प्रभावी ढ़ंग से निपटने में नाकाम रहे और एक के बाद एक समझौते करने के प्रयास में वे अपने ही दल के दलदल में फंस कर रह गये जिससे वे कभी उबर नहीं सके।[33]

इसी प्रकार आनन फानन में लिये गये अपने कुछ निर्णयों[34] के चलते वे बाहर से साथ दे रहे अपने सहायोगियों को भी साथ नहीं रख सकें। समय पर निर्णय लेने की क्षमता किसी नेता के नेतृत्व की सबसे प्रमुख विशेषता होती हैं। यदि निर्णय समय से पूर्व लिया जाये तो भी वह अपेक्षित परिणाम नहीं देता और यदि निर्णय समय बीत जाने पर लिया जाय तो भी वह फलदायी नहीं होता। वी0पी0 सिंह के बारे में कहा जाता है कि वे कार्यवाही के लिये तभी तत्पर होते थे जब पानी सर से गुजर जाने का खतरा हो[35] रामजन्मभूमि–बाबरी मस्जिद विवाद की वे 10 महीने तक अनदेखी करते रहे पर जब लालकृष्ण आडवाणी ने रथयात्रा शुरू की तो उन्होंने समाधान खोजना प्रारम्भ किया।[36] उनकी यह प्रवृत्ति भी उनकी सरकार के स्थायित्व के लिये घातक साबित हुई।

---

33 इण्डिया टुडे, नवम्बर, 15, 1990 पृ0 22
34 मण्डल आयोग की सिफारिशें लागू करना, अयोध्या में विवादित परिसर के अधग्रहण के सम्बन्ध में अध्यादेश जारी करने का निर्णय लेना व दबाव में फिर उसे वापस ले लेना आदि।
35 इण्डिया टुडे, नवम्बर 15, 1990, पृ0 23
36 वही

गैर–काँग्रेसवाद के इस दूसरे विकल्प प्रयोग के साथ ही भारतीय राजनीति में क्षेत्रीयतावादी, जातिवादी और साम्प्रदायिक प्रवृत्तियॉ अधिक प्रभावी हुई और यह प्रभाव लगातार बढ़ता चला गया। क्षेत्रीयतावादी, राजनीतिक लड़ाइयॉ, धार्मिक रथयात्रायें और नेतृत्व के लिये जातिवादी संघर्ष पहले छोटे पैमाने पर होते थे किन्तु अब ये अधिक प्रभावी हो गये। इन तत्वों के प्रभावों ने भारतीय राजनीति पर जो असर डाला उसके प्रभाव आज भी अधिक मुखर रूप में परिलक्षित हो रहे हैं इन्ही प्रभावों के चलते संसदीय गरिमा व सामान्य शिष्टाचार की प्रवृत्तियॉ भी कमजोर हुई हैं और राजनेताओं के व्यवहार में लोकतांत्रिक सहिष्णुता की कमी आई है।

चन्द्रशेखर सरकार

वी0पी0 सिंह सरकार के पतन के बाद देश में अस्थिरता और अनिश्चितता के बादल फिर मंडराने लगे। कांग्रेस इस समय चुनाव नहीं चाहती थी क्योंकि अक्टूबर 1990 में अयोध्या में घटी घटनाओं के चलते भाजपा का हिन्दुत्व कार्ड अपने चरम उत्कर्ष, पर था और इस समय होने वाले चुनाव में कांग्रेस और जनता दल दोनों को भारी क्षति होने की संभावना थी। स्थिति की गंभीरता को भांपते हुए राजीव गाँधी ने चन्द्रशेखर की, महती महात्वाकांक्षा का अपने दलहित में सदुपयोग किया और चन्द्रशेखर के 60 सांसदों वाले छोटे से गुट जनतादल (समाजवादी) की सरकार को समर्थन देने का प्रस्ताव किया।[37] और इस प्रकार 10 नवम्बर 1990 को चन्द्रशेखर ने प्रधानमंत्री के रूप में शपथ ली और एक विचित्र प्रकार के बेमल गठबन्धन सरकार का अविर्भाव हुआ। पूर्व प्रधानमंत्री वी0पी0 सिंह ने इस पर कटाक्ष करते हुए इसे एक अनूठा प्रयोग बताया जिसमें कांगेस रूपी जीप को जनता दल समाजवादी की ट्राली खींच रही है।[38]

वास्तव में यह प्रयोग मात्र एक संयोग नहीं बल्कि एक सुनियोजित रणनीति, समीकरण और समझौते का परिणाम था। इस स्थिति तक पहुंचना दोनों ही पक्षों के लिये बहुत आसान नहीं था। चन्द्रशेखर की काँग्रेस विरोधी सत्ता से दूर रहने वाले सिद्धान्तवादी राजनेता की छवि जा रही थी और उन पर अवसरवादिता, सत्ता लोलुपता दल–भंजक और अति महात्वाकांक्षी होने के काराप लग रहे थे। दूसरी तरफ कांग्रेस में

---

37 जहीर एम0 कुरैशी, कोएलिशन गवर्नमेन्टः एक्सपी एण्ड प्रोस्पेक्ट्स "एस0भट्ट और वी0एस0 मनी द्वारा सम्पादित पुस्तक "इण्डिया आन द थ्रेशहोल्ड आफ द 21वीं सेन्चुरीः शेप आफ थिंग्स टू कम, लैन्सर्स बुक्स, 1999, पृ0 117

38 माया, दिसम्बर 15, 1990 पृ0 19

भी इस समर्थन का विरोध हो रहा था। यह विडंबना ही है कि दोनो पक्षों के पास समीप आने के कारण यदि सीमित, थे तो उनके पास विकल्प भी अधिक नहीं थे। भाजपा के राममय वातावरण में येनकेन प्रकार, चुनाव से बचने की विवशता दोनों पक्षों की एक जुटता का प्रमुख आधार थी। कुल मिलाकार इस तरह की अल्पमत सरकार का गठन करवा कांग्रेस ने भावी स्थिति को अपने नियंत्रण में ले लिया क्योंकि वह अपनी रणनीति के अनुसार जब चाहे सरकार गिरा भावी चुनावों का मार्ग प्रशस्त कर सकती थी। इस बात की पुष्टि कांग्रेस के एक वरिष्ठ नेता के इस बयान से भी होती है, "मार्च तक हम चुप रहेंगे और कभी कभार ही इसके खिलाफ बोलेंगे। फिर बजट के समय शोर मचायेंगे।"[39] और हुआ भी ऐसा ही 6 मार्च 1991 को कांग्रेस द्वारा समर्थन वापस लिये जाने से चन्द्रशेखर सरकार का पतन हो गया किन्तु वे 20 जून 1991 तक कार्यवाहक प्रधानमंत्री बने रहे। मई–जून 1991 में हुए दसवें लोकसभा चुनावों में पुनः किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। कांग्रेस को 232 स्थानों पर विजय मिली और पी0वी0 नरसिंह राव के नेतृत्व में अल्पमत कांग्रेसी सरकार का गठन हुआ।

चन्द्रशेखर के लिये प्रधानमंत्री के रूप में अल्प कार्यकाल भी निर्विघ्न नहीं था। उन्हें भी विविध सत्ता समर्थक तत्वों में तालमेल बिठाने में काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ा। चन्द्रशेखर को सबसे पहले देवीलाल और कांग्रेस के बीच तालमेल बिठाने में कठिनाई आई क्योंकि कांग्रेस देवीलाल को पंसद नहीं करती थी। सुब्रहमण्यम स्वामी जैसे नेता उनके लिये अन्दरूनी तौर पर परेशानी के कारण थे। इसके अलावा आरक्षण मुद्दा, मन्दिर–मस्जिद मुद्दा कठिनाइयों में डालने वाले थे। सरकार की प्राथमिकतायें और निर्णय स्वतंत्र रूप से तय ही नहीं किये जा सकते थे। इसके लिये उन्हें कांग्रेस के इच्छा की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। और इस प्रकार चन्द्रशेखर ने अपनी समस्त राजनीतिक योग्यता क्षमता व अनुभव को राजीव गाँधी के हाथों इस्तेमाल होने के लिये गिरवी रख दिया। सिद्धान्तहीन अवसरवादी राजनीति की 1979 के बाद यह पुनरावृत्ति थी।

यद्यपि चन्द्रशेखर सरकार अल्पकाल तक ही सत्ता में रहीं किन्तु वे हर मोर्चे पर बुरी तरह विफल रहे। आर्थिक क्षेत्र में तो रिजर्व बैंक का सोना गिरवी रखने का निर्णय सरकार की आर्थिक स्थिति पर नियंत्रण की पुरी कथा स्पष्ट कर देता है। इस तरह से कांग्रेस ने एक तीर से दो निशाने साध लिये। इस प्रयोग से चुनाव बचाने व माहौल बदलने के लिये अपेक्षित समय मिल गया और साथ ही चन्द्रशेखर की नेतृत्व क्षमता पर

---

39 . इण्डिया टुडे, नवम्बर, 30, 1990, पृ0–21 पर उद्धत

असफलता की मुहर लगाकर उन्हें कटघरे में खड़ा करने का अवसर भी मिल गया, क्योंकि भविष्य में कांग्रेस विरोधी किसी गठबंधन का नेतृत्व चन्द्रशेखर कर सकते थे। इसलिये उन्हें भी आजमा कर जनता को समक्ष अक्षम साबित करने का लक्ष्य भी पूरा कर लिया।

गैर भाजपावादी राजनीति का उदय

राम जन्मभूमि मन्दिर मुद्दे पर आन्दोलन और रथयात्रा जैसे कार्यक्रमों के संयोजन से भारतीय जनता पार्टी की लोक प्रियता का ग्राफ लगातार ऊपर बढ़ रहा था। इस प्रवृत्ति से अन्य विपक्षी दलों के साथ–साथ कांग्रेस भी असुरक्षित अनुभव कर रही थी। यही कारण है कि वी0पी0 सिंह की सरकार गिरने के बाद कांग्रेस ने चन्द्रशेखर के नेतृत्व में अल्पमत सरकार का गठन करवाना अधिक उचित समझा क्योंकि अयोध्या में 30–31 अक्टूबर 1990 को घटी घटनाओं से हिन्दू जनमानस आन्दोलित व आक्रोशित था। एक समय "ग्रैन्ड एलाएंस" का भाग रही, जनता पार्टी का एक घटक रह चुकी और 1989 में जनता दल सरकार को समर्थन देने वाली भाजपा शेष विपक्षी दलों के लिए अछूत बनती जा रही थी, इस अवधारणा को 6 दिसम्बर 1992 को हुए बाबरी मस्जिद के विध्वंश ने और पुष्ट कर दिया। अब भारतीय राजनीति में राजनीतिक दल दो भिन्न आधारों पर ध्रुवीकरण की संभावनायें तलाशने लगे हिन्दुत्व पर आधारित राष्ट्रीयता का समर्थन करने वाले दल और धर्म निरपेक्ष राजनीतिक दल। यहीं से भाजपा विरोध की राजनीति का प्रारम्भ होता है।

1996 के लोक सभा चुनाव और गैर–भाजपावादी राजनीति का प्रकटीकरण

वैसे तो गैर भाजपावाद की प्रवृत्ति नब्बे के दशक के साथ ही प्रारम्भ हो गई थी किन्तु इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति 1996 के चुनावों के साथ होती है। 1996 के चुनाव में विपक्षी दलों के राष्ट्रीय मोर्चे और वामपंथी दलों के वाम–मोर्चे को एक साथ दो मोर्चों पर लड़ना था। एक तरफ आकंठ भ्रष्टाचार और घोटालों के आरोपों में डूबी कांग्रेस और दूसरी तरफ धर्म के आधार पर मतों के ध्रुवीकरण में संलग्न भाजपा से उन्हे लड़ना था। किन्तु यह भी स्पष्ट हो चुका था कि निकट भविष्य में इन दो बुराइयों में से किसी एक को चुनने की आवश्यकता पड़ी तो वे अपेक्षाकृत छोटी बुराई, (इन दलों के मतानुसार) कांग्रेस को चुनना पसन्द करेंगे।

एक दृष्टि ग्यारहवीं लोकसभा के चुनावों पर—1996 में हुए ग्यारहवें लोकसभा चुनावों के पूर्व ही भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर तीन ध्रुवों अथवा तीन मोर्चों का अस्तित्व समझ में आने लगा था। अब तक के गैर–काँग्रेसवादी राजनीति में पूरा विपक्ष न्यूनाधिक एक पाले में दिखायी देता था किन्तु कांग्रेस के साथ–साथ भाजपा विरोध की प्रवृत्ति के कारण भारतीय राजनीति में निम्न तीन खेमे बन गये।

(क) कांग्रेस व उसके सहायोगी

(ख) राष्ट्रीय मोर्चा व वाम मोर्चा–संयुक्त मोर्चा

(ग) भारतीय जनता पार्टी व उसके सहयोगी

1996 के लोकसभा चुनावों के सन्दर्भ में इन तीनो ध्रुवों की राजनीति के कुछ समकालीन स्थितियों पर विचार करना समीचीन होगा।

(क) कांग्रेस व उसके सहयोगी

पी० वी० नरसिंहराव के शासन काल में उजागर हुए भ्रष्टाचार और घोटालों के अनेक मामलों के चलते कांग्रेस और उसके कई प्रमुख नेताओं की साख काफी गिर चुकी थी। चुनाव से पूर्व ही यह संभावना व्यक्त की जा रही थी कि ग्यारहवीं लोक सभा भी त्रिशंकू होगी और कोई एक राजनीतिक दल अकेले दम पर सरकार नहीं बना पायेगा। इस लिये प्रायः सभी राजनीतिक दलों ने इस चुनाव में अपने लिये अनुकूल सहयोगियों के साथ गठबंधन का प्रयास किया।[40] 1991 के बादसे कांग्रेस के दक्षिणी और पश्चिमी गढ ढह चुके थे, दल में फूट और अन्तरर्कलह मची हुई थी, और कार्यकत्ताओं में हताशा और निराशा व्याप्त थी। इसलिए कांग्रेस के लिये भी अब गठबन्धन का सहारा लेना अपरिहार्य हो गया था।

उपर्युक्त स्थितियों के बाबजूद कांग्रेस ने लगभग सभी राज्यों में अकेले चुनाव लड़ा। तमिलनाडु जैसे कुछ राज्यों में उसने गठबन्धन जरूर किया। वास्तव में तमिलनाडु में वह पिछले दो दशकों से किसी न किसी द्रविड़ पार्टी से गठबंधन करती रही है।[41] इस बार कांग्रेस ने अन्नाद्रमुक के साथ यहां गठबंधन किया। इस गठबंधन से दल के कुछ नेता रूष्ट भी हो गये। पी० चिदम्बरम और मूपनार जैसे नेताओं ने इस निर्णय का विरोध

---

40 इण्डिया टुडे, नवम्बर, 30, 1990 पृ० 21 पर उद्धत
41 इण्डिया टुडे, अप्रैल, 30, 1996 पृ० 24

करते हुए पार्टी छोड़ दी और एक नये दल तमिल मानिला कांग्रेस का निर्माण कर द्रमुक से चुनावी गठबंधन कर लिया।[42] नरसिंहराव में एकमुश्त भीड़ और मत खींच सकने वाला करिश्माई व्यक्तित्व नहीं था, फिर वे भ्रष्टाचार के आरोपों से घिरे हुए थे। इस लिये वे इस चुनाव में पार्टी को एक जुट रख पाने में सक्षम साबित नहीं हुए। यह कांग्रेस के पराभव का संकेत मात्र था।

(ख) राष्ट्रीय मोर्चा–वाम मोर्चा

1996 के लोक सभा चुनावों में सत्ता का दूसरा सशक्त दावेदार राष्ट्रीय मोर्चा–वाम मोर्चा था। यह विकल्प पहले से ही विद्यमान था किन्तु इनमें पहले जैसी एक जुटता नहीं थी। विभिन्न राज्यों में विभिन्न दलों के साथ गठबन्धन के प्रश्न पर यह मोर्चा पूरी तरह बंटा हुआ था। आन्ध्र प्रदेश में राष्ट्रीय मोर्चा जहां तेलुगू देशम (लक्ष्मी पार्वती) गुट से गठबंधन के पक्ष में था वहीं वाम मोर्चा नायडूगुट के समर्थन में। तमिलनाडु में ये अन्नाद्रमुक से तालमेल चाहते थे किन्तु आखिरी क्षणों में कांग्रेस ने उससे तालमेल कर लिया। उत्तर प्रदेश में अवश्य मुलायम सिंह यादव की समाजवादी पार्टी से समझौता करने में सफलता मिली। इसके अतिरिक्त राजस्थान में तिवारी कांग्रेस से, गुजरात में आदिवासी विकास पार्टी और महाराष्ट्र में दलित महासंघ से सीटों का तालमेल हो गया। कुल मिलाकर गठबंधन बनाने और तालमेल बिठाने की प्रक्रिया में इन मोर्चों में अन्दरूनी कलह ही बढ़ी। परस्पर महात्वाकांक्षाओं और निजी, पसंद और नापसंद के कारण मोर्चा सही मायनों में एकजुट नहीं हो सका। परिणामस्वरूप कई स्थानों पर मोर्चे के घटक परस्पर विरोध में भी चुनाव में उतरे। वस्तुतः इस चुनाव में इस मोर्चे के पास कोई ऐसा मुद्दा नहीं था अथवा राष्ट्रीय राजनीति में ऐसा कोई कारण नहीं था जो इनमें एकजुटता की प्रेरणा का संचार करता, जैसाकि 1977 व 1989 में हुआ था।

मोर्चे की एक अन्य समस्या थी नेतृत्व की। रामो–वामों चुनाव प्रचार के लिये किसी एक नेता पर निर्भर नहीं थी। वस्तुतः यह नेताओं का एक मोर्चा था, जिनमें अधिकांश समान पदीय व समान प्रभाव वाले थे। इन नेताओं की अलग–अलग राज्यों में तो पैठ थी किन्तु संमूचे राष्ट्र में जनाधार रखने वाला कोई नेता नहीं था जो विभिन्न घटकों के बीच समन्वयकारी कार्य कर सकता।

---

42 वही, पृ0 23

(ग) भाजपा और उसके सहयोगी।

भारतीय जनता पार्टी की सफलता दर लगातार बढ़ रही थी। 1984 में दो सीटें प्राप्त करने वाली भाजपा ने 1989 में 86, 1991 मं 120 स्थानों पर विजय प्राप्त की थी और अब इसे भावी शासक दल के रूप में देखा जाने लगा था। किन्तु भाजपा नेताओं को भी पता था कि अकेले दम पर वे स्पष्ट बहुमत नहीं प्राप्त कर सकते इसलिये भाजपा नेतृत्व में भी नये सहयोगियों की खोज में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी। वरिष्ठ पार्टी नेता भी इस बात को स्वीकार करते थे कि किसी ठोस मुद्दे के अभाव में पार्टी अपने बूते सत्ता में नहीं आ सकती, इसलिये वह क्षेत्रीय पार्टियों का समर्थन जुटा रही है।[43] इस प्रयास में भाजपा ने सर्वप्रथम कांग्रेस से अलग हुए नेताओं कमलनाथ व माधव राव सिन्धिया को साधने का प्रयास किया किन्तु सफलता नहीं मिली।

जहां तक क्षेत्रीय व राज्यस्तरीय दलों से गठबंधन का प्रश्न है, इसमें भी भाजपा को बहुत अधिक सफलता नहीं मिली। इस आपाधापी में वह तीन सहयागियों का समर्थन प्राप्त कर पाई—महाराष्ट्र में शिवसेना, हरियाणा में हरियाणा विकास पार्टी व बिहार में समता पार्टी।

भारतीय जनता पार्टी ने प्रधानमंत्री के रूप में अटल बिहारी बाजपेयी का नाम उछाला। निश्चय ही बाजपेयी चमत्कारी व्यक्तित्व के स्वामी थे और भाजपा का उदारवादी चेहरा प्रस्तुत करते थे इसलिए वे भाजपा के बारे में अनिर्णय में फंसे मतदाताओं को लुभा सकते थे।[44] कांग्रेस व रामो—वामों के नेतृत्व की तुलना में बाजपेयी की अपने दल के सदस्यों पर पकड़ मजबूत थी। उपर्युक्त दोनों मोर्चो की तुलना में भाजपा में दलीय अनुशासन था और अन्तर्कलह अपेक्षाकृत कम थे। कुछ असन्तोष टिकटों के बंटवारे को लेकर अवश्य उभरे किन्तु इस मामले में इंका और जनता दल में जितना असंतोष था उसकी तुलना में भाजपा में कम उठा पटक हुई। कुल मिलाकर भाजपा की स्थिति अन्य दलों की तुलना में बेहतर थी।

चुनाव एवं चुनाव परिणाम

11वीं लोक सभा के चुनाव 22 व 27 अप्रैल तथा 2 व 7 मई को एक साथ सम्पन्न हुए। राष्ट्रीय स्तर पर यह चुनाव तीन मोर्चों के बीच हुआ—कॉंग्रेस, राष्ट्रीय मोर्चा

---

43 इण्डिया टुडे, अप्रैल, 30, 1996 पृ0 32
44 वही पृ0 33

व वामपंथी मोर्चा तथा भाजपा व उसके सहयोगी दल। 545 सदस्यों के सदन में 161 सीटें जीतकर भारतीय जनता पार्टी सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। चार दशकों से अधिक समय तक भारत पर शासन करने वाली कांग्रेस की छवि फीकी रही और उसे केवल 140 सीटें हासिल हो सकी। राष्ट्रीय मोर्चे के प्रमुख घटक जनता दल को मात्र 46 सीटों पर विजय मिली। वाममार्चे के प्रमुख दलों में माकपा को 32 स्थान तथा भाकपा को 12 स्थान प्राप्त हुए।

इस चुनाव की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता रही राज्य स्तरीय (क्षेत्रीय) दलों को मिली विस्मयकारी सफलता। इस चुनाव से ही भारत के राष्ट्रीय राजनीति में इन राज्य स्तरीय दलों की भूमिका व महत्व काफी बढ़ गया। इन दलों में असम–गणपरिषद को 5, पंजाब मं अकाली दल को 8, आन्ध्र प्रदेश में तेलुगू देशम को 16, तमिलनाडु में द्रमुक को 17 व तमिल मानिला कांग्रेस को 20, हरियाणा में हरियाणा विकास पार्टी को 3, उत्तर प्रदेश में समाजवादी पार्टी को 17 व बसपा को 11 स्थान मिले। 11वीं लोकसभा सही अर्थों में त्रिशंकु लोकसभा थी क्योंकि एक तो किसी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला था और दूसरे तीन मोर्चों में से कोई भी मोर्चा बहुमत के करीब नहीं था। बिना दो मोर्चों के संयुक्त हुए अथवा किसी मोर्चे में दल–बदल करायें सरकार बनाना कठिन था।

सरकार गठन की कठिनाई

1996 में लोकसभा चुनावों के बाद सबसे कठिन काम था मन्त्रिमण्डल का निर्माण करना। तीनों गठबंधनों में से कोई भी बहुमत के करीब नहीं था और बिना दो के हाथ मिलाये सरकार बन नहीं सकती थी। भाजपा व उनके सहयोगियों की कुल सदस्य संख्या 195 थी किन्तु बहुमत हेतु शेष संख्या की व्यवस्था कर पाना टेढ़ी खीर थी क्योंकि कांग्रेस और रामो–वामों दोनो ही किसी भी कीमत पर भाजपा को सत्ता में आने नहीं देना चाहते थे। 13 मई 1996 को कांग्रेस कार्य समिति के इस घोषणा से कि वह केन्द्र में भाजपा की सरकार नहीं बनने देगी, तीसरे मोर्चे और कांग्रेस की सरकार बनने की संभावना बढ़ी। चूंकि अब यह गैर–भाजवाद के दर्शन का दौर था इसलिये एक दूसरे के विरोधी रहे और परस्पर विरोधी हित रखने वाले कांग्रेस और तीसरे मोर्चे के दलों के बीच सरकार गठन हेतु तालमेल की संभावना बढ़ गई।

इस बीच 14 मई 1996 को कनार्टक के तत्कालीन मुख्यमंत्री एच0डी0 देवगौड़ा को तीसरे मोर्च ने अपना नेता चुन लिया इसी दिन रात में देवगौड़ा ने राष्ट्रपति से

मिलकर सरकार बनाने का दावा पेश किया। उनका यह दावा कांग्रेस के समर्थन पर आधारित था अतः राष्ट्रपति ने उनसे कांग्रेस के समर्थन का लिखित पत्र मांगा। देवगौड़ा के अनुरोध पर 15 मई 1996 को राव ने तीसरे मोर्चे को समर्थन देने के प्रश्न पर विचार करने हेतु कांग्रेस कार्य समिति की आकस्मिक बैठक बुलाई। बैठक में देवगौड़ा के नेतृत्व में बनाने वाली सरकार को समर्थन देने का निर्णय भी ले लिया गया। किन्तु समर्थन का पत्र, इसे नरसिंह राव की चाल कहें या कूटनीति,[45] राष्ट्रपति भवन काफी देर से पहुंचा। इस बीच राष्ट्रपति डॉ0 शकर दयाल शर्मा ने अटल बिहारी बाजपेयी को सरकार बनाने का नियंत्रण दे दिया था।

राष्ट्रपति के इस निर्णय पर तीसरे मोर्चे के नेताओं ने तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की। उन्होने 15 मई को ही स्वयं राष्ट्रपति भवन पहुंच कर अपना विरोध दर्ज करते हुए राष्ट्रपति से यह जानना चाहा कि जब कांग्रेस कार्य समिति ने मोर्चे को समर्थन देने का निर्णय ले लिया था तब बाजपेयी को किस प्रावधान के अन्तर्गत सरकार बनाने हेतु आमंत्रित किया गया। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति का सिर्फ इतना ही कहना था कि उन्होंने परम्परा का निर्वाह तथा संवैधानिक सिद्धान्तों का पालन किया है।[46]

भाजपा सरकार का गठन एवं पतन

इस प्रकार नाटकीय घटनाक्रम के बाद पहली बार भारतीय जनता पार्टी के पहले प्रधानमंत्री के रूप में अटल बिहारी बाजपेयी ने 16 मई 1996 को अपने संक्षिप्त मन्त्रिमण्डल के साथ शपथ ली। किन्तु बाजपेयी के लिये सरकार बना लेना जितना आसान था, बहुमत जुटा कर उसे स्थायी बनाये रखना उतना ही कठिन काम था। राष्ट्रपति ने बाजपेयी को 31 मई तक बहुमत सिद्ध करने का समय दिया। बाजपेयी सरकार के बहुमत की संभावनायें मुख्य रूप से दक्षिण के क्षेत्रीय दलों और कांग्रेस तथा जनता दल के किसी संभावित विभाजन के फार्मूले पर टिकी थी। किन्तु 31 मई 1996 तक ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। लोकसभा में लम्बी बहस के बाद यह तय हो गया था कि भाजपा सरकार को उसके सहयोगियों के अतिरिक्त अन्य किसी दल अथवा गुट का समर्थन नहीं मिलने जा रहा अतः सदन में मत विभाजन से पूर्व ही प्रधानमंत्री बाजपेयी ने

---

45 माया, मई, 31, 1996, पृ0 52
46 वही, पृ0 53

त्याग पत्र दे दिया और इस प्रकार केन्द्र में बनी पहली भाजपा सरकार का 13 दिनों में ही अन्त हो गया।

संयुक्त मोर्चा सरकार का गठन

परम्पराओं के आधार पर सबसे बड़े दल की सरकार बनाने का राष्ट्रपति का प्रयोग विफल हो जाने पर एकमात्र विकल्प, संयुक्त मोर्चा ही बचता था। संयुक्त मोर्चे के नेता सरकार बनाने का दावा पहले ही प्रस्तुत कर चुके थे और उनकी सरकार को कांग्रेस के समर्थन का लिखित पत्र भी मिल चुका था इस लिये राष्ट्रपति को देवगौड़ा को सरकार बनाने हेतु आमंत्रित करने में कोई कठिनाई हुई। इस प्रकार एच0डी0 देवगौड़ा ने 1 जून 1996 को भारत में दूसरे अल्पमत गठबंधन सरकार के प्रमुख के रूप में शपथ ली।[47]

देवगौड़ा सरकार के बहुमत का आधार संयुक्त मोर्चे के घटक दलों के साथ–साथ कांग्रेस द्वारा बाहर से दिया जाने वाला समर्थन था। अतः इस सरकार को बहुमत प्राप्त करने में कोई कठिनाई नहीं हुए। भारत के संसदीय राजनीति के इतिहास में सरकार का जो स्वरूप उभरा था वह अपने आप में अनूठा था। सरकार का गठन करने वाला संयुक्त मोर्चा वास्तव में छोटे–छोटे राष्ट्रीय व क्षेत्रीय दलों का एक ऐसा समूह था जिसमें कोई भी दल सांसदों की 50 की संख्या तक नहीं पहुंच पाया था। किसी दल का तो केवल एक सांसद था और उसे भी मंत्रिमण्डल में स्थान मिला था। इस स्थिति पर कटाक्ष करते हुए प्रमोद महाजन ने कहा था कि आज हम सबसे बड़ी पार्टी वाले हैं किन्तु हमें सदन में विपक्षी पार्टी के रूप में जाना जाता है। कांग्रेस दूसरी सबसे बड़ी पार्टी है जो सत्ता को बाहर से समर्थन दे रही है और न तो मोर्चे में है और न सरकार में, माकपा तीसरे नम्बर की पार्टी है जिसके सदस्य मोर्चे की कार्यकारिणी में तो हैं किन्तु सरकार में नही। जनता दल चौथे नम्बर की पार्टी है जो देश की सत्ता का नेतृत्व कर रही है।[48]

जहां तक कांग्रेस द्वारा इस सरकार को समर्थन दिये जाने का प्रश्न है, यह बहुत कुछ उसकी पूर्व में आजमाई जा चुकी रणनीति का हिस्सा थी। ऐसे अल्पमत सरकार को समर्थन देना जिसे अनुकूल अवसर पर अपदस्थ कर नये चुनाव करवाना और पूर्ण बहुमत

---

47 केन्द्र में पहली अल्पमत गठबंधन सरकार वी0पी0 सिंह के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार थी। यद्यपि 1991 में नरसिंह राव सरकार भी अल्पमत सरकार थी किन्तु वह गठबंधन सरकार नहीं थी।

48 सुप्रिया राय व एस0 पी0 एन सिंह, भारतीय संविद सरकारों की बदलती प्रवृत्तियाँ: वर्तमान सन्दर्भ, पूर्वोक्त पृ0–23 पर उद्धत।

के साथ फिरसत्ता हस्तगत कर लेना। किन्तु अब समय बदल चुका था ओर वह अवसर आ गया था कि कांग्रेस इस बात को स्वीकार करें कि अब गठबंधन की राजनीति के साथ तालमेल करना होगा।[49]

मंत्रिमण्डल के गठन में देवगौड़ा ने संयुक्त मोर्चे के घटक दलों के प्रमुख नेताओं से परामर्श कर इसे अन्तिम रूप दिया। प्रारम्भिक रूप से 1 जून 1996 को जिन 21 सदस्यों ने मंत्री के रूप में शपथ ली उनका दलगत व क्षेत्रवार विवरण निम्न है।[50]

तालिका 4.1

मंत्रियों का दलगत विवरण

क्रमांक	दल का नाम	सांसदों की संख्या	मंत्रियों की संख्या
1.	जनता दल	45	10
2.	सपा	17	04
3.	तेलगूदेशम	16	03
4.	तमिल मनिला कांग्रेस	20	02
5.	द्रमुक	17	02

तालिका 4.2

मंत्रियों का राज्यवार विवरण

क्रमांक	दल का नाम	सांसदों की संख्या	मंत्रियों की संख्या
1.	उत्तर प्रदेश	20	04
2.	पंजाब	00	01
3.	तमिलनाडु	39	04
4.	कर्नाटक	17	03
5.	आन्ध्र प्रदेश	19	03
6.	बिहार	27	06

49 जहीर एम0 कुरैशी, कोएलिशन गवर्नमेन्टः एक्सपीरिएन्स एण्ड प्रोस्पेक्ट्स, पूर्वोक्त, पृ 119
50 इण्डिया टुडे, जून 30, 1996, पृ0 25

सरकार को बहुमत मिलने के बाद मन्त्रिमण्डल का विस्तार किया गया जिसमें अन्य सहयोगी दलों को भी प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया।

देवगौड़ा की समस्यायें

यद्यपि संयुक्त मोर्चे की इस सरकार के कुशल संचालन व सहयोगियों में तालमेल बनाये रखने के लिये एक न्यूनतम साझा कार्यक्रम तय कर लिया गया था, जिसे वामपंथियों और कांग्रेस दोनों का समर्थन प्राप्त था तथा एक संचालन समिति का भी गठन कर लिया गया था तथापि एच0डी0 देवगौड़ा का कार्य इतना आसान नहीं था। परस्पर विरोधी विचारों और हितों वाले घटकों से मिलकर बने गठबन्धन का नेतृत्व करने वाले नेता को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है, वे सब देवगौड़ा के समक्ष भी सर उठाती रही और उनके लिये समस्यायें पैदा करती रहीं। देवगौड़ा को जिन प्रमुख समस्याओं को साधना पड़ा उनमे से कुछ महत्वपूर्ण निम्नलिखित थी–

1. देवगौड़ा की पहली समस्या थी कांग्रेस और वामपंथी विशेष रूप से माकपा के परस्पर विरोधी विचारों और हितों के बीच समन्वयकारी कदम उठाना। यह स्थिति न्यूनाधिक 1989 में वी0पी0 सिंह के नेतृत्व में बनी जनता दल सरकार की ही तरह थी जहां सरकार माकपा और भाजपा के समर्थन पर टिकी थी। यद्यपि वर्तमान समय में मार्क्सवादियों और कांग्रेस में उतनी कटुता नहीं रह गई है किन्तु उस समय दोनों ही राजनीतिक रूप से एक दूसरे को शत्रु मानते थे। ऐसे में किसी एक के दबाव में काम करने का अर्थ होता दूसरे का समर्थन खोना जो सरकार के अस्तित्व के लिये खतरा होता जबकि दोनों ही पक्ष अपनी नीतियों के अनुसार सरकार पर दबाव बनाने का प्रयास कर रहे थे। ऐसे में दोनों ही पक्षों की आकांक्षाओं को साधते हुए सरकार चलाना अत्यन्त कठिन कार्य था।
2. दूसरी समस्या या खतरा बाहर से समर्थन देने वाली सबसे बड़ी पार्टी कांग्रेस स्वयं थी। कांग्रेस की अवसर अनुकूल समर्थन देने और समर्थन वापस लेने की नीति से सभी अवगत थे। यद्यपि यह स्पष्ट था कि पार्टी अन्तर्कलह और गुटबाजी के चलते दल के विभाजित होने की आशंका से कांग्रेस जल्दी में ऐसा कोई कदम नहीं उठायेगी फिर भी देवगौड़ा कांग्रेस के प्रति पूरी तरह से आश्वस्त नहीं रह सकते थे। हालांकि जनता दल के चिन्तक नेता सुरेन्द्र मोहन का कहना था कि "राजीव गाँधी या इन्दिर गाँधी जैसे नेता के अभाव में उन्हें हमे गिराने से पहले

हजार बार सोचना होगा"[51] फिर भी कांग्रेस की तरफ से खतरे की आंशंका बराबर बनी हुई थी।

3. वामपंथियों और कांग्रेस के अलावा 13 दलों वाले मोर्चे का भीतरी तनाव भी देवगौड़ा की परेशानी का सबब था। बीजू पटनायक, लालू प्रसाद यादव, और दूसरे महात्वाकांक्षी दिग्गजों के टकराव के चलते ज़नता दल का अन्दरूनी अन्तर्विरोध हमेशा उनके लिये खतरा बना रहा। रामकृष्ण हेगड़े से देवगौड़ा का टकराव तो तुरन्त खुलकर सामने आ गया और उन्हे हेगड़े को दल से निकालने का बड़ा दांव चलना पड़ा। हेगड़े ने असन्तुष्ट होते ही संयुक्त मोर्चे की "सत्ता हथियाने वाला अवसरवादी गठजोड़"[52] घोषित कर दिया जबकि पहले स्वयं वे इस मोर्चे के एक भाग थे।

4. संयुक्त मोर्चे में परस्पर छत्तीस का आंकड़ा रखने वाले मुलायम सिंह यादव और लालू प्रसाद यादव भी शामिल थे। इनके परस्पर विरोधी हितों में समन्वय बनाये रख पाना भी देवगौड़ा के लिये एक समस्या थी।

5. सरकार बनने के दो महीने बाद ही कृष्णा नदी पर बनने वाले अलमत्ती बांध की ऊँचाई के मुद्दे पर संयुक्त मोर्चे के प्रधानमंत्री देवगौड़ा और संयोजक चन्द्रबाबू नायडू स्वयं आमने सामने आ गये। इस मुद्दे पर मोर्चे की संचालन समिति भी कोई विशेष भूमिका नहीं निभा पाई।

6. देवगौड़ा की एक मुसीबत थी अधिकांश अनुभवहीन मंत्रियों की टीम का होना। पहली पाली में जो 21 मंत्री बनाये गये उनमें से केवल पांच को केन्द्र सरकार में मंत्री रहने का अनुभव था। इसमें देवगौड़ा समेत सात मंत्री केवल राज्य सरकारों में काम का अनुभव प्राप्त कर सके थे जबकि दस मंत्री ऐसे थे जिन्हें किसी भी सरकार में रहने का कोई अनुभव नहीं था।[53] यह स्थिति सरकार के काम काज पर असर डालने वाली थी।

7. इनके अतिरिक्त अनेक विवादास्पद मुद्दे जैसे मजदूर संघ सम्बन्धी नीतियों, सार्वजनिक क्षेत्र के विनिवेश और बहुराष्ट्रीय कंम्पनियों को छूट दिया जाना और केन्द्र राज्य सम्बन्ध के विषय देवगौड़ा की परेशानी के कारण थे।

---

51 इण्डिया टुडे, जून 30, 1996, पृ0 25 पर उद्धत
52 वही
53 वही, पृ0 26

इनके अतिरिक्त देवगौड़ा के नेतृत्व में निहित कमियां भी उनके लिये कम समस्या कारक नहीं थी। राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में उनमें अनुभव की कमी थी। इस बात को स्वीकार करते हुए माकपा के बुजुर्ग नेता हरकिशन सिंह दुरजीत ने भी कहा था कि "प्रधानमंत्री गरीबों के लिये कुछ करना चाहते हैं। समस्या यह है कि उनमें राष्ट्रीय स्तर का अनुभव नहीं है।"[54] सामान्य रूप से देवगौंड़ा कर्नाटक के राज्यस्तरीय राजनीति में सक्रिय रहे और अचानक राष्ट्रीय राजनीति में शीर्ष पद पर पहुंच गये। अनुभव का यह अन्तराल उनके पूरे कार्यकाल में दिखा।

देवगौंड़ा का कर्नाटक से बाहर राष्ट्रीय स्तर पर कोई जनाधार नहीं था, जिस कारण वे घटक दलों पर प्रभावी अनुशासन व नियंत्रण रख पाने की स्थिति में नहीं थे। फिर समान पदीय और समान क्षमता रखने वाले नेता उनके मन्त्रिमण्डल में मौजूद थे, इसलिये भी उन्हें इन सबमें तालमेल बनाये रखने में उन्हें परेशानी का सामना करना पड़ा। अपने नेतृत्व की इन अपर्याप्तताओं के चलते ही उन्हें महत्वपूर्ण मुद्दों पर वी0पी0 सिंह[55] व हर किशन सुरजीत[56] से परामर्श व निर्देश लेने पड़ते थे।

इसके अलावा अपने पूरे कार्यकाल के दौरान देवगौड़ा राष्ट्रीय छवि नहीं बना पाये। हिन्दी और अंग्रेजी पर पकड़ न होना उनके काम–काज में अमूमन बाधा डालता था। जिस तरह वे बार–बार कर्नाटक की यात्रा करते थे, उन्हें कर्नाटक का प्रधानमंत्री तक कहा जाने लगा था।[57] उनके साथ काम करने वाले कई बड़े अधिकारियों का यह मानना था कि वे दिग्भ्रमित स्थिति में एक दिन कोई घोषणा करते थे और दूसरे दिन उसे वापस ले लेते थे।[58] से सभी स्थितियॉ क्रमशः जनमत के साथ साथ सहयोगी दलों को भी देवगौंड़ा के विरूद्ध खड़े होने के लिये प्रेरित करने लगी।

कांग्रेस की नाराजगी

देवगौड़ा सरकार के आठ माह बीतते–बीतते उन्हें समर्थन देने वाले सबसे बड़े दल कांग्रेस में रोष उभरने लगा। कांग्रेस अध्यक्ष सीताराम केसरी और देवगौड़ा के बीच रिश्ते कटु होते जा रहे थे। इस असन्तोष के निम्न प्रमुख कारण थे।[59]

54 इण्डिया टुडे, 21 दि0 96–5 जन0 97, पृ0 22
55 इण्डिया टुडे, जून 30, 1996 पृ0 25
56 इण्डिया टुडे, 21 दिसं 96–5 जनवरी 97, पृ0 22–24
57 इण्डिया टुडे, 6–20 फरवरी, 1997, पृ0 25
58 वही
59 वही, पृ0 20

1. सीताराम केसरी के बेहिसाब सम्पत्ति रखने के मामले की सी0बी0आई जांच करवाना।
2. अकबर रोड पर कांग्रेस मुख्यालय में कम्प्यूटर कक्ष के पास भेद लेते खुफिया व्यूरो के दो कर्मचारियों का पाया जाना।
3. बढ़ती हुई कमीतों को नियंत्रित न रख पाने में सरकार की नाकामी। कांग्रेस कार्यकारिणी की एक बैठंक के बाद लोकसभा में पार्टी के नेता शरद पवार ने संकेत दिया कि, "हम बढ़ती कीमतों को लेकर बेहद चिन्तित हैं। हम इस ओर से आँखे नहीं मूँद सकते।"[60] कांग्रेस के एक सदस्य जी0 एस0 हूडा ने तो यहां तक कह दिया कि "यह गठबंधन ही जनविरोधी है"[61] इस तरह से सरकार गिराने की पृष्ठ भूमि तैयार होने लगी थी।

वामपंथियोंकी नाराजगी के कारण

वामपंथी दलों में प्रमुख दल माकपा सरकार को बाहर से समर्थन दे रही थी और भाकपा सरकार में शामिल थी किन्तु ये दोनो ही सरकार के आर्थिक नीतियों से असन्तुष्ट थे। वास्तव में संयुक्त मोर्चे में आर्थिक मुद्दे पर दो परस्पर विरोधी मत रखने वाले पक्ष थे। इसकी संचालन समिति में भी दोनों तरह के लोग थे। सुधारवादी–बाजारवादी तथा समाजवादी। किन्तु सुधारवादियों की बढ़त के कारण सरकार में शामिल माकपा और भाकपा दोनो ने ही सरकार के विरूद्ध आन्दोलन छेड़ने का निर्णय लिया। माकपा के ज्योति बसु ने तो सार्वजनिक रूप से प्रधानमंत्री की क्षमता पर प्रश्न चिन्ह लगाना प्रारम्भ कर दिया।[62]

इसी विरोध–प्रतिरोध की पृष्ठभूमि में 30 मार्च 1997 सीताराम केसरी ने राष्ट्रपति को देवगौड़ा सरकार से कांग्रेस के समर्थन वापसी का पत्र दिया। इस पत्र में सरकार पर यह आरोप लगाया गया था कि यह सरकार साम्प्रदायिक शक्तियों (भाजपा) के बढ़ते कदम को रोकने में नाकाम रही है। यही वह आधार था जिसके चलते कांग्रेस ने संयुक्त मोर्चा सरकार को समर्थन दिया था।[63] इस प्रकार यह गठबन्धन सरकार भी अपने अस्थायित्व के प्रकृति को स्पष्ट करते हुए मात्र 10 माह तक चली।

---

60 वही, पृ0 20 पर उद्धत
61 वही
62 वही पृ0 24–25
63 इण्डिया टुडे, 6–20 अप्रैल 1997 पृ0 43–44

इस बीच 31 मार्च 1997 को सीताराम केसरी ने राष्ट्रपति से मिलकर कांग्रेस के गठबंधन की सरकार बनाने का दावा भी पेश कर दिया। विश्वास यह था कि इसके पूर्व के दो अवसरों (1977 व 1989) की तरह मोर्चा टूट जायेगा और कांग्रेस इन्हें एक जुट कर सरकार बना लेगी। पहले दोनों अवसरों पर कांग्रेस ने इन्हीं घटक दलों की सरकार बनवाई व गिराई थी किन्तु इस बार यह स्वयं सरकार बनाने को तत्पर दिखी। किन्तु इस बार की एक विशेषता यह रही कि मोर्चा टूटने के बजाय एक जुट हो गया। राष्ट्रपति ने 11 अप्रैल 1997 तक देवगौड़ा को लोकसभा में विश्वास मत हासिल करने का निर्देश दिया। किन्तु कांग्रेस के समर्थन के अभाव में देवगौड़ा विश्वास मत हासिल करने में असफल रहे।

इन्द्र कुमार गुजराल के नेतृत्व में संयुक्त मोर्चा सरकार

देवगौड़ा सरकार से समर्थन वापस लेने के एक दिन बाद ही सीताराम केसरी ने राष्ट्रपति को सरकार बनाने का दावा भी पेश कर दिया था, इस दिशा में कांग्रेस ने अपनी पूरी संभावनायें तलाश की। कांग्रेस की संभावना मुख्य रूप से मोर्चे की टूट पर निर्भर थी किन्तु इस बार मोर्चे के सदस्य चट्टान की तरह अडिग नजर आये। कांग्रेस चुनाव झेल सकने की स्थिति में अभी भी नहीं था। अतः कांग्रेस ने संयुक्त मोर्चे में नेतृत्व परिवर्तन की स्थिति में सरकार को पुनः समर्थन देने की बात उठायी। पहले तो मोर्चे ने नेतृत्व परिवर्तन से इन्कार किया किन्तु बाद में इस मुद्दे पर आम राय बनने लगी। यह तय किया गया कि नेता बदल कर कांग्रेस का समर्थन प्राप्त कर लिया जाय।

मोर्चें में भी नेतृत्व परिवर्तन बहुत सरल काम नहीं था। अनेक नामों एवं अनेक महात्वाकांक्षाओं के टकराव खुलकर सामने आये किन्तु अन्ततः 19 अप्रैल 1997 को इन्द्र कुमार गुजराल के नाम पर सहमति बन गई और इस तरह से इन्द्रकुमार गुजराल ने 21 अप्रैल 1997 को भारत के बारहवें प्रधानमंत्री के रूप में शपथ ली। मन्त्रिमण्डल गठन की कोई कठिनाई नहीं थी क्योंकि देवगौड़ा सरकार में मंत्री रहे सभी मन्त्रियों को यथावत नई सरकार में शामिल कर लिया गया। सिर्फ तमिल मनिला कांग्रेस के मंत्री इस नयी सरकार में शामिल नहीं हुए। टी.एम.सी. ने सरकार को बाहर से समर्थन जारी रखा जो कि उनकी राजनीतिक विवशता थी।

गुजराल की समस्यायें–

इन्द्र कुमार गुजराल नये प्रधानमंत्री अवश्य थे किन्तु उनकी टीम वही पुरानी टीम थी जो देवगौड़ा को मिली थी। मोर्चे के घटक दल भी वही थे। नेताओं और घटक दलों की मूलभूत प्रवृत्तियां भी वहीं थी। जब तक काँग्रेसी सरकार बनने का खतरा आसन्न था तब तक वे एक जुट रहे और जैसे ही यह भय समाप्त हुआ उनके अन्तर्द्वन्द पुनः उभरने लगे और गुजराल के समक्ष भी वही समस्यायें प्रकट होने लगीं जो देवगौड़ा के सामने थीं। मोर्चे के घटक दलों के बीच आपसी गुटबन्दी और तीखे आरोपों–प्रत्यारोपों के चलते सरकार की कमजोरी स्पष्ट होने लगी थी।

प्रारम्भ में इन विवशताओं के चलते गुजाराल, एक कमजोर और असहाय प्रधानमंत्री के रूप में नजर आये। अगस्त 1997 में उन्होंने भ्रष्टाचार समाप्त करने की दिशा में अवश्य कुछ साहसिक कदम उठाये किन्तु इस दिशा में उन्हें अपेक्षित सफलता नहीं मिली।

यद्यपि गुजराल को केन्द्रीय राजनीति का अनुभव था किन्तु उनका कोई निश्चित जनाधार नहीं था जिस कारण वे जनमत को अपने पक्ष में रिझा कर सहयोगियों एर दबाव की राजनीति कर सकते।

अतः गुजराल सरकार के पांच महीने बीतते बीतते कांग्रेस ने अपने समर्थन पर पुनः आत्म मंथन प्रारम्भ कर दिया। अक्टूबर के प्रारम्भ में ही कांग्रेस अध्यक्ष ने कार्य समिति के समक्ष स्वीकार किया कि "साझा सरकार का प्रयोग फिर असफल रहा। देश को स्थिरता केवल कांग्रेस ही दे सकती है। हमें चुनाव के लिये तैयार हो जाना चाहिय।"[64] यह भावी राजनीतिक परिदृश्य का संकेत मात्र था। इसके बाद कार्य समिति ने एक प्रस्ताव पारित कर बिगड़ती कानून व्यवस्था, अर्थव्यवस्था के कुप्रबंध और बड़े राजनीतिक मामले निबटाने में अदूरदर्शिता के लिये गुजराल सरकार की आलोचलना की। वास्तव में कांग्रेस ने जिस राजनीतिक लाभ की आकांक्षा से गुजराल को समर्थन दिया था उसमें उसे निराशा ही हाथ लगी। कांग्रेस उपाध्यक्ष जीतेन्द्र प्रसाद स्वीकार करते हैं कि, "अगर हमने सोचा था कि मोर्चे का समर्थन करने से हमें कुछ हासिल होगा, तो निराशा ही हाथ लगी। इससे हमारी पार्टी और कमजोर हुई।"[65] कांग्रेस में अब यह स्वीकार किया जाने लगा था कि झगड़ालू गठबंधन का साथ देने से उनकी छवि खराब ही होगी इसलिए अब उसे गठबंधन से दूर हो जाना चाहिये। कांग्रेस अब उचित अवसर और सरकार गिराने के सटीक कारणों की तलाश में थी।

---

64 इण्डिया टुडे, अक्टूबर 15, 1997, पृ0 16 पर उद्धत
65 वही

कांग्रेस को इसके लिये अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी। राजीव गाँधी हत्याकांड की जांच कर रहे न्यायमूर्ति मिलाप चन्द्र जैन की अध्यक्षता वाले आयोग की अन्तरिम रिपोर्ट ने उन्हें यह अवसर प्रदान कर दिया। इस रिपोर्ट का निष्कर्ष है कि राजीव के हत्यारों को उकसाने के लिये तमिलनाडु के मुख्यमंत्री करूणानिधि और उनकी पार्टी द्रमुक जिम्मेदार है। साथ ही राजीव के जीवन को पेश खतरों के सही आकलन में लापरवाही के लिये आयोग ने दो पूर्व प्रधानमंत्रियों वी0पी0 सिंह और चन्द्रशेखर को उत्तरदायी माना। रिपोर्ट में कहा गया है, "बदले परिदृश्य में एल0टी0टी0ई0 ने अपने राजनीतिक समीकरणों में रणनीतिक परिवर्तन किये,[66] उसने भारतीय शान्ति सेना के खिलाफ अपनी जंग में करूणानिधि का सक्रिय सहयोग हासिल करने के लिये दूत भेजे। द्रमुक की और एल0टी0टी0ई0 की इन पहल कदमियों के फलस्वरूप ऐसी कई घटनायें घटी जिनकी वजह से तमिलनाडु में लिट्टे की ताकत बढ़ती गई"[67] आयोग ने लिट्टे को गोला बाररूद, हथियार व दूसरे सामान उपलब्ध कराने का आरोप भी तमिलनाडु सरकार पर लगाया।[68]

जैन आयोग ने जिन प्रमुख लोगों को आरोप के दायरे में खड़ा किया था वे संयुक्त मोर्चे में शामिल थे। कांग्रेस कार्यकारिणी ने गुजराल को चेतावनी दे दी की द्रमुक मंत्रियों को अपनी सरकार से हटा दें वरना पार्टी अपना समर्थन वापस ले लेगी। मोर्चा सरकार द्वारा, कांग्रेस की मांग नहीं मानी गई और अन्ततः कांग्रेस ने 28 नवम्बर 1997 को गुजराल सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया और संयुक्त मोर्चा सरकार की इति श्री हो गई। अब चूंकि कोई भी दल अथवा गठबंधन सरकार बनाने की स्थिति में नहीं था इसलिये लोकसभा भंग कर दी गई और सभी दलों ने 12वीं लोकसभा के चुनाव हेतु तैयारी प्रारम्भ कर दी।

इस प्रकार गैर भाजपावाद की उपज इन दो सरकारों का हस्र एक जैसा हुआ। दोनो ही बार सरकार की अकाल मौत का कारण कांग्रेस थी। वास्तव में उपर्युक्त दोनो सरकारें नेतृत्व की दृष्टि से ही अलग थी अन्यथा इन्हें एक ही सरकार के दो रूप कहा जा सकता है क्योंकि इनमें निम्नलिखित समानतायें विद्यमान थीं–

---

66 इण्डिया टुडे, नवम्बर, 19, 1997, पृ0 15
67 वही, पृ0 15
68 वही

1. दोनों ही अल्पमत सरकारों की जिनका गठन कांग्रेस और माकपा के बाहय समर्थन से संभव हुआ था।
2. दोनों ही सरकारों का गठन गैर–भाजपावाद और साम्प्रदायिकता विरोध के आधार पर हुआ था।
3. दोनों ही सरकारें नितान्त बे मेल गठबंधन के रूप में थीं जिसमें वामपंथी, दक्षिणपंथी और मध्यममार्गी सभी प्रकार के तत्व थे। यही कारण है कि प्रख्यात राजशास्त्री सी0पी0 भाम्बरी इस गठबन्धन को गठबंधन न मानकर सत्ता के शीर्ष पर कब्जा करने वाले दलों का समूह मानते हैं।[69]
4. दोनों ही मन्त्रिमण्डलों में सामूहिक उत्तर दायित्व की भावना का अभाव था। अनेक मुद्दों पर मन्त्रिमण्डल के विचार और व्यक्तव्य परस्पर विरोधी होते थे।
5. दोनो ही सरकारों के संचालन में समन्वय के लिये मोर्चे के नेताओं की एक संचालन समिति का गठन किया गया था। इस संचालन समिति में अधिकांश राज्यों के मुख्यमंत्री अथवा राज्य स्तरीय नेता थे जिन्होंने दोनो ही बार प्रधानमंत्री का चयन किया। यह स्थिति राष्ट्रीय राजनीति के सन्दर्भ में बेहतर नहीं थी।
6. सरकार संचालन के लिये न्यू नतम साझा कार्यक्रम तय किया गया था किन्तु सरकार के कार्यक्रमों के सन्दर्भ में घटक दलों में अक्सर मतभेद उभर आते थे।
7. दोनो ही सरकारों में केवल नेतृत्व का अन्तर था, शेष टीम समान रूप से वहीं थी।
8. दोनों ही नेताओं के पास व्यापक जनाधार और लोक प्रियता का अभाव था।
9. दोनों सरकारों का पतन कांग्रेस के समर्थन वापस लेने से हुआ।

वास्तव में अगर देखा जाय तो संयुक्त मोर्चा सरकार के इन दोनों सरकारों के सन्दर्भ में सत्ता और विपक्ष दोनों के ही खड़े होने का आधार सैद्धान्तिक न होकर राजनीतिक मांगों पर आधारित था। इनमें विभिन्न भावनाओं और हितों पर आधारित दलों का एक बेमेल सामंजस्य दिखायी देता था जो दोनो ही सरकारों के कार्यकाल में एकजुट और सहज नहीं दिखायी दिय़। विशेष अर्थों में ये सरकारें एक नये तरह के सत्ता सहभागिता संगठन के रूप में अधिक दिखायी दी।

---

69 माया, मई, 15, 1997, पृ0 37

संयुक्त मोर्चे की सरकारों के, घटक दलों के कलह और समर्थन दलों की धमकियों के कारण, कामकाज पर भी असर पड़ा। नेतृत्व की ऊर्जा सरकार के संचालन से अधिक सहयोगिगयों के बीच समन्वय बिठाने में खर्च हुई।

संयुक्त मोर्चा सरकारों के अनुभव से जो बातें स्पष्ट हुई वे निम्न थीं–

1. गठबंधन का निर्माण चुनाव पूर्व होने चाहिये।
2. गठबंधन के सभी दल सरकार में शामिल हों बाहर से समर्थन की प्रक्रिया उचित नहीं,
3. न्यूनतम साझा कार्यक्रम चुनाव के समय ही तय किये जाने चाहिये।
4. समन्वय समिति जितनी प्रभावी होगी गठबन्धन व सरकार के स्थिरता की संभावना भी उतनी ही अधिक होगी।

निश्चय ही भारतीय राजनीति संक्रमण काल से गुजर रही है। क्षेत्रीय दलों के उभार से केन्द्र में किसी एक दल के सरकार के बनने की संभावनायें क्षीण है और भारतीय राजनीति में गठबंधन का युग प्रारम्भ हो गया है। इन दो प्रयोगों से भावी गठबंधन प्रयोगों को कुछ न कुछ उपदेश अवश्य मिलेगा और राष्ट्र अपनी एक निश्चित लोकतांत्रिक दिशा तलाशने में सफल होगा।

—*****—

अध्याय–पाँच

गठबन्धन की राजनीति १९९८ से 2004

अध्याय–पाँच

गठबन्धन की राजनीति (1998 से 2004)

देवगौडा और गुजराल सरकारों के पतन के बाद से भारत के संसदीय लोकतंत्र में गठबन्धन सरकारों के स्थिरता और सफलता पर प्रश्न चिन्ह आरोपित हो गया था। किन्तु भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर क्षेत्रीय दलों के उभार और उनकी अपने–अपने क्षेत्रों में सशक्त राजनीतिक उपस्थिति से किसी भी एक राष्ट्रीय राजनीतिक दल के लिये आगामी 12वीं लोकसभा (मध्यावधि) चुनाव में पूर्ण बहुमत प्राप्त करना कठिन था। कोई भी दल इस स्थिति में नहीं था कि वह अकेले अपने बल पर संसदीय मूल्यों के अनुरूप लोकसभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त कर सरकार बना सकता। निहितार्थ यह था कि अगले लोकसभा चुनाव के बाद भी मिलीजुली सरकार का बनना लगभग तय था, अस्तु अधिकाँश राजनीतिक दलों ने अलग–अलग गठबन्धन अथवा मोर्चों के रूप में 12वी लोक सभा चुनाव में उतरने की तैयारियाँ प्रारम्भ कर दी।

12वी लोकसभा चुनाव और गठबन्धन की राजनीति

इस समय भारतीय राजनीतिक परिदृश्य पर दो प्रमुख प्रभावी राष्ट्रीय दल थे भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस व भारतीय जनता पार्टी। साथ ही राष्ट्रीय दलों के रूप में क्षेत्रीय अथवा सीमित प्रभाव रखने वाले वामपंथी दल तथा टूटते–बिखरते व बनते अन्य राजनीतिक दल। अनेक क्षेत्रीय दल अपने–अपने क्षेत्रों के क्षत्रपों के रूप में स्थापित थे। गठबन्धन निर्माण के लिये सार्थक प्रेरकों के आधार पर साथियों को जुटाने की प्रक्रिया प्रारम्भ थी। जिस तरह से काँग्रेस ने मोर्चा सरकार को दो बार अस्थिर कर पटखनी दी थी मोर्चे के घटक काँग्रेस के विरोध में थे। साथ ही साम्प्रदायिकता के आरोप के साथ वे भाजपा के भी प्रबल विरोधी थे। साम्प्रदायिक आरोपों के कारण ही काँग्रेस भी भाजपा के विरूद्ध थी। इस तरह 12वीं, लोक सभा चुनाव में निम्न तीन गठबंधनों अथवा मोर्चों के बीच शक्ति परीक्षण की संभावना बढ़ गई–

1. भाजपा के नेतृत्व में गठबन्धन
2. काँग्रेस के नेतृत्व में गठबन्धन
3. तीसरा मोर्चा (संयुक्त मोर्चा)

1. भाजपा के नेतृत्व में गठबन्धन

1996 में लोकसभा चुनावों के बाद सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी भाजपा सरकार बनाने के बाद बहुमत नहीं जुटा सकी थी। हरियाणा विकास पार्टी, शिवसेना और समता पार्टी के अतिरिक्त और किसी ने उसका साथ नहीं दिया। फलस्वरूप भाजपा के नेतृत्व में बनी पहली सरकार का मात्र तेरह दिन में ही पतन हो गया। किन्तु 12वीं लोकसभा के चुनाव से पूर्व राजनीतिक परिस्थितियाँ काफी बदल चुकी थी। भाजपा पूरी तरह से अछूत नहीं रह गई थी। साथ ही राजनीतिक अनिश्चितता और अस्थिरता के कारण एक बार फिर जनमत के भाजपा की ओर झुकने की सम्भावनायें बढ़ गई थीं। राजनीतिक विश्लेषकों का मानना था कि 18 महीने की अस्थिरता के बाद लोग अनिश्चितता से छुटकारा पाने के लिये भाजपा को मौका दे सकते हैं।[1] इतना ही नहीं भाजपा ने भी राजनीतिक सत्ता के लिये अपने में बदलाव को स्वीकार किया और आम राय के महान भारतीय सिद्धान्त को अपनाया।[2] भाजपा ने अपनी विचारधारा के विभाजनकारी तत्वों का परित्याग कर राजनीतिक संस्कृति के क्षय को नजर अन्दाज किया। साथ ही उसने परिवर्तन और सुधार के प्रति नरम रवैया अपनाया।[3] गठबन्धन के निहितार्थ सहयोगी जुटाने हेतु यह अपेक्षित ही नहीं अनिवार्य भी था। परिणाम स्वरूप भाजपा ने मन्दिर 370 व समान नागरिक संहिता जैसे विवादास्पद मुद्दों से किनारा कर लिया। यद्यपि पार्टी के एक नेता ने स्वीकार किया कि ये मुद्दे अब भी उनकी सूची में बने हुए हैं, किन्तु निकट भविष्य में वे उन्हें लागू नहीं कर सकते।[4]

"सिद्धान्तवादी" और "शुद्धतावादी" राजनीति तथा हिन्दुत्व के प्रति प्रतिबद्धता की छवि के दायरे से बाहर निकलने के कारण अब भाजपा के सहयोगी मिलने की संभावनायें प्रबल हो गई थी। भाजपा के वरिष्ठ नेता श्री लालकृष्ण अडवाणी ने यह बात स्वीकार भी की कि, "पहले लोगो को बहुमत जुटाने की हमारी क्षमता पर संदेह होता था। अब ऐसे संदेह खत्म हो चुके हैं।"[5] तत्कालीन भाजपा प्रवक्ता श्रीमती सुषमा स्वराज ने तो घोषित कर दिया कि "गैर–भाजपावाद की राजनीति का अन्तिम संस्कार हो गया है"[6] इस प्रकार

---

1 इण्डिया टुडे, 31, दितम्बर 1997 पृ0 31
2 वही
3 वही
4 वही,, पृ–30
5 वही
6 वही

अपनी नीतियों में परिवर्तन लाते हुए और स्वयं का नवीन व्यावहारिक स्वरूप दर्शाते हुए 12वीं लोकसभा चुनाव के लिये चुनाव पूर्व गठबन्धन हेतु भाजपा ने जिन राजनीतिक दलों से गठजोड़ का ताना–बाना बुना उनमें से प्रमुख निम्न थे–

1. अन्नाद्रमुक

उत्तर भारत में व्यापक जनाधार रखने वाली भाजपा का तमिलनाडु की प्रमुख पार्टी अन्नाद्रमुक के साथ चुनावी गठजोड हो जाना उसके लिये सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। इससे न केवल दक्षिण भारत में भाजपा को अपना जनाधार बढ़ाने का अवसर मिला बल्कि चुनावी दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण बढ़त मिली क्योंकि अन्नाद्रमुक के साथ गठजोड़ की संभावनायें काँग्रेस भी तलाश रही थी। अन्ततः 17 दिसम्बर को जब तत्कालीन काँग्रेस अध्यक्ष सीताराम केसरी बिहार में लालू प्रसाद यादव के साथ गठबन्धन पर फूले नहीं समा रहे थे तभी अन्नाद्रमुक और भाजपा ने तमिलनाडु और पांडिचेरी में अगला लोकसभा चुनाव मिलकर लड़ने की घोषणा करके राजनीतिक हलकों में हलचल पैदा कर दी।[7] भाजपा नेता लालकृष्ण अडवाणी ने इसे "मनोवैज्ञानिक" दृष्टिकोण से काफी महत्वपूर्ण बताया क्योंकि इससे भाजपा "उत्तर–दक्षिण का बनावटी विभाजन" मिटाने में सफल रही।[8] वास्तव में यह गठबन्धन अप्रत्याशित था। इससे अन्नाद्रमुक के साथ जुड़े छोटे छोटे दल स्वतः गठबन्धन का हिस्सा बन गये।

2. लोक शक्ति

दक्षिण भारत के दूसरे बड़े राज्य कनार्टक में भाजपा ने रामकृष्ण हेगड़े की लोकशक्ति पार्टी से गठजोड किया। प्रारम्भ में हेगड़े ऊहापोह की स्थिति में थे कि काँग्रेस के साथ जायें या भाजपा के साथ किन्तु अन्ततः उन्होंने भाजपा का दामन थामना अधिक उपयुक्त समझा। 1996 के लोकसभा चुनावों में भाजपा को कर्नाटक में 25 प्रतिशत मत और छः सीटें मिली थी और पार्टी राज्य में अच्छी स्थिति में थी। यही कारण है कि कर्नाटक की भाजपा राज्य इकाई अकेले चुनाव लड़ना चाहती थी किन्तु केन्द्रीय नेतृत्व को गठबन्धन करना अधिक लाभप्रद प्रतीत हो रहा था क्योंकि हेगड़े के साथ आ जाने से

---

7 वही पृ0 27.
8 इण्डिया टुडे, 21 जनवरी 1998, पृ0 13

कर्नाटक के दक्षिण इलाकों के साथ–साथ भाजपा हेगड़े के प्रभाव वाले लिंगायत समुदाय के उत्तरी क्षेत्र में भी प्रभावशाली हो सकेगा।[9]

3. तेलगूदेशम (एनटीआर)

आन्ध्र प्रदेश में तेलगुदेशम के विभाजन के उपरान्त दो दल बने–तेलगुदेशम (नायडू) व तेलगुदेशम (एनटीआर)। 1998 का चुनाव यद्यपि तेदेपा (एनटीआर) के लिये एक परीक्षण था फिर भी भाजपा ने अपने मतों का प्रतिशत बढ़ाने व सफलता की कुछ उम्मीदों के साथ लक्ष्मी पार्वती के नेतृत्व वाले तेदेपा (एनटीआर) से समझौता करना उचित समझा। लक्ष्मी पार्वती समझौते के तहत, 20 सीटें और सरकार बनने की स्थिति में रक्षा मंत्रालय की मांग कर रही थी।[10] फिर भी उनके दल के साथ भाजपा का चुनावी समझौता हुआ।

4. तृणमूल काँग्रेस

कहावत है कि किसी के दुश्मन का दुश्मन दोस्त होता है। इस कहावत को चरितार्थ करते हुए तृणमूल काँग्रेस और भाजपा 1998 चुनाव में साथ–साथ आये। तृणमूल नेत्री ममता पश्चिम बंगाल की मार्क्सवादी सरकार और काँग्रेस दोनों के विरूद्ध थी। माकपा और काँग्रेस भाजपा की घोर विरोधी थी। ऐसे में भाजपा का साथ देने पर मुस्लिम मतों के खोन के भय के कारण पहले तो तृणमूल–भाजपा में गठबन्धन की संभावना नहीं दिख रही थी किन्तु बाद में राजनीतिक आवश्यकताओं के चलते दोनो चुनावी गठबन्धन के लिये विवश हुए।

5. बीजू जनता दल

जनता दल से अलग हुए बीजू जनता दल के साथ ओडीसा में भाजपा का चुनाव पूर्व गठबन्धन भी महत्वपूर्ण था। यहाँ बीजू जनता दल की प्रभावशाली उपस्थिति का लाभ गठबन्धन को मिलने की सम्भावनायें प्रबल थी। सीटों के बंटवारे को लेकर उठे प्रारम्भिक मतभेद के बाबजूद ओड़ीसा में बीजद व भाजपा का गठबन्धन हुआ।

उपर्युक्त राजनीतिक दल वे थे जो भाजपा के नये सहयोगी बने थे। इनके अतिरिक्त उसके पहले के सहयोगी गठबन्धन में सम्मिलित थे ही। इनमें बिहार में लालू प्रसाद के विरोध में जनता दल से टूटा घटक **समता पार्टी** के रूप में प्रभावी था। समता और भाजपा का बिहार में गठबन्धन प्रभावी सफलता का आधार बन सकता था। भाजपा

---

9 वही
10 वही

के राम जन्मभूमि, अनु0 370 व समान नागरिक संहिता तथा तमिलनाडु में अन्नाद्रमुक के साथ समझौते के मुद्दे पर दोनों दलों में कुछ मतभेद अवश्य था किन्तु शीघ्र ही इन मतभेदों को सुलझाते हुए गठबंधन राजनीति का मार्ग प्रशस्त किया गया।

हरियाणा में बंशीलाल की **हरियाणा विकास पार्टी** के साथ भी पहले से ही भाजपा के चुनावी सम्बन्ध थे। पंजाब से **अकालीदल** के साथ भाजपा का गठबन्धन सहजता से चल रहा था। अकालीदल ने पंजाब की 13 में से 3 सीटें भाजपा को देने की घोष्णा की थी। भाजपा अपने इस सीमित हिस्से से खुश थी किन्तु उसे अकाली दल का इन्द्र कुमार गुजराल के लिये जालंधर सीट छोड़ना अनुचित प्रतीत हो रहा था। उत्तर प्रदेश में कांग्रेस से टूट कर बने और प्रदेश में भाजपा नेतृत्व में बनी गठबन्धन सरकार में सम्मिलित **लोकतांत्रिक कांग्रेस** के साथ समझौता हुआ। यद्यपि लोकतांत्रिक कांग्रेस के साथ समझौता भाजपा के लिये अधिक लाभदायक नहीं था फिर भी राज्य की राजनीतिक आवश्यकताओं के चलते ऐसा करना आवश्यक था। महाराष्ट्र में **शिवसेना** के साथ, भाजपा का गठबन्धन पहले से ही सफल संचालन के साथ विद्यमान था।

भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाले गठबन्धन में नेतृत्व व प्रधानमंत्री के प्रश्न पर कोई मतभेद नहीं था। स्पष्ट रूप से अटल बिहारी बाजपेयी गठबन्धन के नेता थे और प्रधानमंत्री के रूप में उन्हें केन्द्रित कर भाजपा और सहयोगियों ने अपने चुनाव अभियान प्रारम्भ किये। भाजपा ने मन्दिर, धारा 370 व समान नागरिक संहिता जैसे मुद्दों को छोड़ दिया था व अनेक अन्तर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय प्रश्नों को उठाते हुए उन्होंने सक्षम प्रधानमंत्री और स्थिर सरकार के मुद्दे को प्रमुखता से उठाया।[11] जहाँ राष्ट्रीय स्तर पर भाजपा के प्रमुख नेता चुनाव प्रचार में संलग्न थे वहीं क्षेत्रीय स्तर पर राज्यस्तरीय दल, जो गठबन्धन में सम्मिलित थे, अपने अपने क्षेत्र में चुनाव प्रचार में लगे हुए थे।

2. कॉंग्रेस और उसके सहयोगी

यद्यपि भारतीय राजनीति के संक्रमण कालीन दौर में गठबंधन अर्थात संयुक्त सरकारों की अपरिहार्यता स्पष्ट हो चुकी थी, फिर भी कांग्रेस राजनीति की इस विवशता को स्वीकारने के लिये मन से तैयार न थी। लम्बे समय तक भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर जो भानु की तरह दैदीप्यमान रहा उसे नक्षत्रों के साथ प्रमुखता का विभाजन अखर रहा था। 1977 और 1989 की संयुक्त सरकारों के बाद से जिस प्रकार कांग्रेस का सत्ता

---

11 बृजेन्द्र प्रताप सिंह गौतम, बारहवी लोक सभा का चुनाव विश्लेषण: एक विवेचन लोकतंत्र समीक्षा खण्ड 31, अंक 1–4, जनवरी–दिसम्बर 1999

में प्रत्यावर्तन हुआ था उससे उसे पुनः यह विश्वास अथवा आभाष था कि इतिहास एक बार फिर दोहराया जायेगा। किन्तु हिन्दी भाषी दो बड़े राज्यों–उत्तर प्रदेश व बिहार–में लगभग वह प्रभावहीन हो चुकी है, पं0 बंगाल में जहाँ कभी वह प्रभावी थी, वामपंथियों का कब्जा है और दक्षिण भारत के प्रमुख राज्य तमिलनाडु में द्रमुक और अन्नाद्रमुक की प्रतिस्पर्धा ने उसे लगभग प्रभावहीन बना दिया है। ऐसे में अकेले अपने दम पर लोकसभा में बहुमत जुटा पाना कांग्रेस के लिए दूर की बात दिखती है। इसलिए बुझेमन से उसने भी गठबंधन की आवश्यकता का अनुभव मात्र किया। यही कारण है कि कांग्रेस ने भाजपा की तरह चुनावी सहयोगी जुटाने हेतु आतुरता नहीं दिखायी। केरल में मुस्लिम लीग, केरल कांग्रेस (एस) व रिपब्लिकन पार्टी आफ इण्डिया के साथ उसका पहले से ही गठबन्धन था। नयी प्रक्रिया के रूप में बिहार में लालू प्रसाद के राष्ट्रीय जनता दल के साथ कांग्रेस का चुनावी समझौता महत्वपूर्ण था। यद्यपि तमिलनाडू में अन्नाद्रमुक के साथ भी समझौते की पींगे बढ़ायी गई थी किन्तु वहां बाजी भाजपा के हाथ लगी। कुल मिलकर कांग्रेसी गठबन्धन में कांग्रेस ही प्रमुख थी।

बारहवीं लोकसभा चुनावों की घोषणा होने के बाद से कांग्रेस में भगदड सी मची हुई थी। कांग्रेस अध्यक्ष सीताराम केसरी कांग्रेस को एक सूत्र में बांधने में विफल साबित हो रहे थे। ऐसी विषम स्थिति को देखते हुए सोनिया गाँधी ने घोषणा की कि वह आगामी लोकसभा चुनावों में सक्रिय भाग लेंगी। परिणामस्वरूप कांग्रेस की भागदौड थम गई। बाद में सीताराम केसरी को अध्यक्ष पद से हटा कर सोनिया गाँधी को कांग्रेस अध्यक्ष पद पर आरूढ़ कर दिया गया जिससे की जनता के मध्य कांग्रेस की वैधानिकता पहुंचा सके। इस प्रकार सोनिया के राजनीति में सक्रिय हो जाने से नेहरू–गाँधी परिवार की बैसाखी के सहारे से ही राजनीतिक वैतरणी पार करने की अभ्यस्त कांग्रेस में उत्साह फूट पड़ा। यद्यपि बहुत अधिक सफलता की उम्मीद तो नहीं थी फिर भी कांग्रेस में एक बार फिर जीवन्तता का संचार हो चुका था।

यद्यपि सोनिया कांग्रेस की स्टार और मुख्य प्रचारक थीं, जिनका साथ उनकी पुत्री प्रियंका गाँधी और पुत्र राहुल गाँधी दे रहे थे, फिर भी कांग्रेस ने अपने दल से किसी के नाम को प्रधानमंत्री के रूप में प्रस्तावित नहीं किया था। ऐसा किये जाने के संभवतः दो कारण थे–एक तो सोनिया के विदेशी व अनुभवहीन होने के कारण जनस्वीकृति प्राप्त न हो पाने की आशंका तथा दूसरे अन्य किसी भी एक व्यक्ति का नाम प्रस्तावित किये जाने पर कांग्रेस के महत्वाकांक्षी वरिष्ठों में मनमुटाव, कलह व दल विभाजन की संभावना।

कांग्रेस ने अपने चुनाव प्रचार में मिलजुली सरकारों की अक्षमता व अस्थिरता को मुद्दा बनाकर स्थिर सरकार के लिये वोट माँगे।

3. संयुक्त मोर्चा अथवा तीसरा मोर्चा

संयुक्त मोर्चा 1996 में राष्ट्रीय मोर्चा व वाममोर्चा की सरकार बनने के बाद इन दोनों के ही संयोजन से बना था। राष्ट्रीय मोर्चे में जहाँ जनतादल के साथ अनेक क्षेत्रीय अथवा राज्य स्तरीय दल थे वहीं वाम मोर्चे में वामपंथी (साम्यवादी) पार्टियाँ शामिल थीं। इस मोर्चे का कांग्रेस और भाजपा दोनों से ही विरोध था। भाजपा का विरोध साम्प्रदायिक कारणों से था तो कांग्रेस से उनकी सरकार गिराने के प्रश्न पर मनमुटाव था। फिर भी इन दो में से किसी एक को चुनना हो तो मोर्चा कांग्रेस को तो एक बार स्वीकार कर सकता था, भाजपा को नहीं।

1998 के लोकसभा चुनाव में असली परीक्षा तो संयुक्त मोर्चे की ही होनी थी जिसने अपने अठारह महीने की जिन्दगी में दो बड़े हमले बर्दाश्त किये और चुनाव से बचने का भरपूर प्रयास किया। 14 दलों वाले इस मोर्चे के समक्ष सबस बड़ा प्रश्न तो यही था कि क्या यह मोर्चा संयुक्त रह पायेगा? यद्यपि मोर्चे के संयोजक चन्द्रबाबू नायडू इस बावत का दावा करते रहे कि "हम चुनाव में मिलजुल कर उतरेंगे। हमें कोई विभाजित नहीं कर सकता।"[12] किन्तु मोर्चे में पड़ती दरारों और टूट को न रोका जा सका। जनता दल जो कि मोर्चे का प्रमुख घटक था, स्वयं विभक्त हो गया। लालू प्रसाद मोर्चे से अलग होकर कांग्रेसी खेमे में चले गये और एक नये मोर्चे, जनमोर्चा का शिगूफा छोड़ दिया।

जहाँ तक नेतृत्व का प्रश्न था दस राज्यों में मोर्चे के घटकों की सरकारें होने और अपने–अपने राज्यों में प्रभावशाली नेताओं की उपस्थिति के बाबजूद मोर्चे के पास राष्ट्रीय स्तर पर करिश्मा दिखाने में सक्षम नेताओं का अभाव था।[13] यही कारण है कि संयुक्त मोर्चे ने भी अपने भावी प्रधानमंत्री का नाम प्रस्तावित नहीं किया था। संभवतः ऐसा करने से मोर्चे में असन्तोष उत्पन्न हो सकता था[14] और मोर्चे का क्षरण तीव्र हो सकता था। मोर्चे से जुड़े विभिन्न क्षेत्रों और दलों के नेताओं का प्रचार उनके क्षेत्र और दल विशेष के प्रचार तक ही सीमित रहा।[15]

---

12 इण्डिया टुडे, 17 दिसम्बर 1997, पृ0 25
13 वही
14 वही
15 बृजेन्द्र प्रताप सिंह गौतम, पूर्वोक्त, पृ21

नेतृत्व ही नहीं संयुक्त मोर्चा मुद्दा विहीन भी था। राष्ट्रीय अथवा क्षेत्रीय स्तर पर उसके पास कोई कारगर मुद्दा नहीं था। अपनी पिछली सरकार की उपलब्लियाँ गिनाने के लिये भी कुछ विशेष नहीं था। कुल मिलाकर साम्प्रदायिकता और भाजपा विरोध संयुक्त मोर्चा चुनाव अभियान का प्रमुख आधार था। इसके लिये वे कांग्रेस से जिसने उनकी सरकार को अस्थिर किया था भी समझौता करने को उद्यत थे। हरकिशन सुरजीत का कहना था कि "हमारा जोर भाजपा को धर्म निरपेक्ष वोटों में विभाजन से रोकना है।[16] मुलायम सिंह ने तो यहाँ तक का कि जहाँ–जहाँ कांग्रेस भाजपा को हराने की हालत में है, वहाँ सपा अपने उम्मीदवार नहीं खड़े करेगी।[17]

चुनाव परिणाम

जैसा कि अपेक्षित था चुनाव परिणाम उसके अनुरूप ही आये। 12वीं लोकसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। पुनः त्रिशुंक लोकसभा अस्तित्व में आयी। इतना ही नहीं किसी गठबन्धन को भी पूर्ण बहुमत नहीं मिला। जिस प्रकार का जनादेश इस चुनाव में उभर कर आया उसे राजनीतिक विश्लेषकों ने "खण्डित जनादेश" का नाम दिया। निम्न तालिका को देखने से विभिन्न गठबन्धनों की लोकसभा में दलीय स्थिति स्पष्ट हो जाती है।[18]

तालिका–5.1

लोकसभा में विभिन्न गठबन्धनों की स्थिति

भाजपा गठबन्धन

भारतीय जनता पार्टी	182
समता पार्टी	12
शिरोमणि अकालीदल	08
शिवसेना	06
बीजू जनता दल	09
हरियाणा विकास पार्टी	01
अन्नाद्रमुक	18

16 इण्डिया टुडे, 17 दि0 1997, पृ25
17 वहीं,
18 राज्यवार दलों की स्थिति देखने हेतु परिशिष्ट दो में सारणी 5 देखें।

पी.एम.के.	04
म द्रमुक	03
जनता पार्टी	01
लोक शक्ति	03
तृणमूल कांग्रेस	07
कुल योग	***254***

कॉंग्रेस और उनके सहयोगी

कॉंग्रेस	141
इन्डियन मुस्लिम लीग	02
केरल कॉंग्रेस (एस)	01
रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया	04
राष्ट्रीय जनता दल	17
कुल योग	***165***

संयुक्त मोर्चा

जनता दल	06
समाजवादी पार्टी	20
तमिल मनिला कांग्रेस	03
द्रमुक	07
माकपा	32
भाकपा	09
आर.एस.पी.	05
तेलुगूदेशम	12
फारवर्ड ब्लाक	02
कुल योग	***96***

निर्दलीय एवं अन्य

निर्दलीय	03
बहुजन समाज वादी पार्टी	06
हलोदरा	04
नेशलन कान्फ्रेन्स	03
कॉग्रेस (स)	01
सजपा	01
पी.डब्ल्यू.पी.	01
यू.एम.एस.	01
ए.एस.डी.सी.	01
एस.डी.एफ.	01
अ. कांग्रेस	02
स.जपा	01
यू.पी.एफ.	01
एम.आई.एम.	01
कुल योग	*27*

इस प्रकार उपर्युक्त तालिका के अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी दल अथवा गठबन्धन को 12वीं लोकसभा में पूर्ण बहुमत नहीं मिला। भारतीय जनता पार्टी पुनः एक बार लोक सभा में सबसे बड़ी पार्टी थी और उसका गठबन्धन सबसे बड़ा गठबन्धन किन्तु वे भी पूर्ण बहुमत की रेखा से दूर थे।

मंत्रीमण्डल गठन की कठिनाइयाँ

सबसे बड़ी पार्टी और सबसे बड़े गठबन्धन का नेतृत्व कर रही भाजपा के लिये निर्वाचन के उपरान्त सरकार बना पाना सहज नहीं था। संसदीय लोकतंत्र का संख्या बल पर आधारित बहुमत का आंकड़ा तत्काल उसकी पहुंच के बाहर था। "सबको देखा एक बार हमको देखो एक बार" और "स्वच्छ प्रशासन तथा स्थायी सरकार" के नारों के

बावजूद वह 543 सांसदों वाली लोकसभा के बहुमत की स्पर्श रेखा 272 से अभी दूर थी। अतः भाजपा नेतृत्व के जो लोकसभा के सबसे बड़े गठबन्धन का नेतृत्व कर रहे थे, समक्ष लोकसभा में पूर्ण बहुमत जुटाना प्राथमिक समस्या व अनिवार्यता थी।

सबसे पहली आवश्यकता तो अपने गठबन्धन के सहयोगियों से समर्थन पत्र की प्राप्ति थी जो देखने में जितना सरल लगता था, व्यवहार में उतना ही कठिन था। "गठबन्धन की राजनीति के जितने लटके झटके और उतार-चढ़ाव हो सकते हैं वे सब इस राजनीतिक नाटक में खुलकर सामने आये। चुनावों के बाद सबसे बड़े गठबन्धन के रूप में उभरे भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) के नेतृत्व वाले 16 दलों के गठबन्धन के लिए यह जाम और होंठों के बीच घटती-बढ़ती दूरी के खेल जैसा बन गया।"[19] गठबन्धन के अधिकाँश घटकों से समर्थन पत्र की प्राप्ति में किसी विशेष कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। किन्तु तमिलनाडु के अपने सहयोगियों से चुनाव पूर्व गठबन्धन होने के बाबजूद समर्थन प्राप्त करने में भाजपा नेतृत्व को काफी उलझनों का सामना करना पड़ा। ये सहयोगी थे जयराम जयललिता के नेतृत्व में अन्नाद्रमुक व उसके चार[20] अन्य सहयोगी दल, जिनके पास कुल 27 लोकसभा सीटें थीं और बहुमत की सीमा रेखा तक पहुंचने में इनकी अहम् भूमिका थी।

वस्तुतः जयललिता गठबन्धन सरकार में शामिल होने के लिये पूरी तरह से सौदेबाजी के लिये तत्पर थीं और सरकार के समर्थन के बदले अधिकतम लाभ प्राप्त करना चाहती थी। उन्हें इस बात का भलीभाँति अभास था कि नयी बनने वाली सरकार में उनके व उनके सहयोगियों के 27 सांसदों की अहम भूमिका होगी, इसलिये वे अधिक से अधिक सौदेबाजी कर अधिक से अधिक लाभकारी हिस्सा झटकने को तैयारी में थी। यही कारण था कि अटल बिहारी बाजपेयी को अपने समर्थक सांसदों की संख्या साबित करने के लिये राष्ट्रपति से पत्र मिलने के पूरे 24 घंटे बाद तक दबंग जयललिता ने भाजपा नेतृत्व को अधर में लटकाये रखा। पूर्व में बिना शर्त समर्थन देने की घोषणा कर चुकी जयललिता ने अब अपने दॉव लगाने प्रारम्भ कर दिये तथा आड़वाणी के समक्ष समर्थन के लिये अपनी निम्न माँगें प्रस्तुत कर दी-[21]

1. जनता पार्टी के विवादास्पद नेता सुब्रहमण्यम स्वामी को वित्त या कानून मंत्री बनायें।

---

19 इण्डिया टुडे, 25 मार्च 1998, पृ0 14

20 अन्नाद्रमुक के साथी चार दल थे-पट्टली मक्कल काची,, तमिजागा राजीव, कांग्रेस, जनता पार्टी सुब्रह्मण्यम व मारूमलास्वी द्रविड मुनेत्र कड़गम

21 इण्डिया टुडे 25 मार्च 1998, पृ0 15

2. वित्त मंत्रालय का विभाजन कर टीआरसी के वी0के0 राममूर्ति को राजस्व व बैंकिंग मत्री बनायें।

3. लोकसभा के उपाध्यक्ष पद के लिये अन्ना द्रमुक के एम.तंबीदुरे का समर्थन किया जाये।

किन्तु भाजपा नेतृत्व ने यह साफ कर दिया था कि जयललिता की उपर्युक्त माँगों को स्वीकार कर पाना संभव नहीं है। अटल बिहारी बाजपेयी ने स्पष्ट घोषणा कर दी थी कि "मैं ऐसे दबावों के आगे झुकने की बजाय सरकार नहीं बनाना पसंद करूँगा।"[22] इसके अतिरिक्त राजनीतिक लाभ के उद्देश्य से अन्नाद्रमुक मोर्चे ने समर्थन हेतु निम्न माँगे भी रखीं–[23]

1. तमिलनाडु और कनार्टक के बीच कावेरी जल बँटवारे पर कावेरी पंचाट के अंतरिम आदेश को लागू किया जाय।
2. दो राज्यों के बीच से गुजरने वाली सभी नदियों का राष्ट्रीयकरण हो।
3. 67 प्रतिशत आरक्षण लागू हो।
4. राज्य सरकारों को आरक्षण का प्रतिशत तय करने की आजादी दी जाय।
5. महिलाओं के लिये 33 प्रतिशत आरक्षण।
6. सभी 19 राष्ट्रीय भाषाओं को सरकारी भाषा बनाया जाये।

भाजपा नेताओं से वार्ता के पश्चात पहले तो जयललिता ने बाहर से समर्थन देने की बात कही किन्तु बाद में चेन्नई में भाजपा के वरिष्ठ नेता जसवंत सिंह के प्रयासों के उपरान्त अन्ततः अन्नाद्रमुक अपने मोर्चे के दलों के साथ सरकार में शामिल होने के लिये तैयार हो गई और इस तरह से बाजपेयी के दूसरी बार प्रधानमंत्री के रूप में ताजपोशी की मार्ग प्रशस्त हुआ। तृणमूल कांग्रेस ने जिसके पास 7 सांसदों की संख्या थी सरकार को बाहर से समर्थन देने का आश्वासन दिया। तेलूगू देशम संयुक्त मोर्चे से अलग होते हुए सरकार गठन के समर्थन में इस शर्त के साथ आयी कि उसके सदस्य जी.एम.सी. बालयोगी को लोकसभा अध्यक्ष बनाया जाय। उनकी यह शर्त स्वीकार कर ली गई। इस प्रकार निर्दलीय व कुछ अन्य छोटे–क्षेत्रीय दलों के समर्थन का आश्वासन मिलने के बाद अटल बिहारी बाजपेयी के नेतृत्व में एक और गठबन्धन सरकार के गठन हेतु आवश्यक लोकसभाई बहुमत का प्रबन्ध कर लिया गया।

---

22 वही, पृ0 16
23 वही, पृ0 18

संसदीय शासन में लोकसदन में किसी एक दल को पूर्ण बहुमत न प्राप्त हो पाने की दशा में मिली–जुली सरकार बनाने का प्रयत्न कर रहे नेतृत्व के लिये बहुमत का प्रयत्न कर रहे नेत्तव के लिये बहुमत का आँकड़ा पार करना जितना कठिन होता है, उतना ही कठिन होता है मन्त्रि परिषद के सहयोगियों का चयन ऐसी स्थिति में सहयोगियों की आकांक्षायें आसमान छू रही होती हैं और एक छोटी सी असावधानी समस्त प्रयासों पर पानी फेर सकती है। कमोबेश इसी प्रकार की स्थितियों का सामना भाजपा नेतृत्व को भी करना पड़ा।

साझा सरकार बनाना और चलाना दुष्कर कार्य होता है, अब तक की स्थितियों से यह साबित हो चुका था। किन्तु भाजपा नेतृत्व को इस बार भरोसा था कि "एक प्रभावी पार्टी भाजपा के मुख्य भूमिका में होने से हालात भिन्न होंगे।"[24] किन्तु जिस प्रकार से सत्ता के बँटवारे को लेकर लम्बे समय तक सौदेबाजी चली, उससे यह सिद्ध हो गया कि इस बार भी स्थितियाँ बहुत भिन्न नहीं थीं। सर्वप्रथम तो 27 सांसदों की कमान रखने वाली जयललिता आँकड़ों की दृष्टि से भले ही 179 सांसदों वाली भाजपा से काफी पीछे हो, किन्तु रणनीतिक दृष्टिकोण से उनकी स्थिति इस सरकार में अत्यधिक प्रभावी थी क्योंकि अन्नाद्रमुक के बगैर बाजपेयी सरकार एक कदम भी नहीं चल सकती थी। सरकार का बहुमत का आंकड़ा इतना कमजोर था कि निर्दलियों और छोटी पार्टियों के समर्थन के बगैर सरकार काम चलाऊ बहुमत भी खो सकती थी। इस अन्तर्निहित दुर्बलता के चलते साझीदारों ने भरपूर सौदेबाजी कर अपने लिये मंत्रालयों का बढ़िया हिस्सा खींचने का प्रयास किया और उन्हें अपने प्रयासों में सफलता भी मिली। अन्नाद्रमुक और उसके सहयोगियों को कानून और कंपनी मामले पेट्रोलियम और भूतल परिवहन तथा राजस्व और बैंकिग सरीखे नाजुक विभागों पर कब्जा मिला। कुल मिलाकर नई सरकार की संरचना में जयललिता प्रधानमंत्री के बाद सबसे ताकतवर राजनीतिज्ञ बन गई।

राजनीतिक फिरौती की इस श्रृंखाला में बीजू जनता दल ने इस्पात, कोयला और खान मंत्रालय पर कब्जा किया। संक्षेप में उनके हाथ वह सब कुछ आ गया जिससे उड़ीसा की आर्थिक जीवन रेखा बनती है। लोकसभा में मात्र नौं सीटें पाने वाले दल का यह रौब गठबन्धन राजनीति में ही संभव था। इसी तरह निर्दलीय बूटा सिंह को दूर संचार मंत्रालय देकर उनकी निष्ठा को साधने का प्रयास किया गया। समता पार्टी की सरकार में साझीदारी सुनिश्चित करने में भी भारी मशक्कमत करनी पड़ी। समता पार्टी

---

24 इण्डिया टुडे, 1 अप्रैल 1998, पृ0 29

गृह व वित्त मंत्रालय की माँग पर अड़ी हुई थी। किन्तु बाद में नीतीश कुमार के लिये रेल व जार्ज फर्नान्डीस के लिये रक्षा मंत्रालय पर समझौता हो गया। लोक शक्ति नेता रामकृष्ण हेगड़े को वाणिज्य मंत्रालय से सन्तोष करना पड़ा।

साझीदारों के साथ खींचतान के साथ–साथ संघ–भाजपा परिवार में भी मंत्रियों के चयन के सम्बन्ध में कम तनातनी नहीं थी। बाजपेयी जसवंत सिंह और प्रमोद महाजन को मंत्रीमंण्डल में शामिल करना चाहते थे। जसवंत सिंह का नाम तो उन्होंने भावी मंत्रियों की सूची में राष्ट्रपति के पास भी भेज दिया था[25] किन्तु भाजपा के अन्दरूनी विरोध व भाजपा की मातृ संस्था आर.एस.एस. के प्रबल विरोध के चलते किसी भी ऐसे व्यक्ति को मंत्री न बनाने का निर्णय लिया गया जो लोकसभा चुनाव में पराजित हो चुका है। परिणामस्वरूप अन्तिम समय में सूची से जसंवत सिंह का नाम हटाया गया और इस बात की सूचना उन्हें दी गई। इस प्रकार तमाम कठिनाइयों व झंझावतों से निकलकर अटल बिहारी बाजपेयी के नेतृत्व में जो गठबन्धन सरकार बनी उसका दल गत आँकड़ा निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है[26] :–

तालिका 5.2

दल	सांसदों की संख्या	कैबिनेट मंत्री	राज्यमंत्री	कुल मंत्रियों की संख्या
1	2	3	4	5
भाजपा	179	11	14	25
अन्नाद्रमुक	18	02	02	04
समता	12	02	–	02
बीजद	09	01	01	02
अकालीदल	08	01	01	02
शिवसेना	06	01	–	01
पी.एम.के.	04	–	01	01
लोक शक्ति	03	01	–	01
त.रां.का.	01	01	–	01
अरूणांचल कांग्रेस	02	–	01	03
निर्दलीय	04	02	01	03

25 वही, पृ0 26
26 वहीं, पृ0 25 व 27 पर दिये गये ऑकडोंके आधार पर

साझा सरकार के बनने से ज्यादा कठिन होती है उसकी स्थिरता। भारत में बनी अब तक की गठबंधन सरकारों का उदाहरण एक बार फिर नयी सरकार को वैचारिक रूप से आतंकित कर रहा था। यद्यपि भाजपा के रणनीतिकार इस आधार पर आश्वस्त थे कि "कोई चुनाव नहीं चाहता" इसलिए उनकी सरकार को कोई खतरा नहीं है फिर भी सरकार संचालन व नेतृत्व की स्थिति के सन्दर्भ में सहज ही कुछ प्रश्न उभर कर सामने आ रहे थे–क्या बाजपेयी बंधुआ प्रधानमंत्री होंगे? क्या वे अतृप्त साझीदारों की लूट खसोट के सामने बेबस होंगे? क्या वे अपने दल के अन्दरूनी खींचतान व आर.एस.एस. के दबाव के सामने विवश होंगे? आदि। वास्तव में सरकार गठन तक की जो स्थितियाँ उभर कर सामने आयी थीं, उनसे इतना तो स्पष्ट हो गया था कि बाजपेयी के पूरी तरह स्वतंत्र रूप से कार्य करने की संभावनायें क्षीण थी। दबाव हर तरह की सरकार पर होता है, किन्तु मिली जुली सरकार पर दबाव और तालमेल बिठाने की आवश्यकता कुछ अधिक ही होती है। फिर जब टीम बेमेल हो, वैचारिक भिन्नता हो स्वार्थों की भिन्नता और निहित स्वार्थों की प्रबलता हो तब यह काम और भी जटिल हो जाता है। इस प्रकार की गठबंधन सरकार को चलाना व उसका नेतृत्व करना न केवल बाजपेयी की क्षमता व राजनीतिक चातुर्य की परीक्षा थी बल्कि भाजपा के लिए राजनीतिक जीवन मरण का प्रश्न था क्योंकि "भाजपा कुशल कर्णधार और स्थिर सरकार" के नारे को साथ चुनाव मैदान में उतरी थी। यदि वह इनमें से किसी भी एक मामले में विफल रहती तो यह सीधे उसके राजनीतिक भविष्य का फैसला करने वाला था। भाजपा द्वारा इस गठबन्धन सरकार का नेतृत्व करना दुधारी तलवार पर चलने के समान था।

सरकार की समस्यायें

जैसा कि स्पष्ट है, मिलीजुली सरकार का संचालन हमेशा से एक जटिल कार्य रहा है और वह भी संसदीय शासन में यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है। संसदीय शासन में संसद के लोकप्रिय सदन में किसी एक दल के स्पष्ट बहुमत और राजनीतिक सजातीयता की माँग करती है। ऐसा नहीं कि एक दलीय बहुमत वाली सरकार में समस्यायें और गुटबन्दी नहीं होती, किन्तु यहां इन स्थितियों से नेतृत्व की क्षमता और दलीय अनुशासन के सहारे निपट लिया जाता है। इसके विपरीत गठबंधन सरकार में नाम के लिये सरकार का नेतृत्व एक व्यक्ति–प्रधानमंत्री के हाथ में होता है, किन्तु वास्तव में वह प्रधानमंत्री विभिन्न दलों के नेताओं का नेतृत्व करता हैं ऐसे में समूची टीम को नियंत्रित कर सकने वाली उसकी क्षमता की आपनी निर्धारित सीमायें होती हैं। प्रत्येक

दल और दल का नेतृत्व अपने दलीय हितों के अनुरूप कार्य करने का प्रयास करता है जिसके चलते समूचे सरकार में समन्वय की गणित गड़बड़ हो जाती हैं। परिणाम स्वरूप सरकार के पतन का मार्ग प्रशस्त होता है। भारत में बनी अब तक की गठबंधन सरकारें इसका उदाहरण हैं। 1998 में अटल बिहारी बाजपेयी के नेतृत्व में बनी सरकार व इसका 13 माह का कार्यकाल भी इस स्थिति से अछूते नहीं रहे। प्रधानमंत्री बाजपेयी व उनकी सरकार को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा उसका निम्न दो बिन्दुओं के अन्तर्गत मूल्यांकन किया जा सकता है–

1. भाजपा और सरकार में तनाव
2. सहयोगियों का असहयोग

1. भाजपा और सरकार में तनाव

अपने गठबन्धन के सहयोगियों के सहयोग से बहुमत का जादूई आंकड़ा पार कर पहली बार भाजपा ने केन्द्र में अपनी स्वीकार्यता प्रदर्शित की और अपने राजनीतिक रूप से अछूत होने का लेबल धो डाला। केन्द्र में पहली बार सही अर्थों में गैर–कांग्रेसी पृष्ठभूमि का व्यक्ति प्रधानमंत्री बना। ऐसी सरकार बनी जिसमें लगभग 18 दलों की परोक्ष या अपरोक्ष भागीदारी थी जिसका नेतृत्व सबसे बड़ा दल होने के नाते भाजपा के हाथ में था। चूँकि नेतृत्व भाजपा के हाथ में था इसलिए सरकार संचालन की जवाबदेही भी प्रमुख रूप से उसी की थी और मिलने वाले यश–अपयश का भागी भी उसे ही होना था।

ऐसी स्थिति में दल भाजपा और सरकार के बीच कठोर अनुशासन और बेहतर समन्वय की आवश्यकता थी। किन्तु अधिकांश नाजुक अवसरों पर ऐसा तालमेल संभव न हो सका। दल और सरकार के बीच स्पष्ट तनाव की स्थितियाँ प्रकट हुई। मंत्रियों के चयन को लेकर यह तनातनी उभर कर सामने आयी जो कालान्तर में अनेक अवसरों पर स्पष्ट देखने को मिली। विशेष रूप से मध्य प्रदेश, राजस्थान और दिल्ली के विधान सभा चुनावों में पार्टी को मिली करारी हार के बाद यह खींचतान ओर मुखर हो उठी। यहाँ तक कि इस स्थिति में प्रधानमंत्री बाजपेयी पर व्यक्तिगत आक्षेप भी किये गये।[27] तत्कालीन भाजपा अध्यक्ष कुशाभाऊ ठाकरे ने कठोर मुद्रा अपनाते हुए चुनावों में पराजय के लिए पार्टी की अंदरूनी कलह को लेकर बाज़पेयी की कमजोर आपत्तियों को

---

27 इण्डिया टुडे, 16 दिसम्बर 1998, पृ0 32

दरकिनार कर दिया।[28] ठाकरे ने एक टी.वी. चैनल को दिये साक्षात्कार में आरोप लगाया "पार्टी से सलाह नहीं ली जा रही। सरकार के प्रमुख फैसलों में उसकी कोई शिरकत नहीं है।"[29] हालात यह रहे कि सरकार की नीतियों का विरोध कभी–कभी सरकार में शामिल मंत्रियों और सत्तारूढ़ दल के सांसदों ने भी किया। पार्टी से जुड़े लोगों का यह आरोप था कि सरकार में बैठा नेतृत्व उनकी सलाह को महत्व नहीं देता तो सरकार का यह आरोप आम होता जा रहा था कि दल सरकार पर अनावश्यक दबाव डालने का प्रयास कर रहा है। संसदीय लोकतंत्र में सत्तारूढ़ दल संगठन और सरकार के बीच सामन्जस्य की आवश्यकता होती है किन्तु यहां इस प्रकार का सामन्जस्य देखने को नहीं मिला।

गठबन्धन चलाने की अपनी विवशता होती है, और यह विवशता तब और बढ़ जाती है जब गठबंधन बेमेल विचारों वाले दलों के बीच हो। यही कारण है कि भाजपा नेतृत्व ने गठबन्धन सरकार चलाने और उसके स्थायित्व को ध्यान में रखते हुए अपने दलीय एजेन्डे को स्थगित कर गठबंधन का एक साझा कार्यक्रम स्वीकार किया था। भाजपा की मातृ संस्था आर.एस.एस. और इसकी सहयोगी संस्थाओं विहिप, बजरंग दल आदि ने इस मुद्दे पर भी सरकार को घेरने का ही प्रयास नहीं किया बल्कि समय–समय पर अपने बायानों और कार्यवाहियों से सरकार के लिए परेशानी भी पैदा की। इस सम्बन्ध में सरकार और दल भाजपा के दृष्टिकोण में समानता देखी जा सकती है। बाजपेयी स्पष्ट रूप से जहां यह कहते थे कि यह गठबंधन है, इसलिए पार्टी को आम राय से सरकार चलानी है, वहीं पार्टी अध्यक्ष ठाकरे भी ऐलान कर रहे थे कि राष्ट्रीय एजेन्डा ही भाजपा का एजेन्डा है गठबंधन सरकार से इतर पार्टी का कोई एजेन्डा नहीं है।[30]

इस प्रकार बाजपेयी को एक ऐसी सरकार का नेतृत्व मिला था जो विपक्ष के प्रहारों का सामना तो कर ही रही थी अपने दल के भीतर के असन्तोष व सहयोगी संस्थाओं (आर.एस.एस. विहिप व बजरंग दल) के क्रिया कलापों के बाण भी झेल रही थी। चुनौतियाँ बाहर से तो थी हीं, अन्दर की मुश्किलें भी कमतर नहीं थीं। ऐसे में प्रधानमंत्री का काम बहुत ही जटिल था।

2. सहयोगियों का असहयोग

---

28 वही
29 वहीं, उद्धत
30 इण्डिया टुडे, 29 अप्रैल 1998, पृ0 21

गठबन्धन सरकारों में, विशेष रूप से जब गठबन्धन के साझीदार बेमेल विचारों वाले हों तो, एक बात सामान्य तौर पर उभर कर सामने आती है कि सहयोगियों के बीच अपेक्षित सहयोग और समन्वय स्थापित करने में कठिनाई होती है। और जब गठजोड स्वार्थ अथवा सत्ता लिप्सा से प्रेरित हो तो यह स्थिति और भी स्पष्ट दिखायी देती है। 1998 में भाजपा के नेतृत्व में बनी मिली जुली सरकार की भी यही स्थिति रही। इस पूरे कार्यकाल में बाजपेयी कभी भी अपनी पूर्ण प्रशासनिक क्षमता का प्रदर्शन न कर पाये। या तो उन्होंने समस्याओं के प्रति मौंन साध लिया या सहयोगियों की माँगों के आगे नतमस्तक हुए। ध्यान रहे इस सरकार के अधिकांश सहयोगी दल क्षेत्रीय दल थे, उनके अपने क्षेत्र विशेष में उनका प्रभाव था और वे सभी सरकार के समर्थन के बदले में अपने–अपने क्षेत्रीय हितों को साधनें में जुटे हुए थे जिससे अपनी जमीन को और भी पुख्ता बनाया जा सके। इस दृष्टि से चन्द्रबाबू नायडू, ममता बेनर्जी, नवीन कुमार पटनायक, नीतिश कुमार और जयललिता इन सबके अपने–अपने पैकेज थे और अपनी–अपनी माँगें। प्रधानमंत्री और उनके निकट सलाहकार इन सहयोगियों की सन्तुष्टि में ही अधिक रहे, प्रशासन पर सम्यक ध्यान कम ही गया। बाजपेयी को आगे बढ़ाने में सक्रिय लोग परेशान रहे कि वे प्रधानमंत्री के तौर पर अपनी शक्ति का उपयोग करने से भी परहेज करते रहे। गठबंधन के साझीदारों से निबटने की बाजपेयी की कला काफी हद तक अपने पूर्ववर्ती इन्द्र कुमार गुजराल से मिलती है, जो काँग्रस की घौस पट्टी निरन्तर झेलते रहे। किन्तु गुजराल कोई व्यापक जनाधार वाले करिश्माई नेता नहीं थे। वे चन्द क्षत्रयों के एक समूह द्वारा देश पर थोपे गये थे। इनके अपने जनता दल के सहयोगी उन्हें गंभीरता से नहीं लेते थे। किन्तु बाजपेयी के साथ ऐसा नहीं था। काफी हद तक उनके करिश्माई नेतृत्व के कारण ही भाजपा लोकसभा में 180 के लगभग सीटें जीत सकी थी और उनकी लोकप्रियता का ग्राफ निरन्तर बरकरार रहा। फिर भी गठबंधन सरकार की बाध्यताओं ने प्रधानमंत्री को विवश बनाये रखा।

सहयोगियों में सर्वाधिक परेशानी का सबब और अन्ततः सरकार पतन के लिए उत्तरदायी रहीं, तमिलनाडु में प्रभावी दखल रखने वाली अन्नाद्रमुक प्रमुख सुश्री जयललिता। जयललिता सरकार गठन के प्रारम्भ से ही परेशानी का कारण रही। प्रारम्भ में चुनाव पूर्व गठबंधन की साझीदार होने के बाबजूद सरकार को समर्थन हेतु पत्र देने में हीला हवाली व सरकार में शामिल होने के लिये अनेकानेक शर्तें थोपना उनकी नियति बन गई थी। सरकार गठन के बाद भी उनकी पेंचीदे माँगों की वृद्धि होती रही। संभवतः

उन्हें इस बात का भ्रम था कि सरकार वे ही चला रही है और जब जो. मांग रखेंगी मान ली जायेगी। चाहे तमिलनाडु में द्रमुक सरकार की बर्खास्तगी हो, या अपने पसंदीदा लोगों को पसंदीदा मंत्रालय दिलाने का मुद्दा या अपने ऊपर चल रहे मुकदमें वापस लेने या उनके मुकदमें विशेष न्यायालय से सत्र न्यायालय में अधिसूचना जारी करने का मामला रहा हो, हर जगह उनके अड़ियल रूख का ही प्रदर्शन हुआ। उन्होंने कभी भी एक सहयोगी का सा भाव दर्शाया ही नहीं।

अन्नाद्रमुक के व्यवहार में स्पष्टतः ब्लैकमेलिंग के राजनीति की दुर्गन्ध आती रही और वे सरकार के समर्थन की पूरी पूरी कीमत वसूल करने में तत्पर दिखी। भ्रष्टाचार के मामले में एस.आर. मुतैया के त्यागपत्र प्रकरण पर जयललिता ने सरकार को संकट में डाला ही, उनके दल के मंत्री भी इस तरह की कवायद से नहीं चूके। वित्त राज्य मंत्री आर.के. कुमार, कानून मंत्री तंबी दुरै और कार्मिक राज्यमंत्री आर. जनार्दन ने एक बयान जारी कर न केवल जेठमलानी और हेगड़े को, जिन्होंने जयललिता के खिलाफ टिप्पणी की थी, हटाने की माँग की बल्कि प्रधानमंत्री को यह भी याद दिलाया कि सरकार जयललिता के इशारे पर नाचने वाले 27 सांसदों के समर्थन से ही बन सकी थी।[31] जयललिता ने प्रवर्तन निदेशालय के प्रमुख एम.के. बेजबरूआ को हटाने की माँग रखी मान ली गई। उनके स्थान पर अपने मनपसंद व्यक्ति के नियुक्ति की मांग रखी, तकनीकी अड़चनों के कारण यह मांग न मानी जा सकी तो वे खिन्न हो उठी। इसी तरह राजस्व सचिव एन.के. सिंह की जगह बैंकिंग सचिव सी.एम.वासुदेवन को लाने की मांग भी बाजपेयी ने आंशिक रूप से स्वीकार की।[32] इससे भी वे क्षुब्ध हो उठी।

इस तरह उनकी माँगों और दबावों की फेहरिस्त ने प्रधानमंत्री को इस कदर हलकान, संतप्त और अपमानित तक किया कि प्रधानमंत्री बेहद थके और परेशान नजर आने लगे। जयललिता को सन्तुष्ट रखने का उन्होंने भरसक प्रयास किया। फिर भी शायद ही कोई पखवाड़ा ऐसा। बीता हो जब अन्नाद्रमुक प्रमुख कोई असंभव सी मांग रखकर सरकार को कठिनाई में न डालती रही हों। हद तो तब हो गई जब 7 अगसत 1998 को, जब बाजपेयी तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल और पांडिचेरी सरकारों के साथ कावेरी जल बँटवारे पर एक आम सहमति पर पहुंच गये तो तैश में आई जयललिता ने केन्द्र सरकार को धमकी दे डाली कि यदि उसने मूल पंचाट के फसेले को लागू नहीं

---

31 वहीं, पृ0 14
32 इण्डिया टुडे, 2 सितम्बर 1998, पृ0 29 (एन.के. सिंह को प्रधानमंत्री कार्यालय लाया गया और उनके स्थान पर प्रवर्तन निदेशालय के पूर्व प्रमुख जावेद चौधरी को नियुक्त किया गया।)

किया तो वह विनाशकारी नतीजे भुगतन को तैयार रहे।[33] बाजपेयी ने इस धमकी की उपेक्षा की। जयललिता ने सरकार में शामिल अपने मंत्रियों को बुलाने का फैसला कर लिया किन्तु दुर्भाग्यवश, पी.एम.के, एम.डी.एम.के. और टी.आर.सी. जिनके आठ सांसद हैं इस मुद्दे पर जयललिता का साथ देने को तैयार नहीं हुए। परिणामस्वरूप सरकार पर तत्काल संभावित खतरा तो टल गया किन्तु भाजपा सरकार ने जलयललिता से मुक्ति के मार्ग तलाशने प्रारम्भ कर दिये। सियासत के नये समीकरणों की खोजं बीन प्रारम्भ हुई।

राजनीति में यह एक आम धारणा है कि मिलीजुली सरकारों के पतन के लिये बाहय दबाव की तुलना में आन्तरिक अन्तर्विरोध अधिक उत्तरदायी होते हैं। जयललिता के नाज नखरों शर्तों और निरन्तर बढ़ती मांगों से यह प्रारम्भ से ही लग रहा था कि बाजपेयी के नेतृत्व में बनी संयुक्त सरकार के पतन का कारण वे ही होंगी।। अन्ततः हुआ भी यही। यद्यपि भाजपा कर्णधारों ने अन्नाद्रमुक समर्थन वापसी की स्थिति में आवश्यक समर्थन जुटाने की पूरी कवायद कर ली थी किन्तु अन्तिम क्षणों में एक मत से अपनी सरकार को गिरने से नहीं बचा पाये। अप्रैल 1999 में 12वीं लोकसभा भंग कर दी गई। लगा अस्थिरता का दौर अभी थमने वाला नहीं। एक नया चुनाव एक नयी सरकार, कुछ नई संभावनायें भविष्य की ओर पाँव पसारने लगी थी। गठबंधन सरकारों पर अपने ही अन्तर्विरोधो से गिरने और अस्थायित्व का लांछन लग चुका था।

वास्तव में बारहवीं लोकसभा एक त्रिशंकु लोकसभा थी इसलिए प्रारम्भ से ही यह संभावना थी कि इसका भविष्य अल्प होगा। इस सम्भावना को अन्नाद्रमुक ने समर्थन वापस लेकर हकीकत में बदल दिया। समर्थन वापसी के पश्चात 17 अप्रैल 1999 को प्रधानमंत्री द्वारा प्रस्तुत विश्वास मत के समर्थन में 269 मत पड़े जबकि उसके विपक्ष में पड़ने वाले मतों की संख्या 270 थी। इस प्रकार बाजपेयी सरकार एक मत से पराजित हो गई। इस एक मत से सरकार की पराजय में उड़ीसा के तत्कालीन मुख्यमंत्री गिरधर गोमांगो के मत की निर्णायक भूमिका रही। उड़ीसा का मुख्यमंत्री नियुक्त होने के बाद भी उन्होंने लोकसभा की सदस्यता नहीं छोड़ी थी और न ही वे उड़ीसा विधानसभा के लिये अभी तक निर्वाचित हुए थे। उनका मतदान में भाग लेना विवाद का विषय रहा। इस प्रकरण पर पक्ष और विपक्ष में काफी दलीलें दी गई। अन्ततः लोकसभा अध्यक्ष बालयोगी ने निर्णय उनके विवेक पर छोड़ दिया। वैधानिक रूप से गोमांगो लोकसभा सदस्य अवश्य बने हुए थे किन्तु एक राज्य का मुख्यमंत्री होने के नाते नैतिक आधार पर लोकसभा की

---

33 वही

कार्यवाही में भाग लेना और मत देना अनुचित था। किन्तु सम्भवतः राजनीति में मूल्यों और परम्पराओं की अलग व्याख्या होती है। अतः उन्होंने मतदान किया। निश्चय ही किसी भी स्थिति में यह एक गलत परम्परा का बीजारोपण था जो राजनीतिक स्वार्थ के गंध से आच्छादित था। इसके अतिरिक्त सहयोगी दल नेशनल कान्फ्रेन्स के सैफुद्दीन सोज ने पार्टी निर्देशों की अवहेलना करते हुए भाजपा सरकार के विपक्ष में मतदान किया। यह दल–बदल कानून की परिधि में आने वाला कदम था।

इन दो मतों ने भाजपा नेतृत्व वाली सरकार के अन्त पर मुहर लगा दी। वैकल्पिक सरकार न बन पाने की स्थिति में 26 अप्रैल 1999 को 12वीं लोकसभा भंग कर दी गई।

अटल बिहारी बाजपेयी ने जब मार्च 1998 में देश की कमान संभाली थी तब उम्मीद की जा रही थी कि वे राष्ट्र को हताशा से उबारने की नयी रणनीति दे सकेंगे। लम्बे समय तक प्रखर वक्ता और कुशल राजनीतिज्ञ की भूमिका निभा चुके बाजपेयी से आकांक्षायें कुछ अधिक ही थीं। किन्तु गठबन्धन की विवशता, पार्टी का आन्तरिक तनाव व सहयोगियों की खींचतान के चलते वे अपने सम्पूर्ण कौशल का प्रदर्शन न कर सके। उन्हें एक ऐसे नेता के रूप में देखा गया, जो जोखिम लेने से डरता हो, ब्लैकमेलर सहयोगियों के समक्ष हथियार डाल देता हो, लोगों और सहयोगियों से सीधे सम्पर्क से बचता हो और सबसे बढ़कर कोई अलोकप्रिय फैसला करने से बचता हो। सत्ता प्राप्ति के प्रारम्भिक महीनों में बाजपेयी थके हताश, निराश, अस्वस्थ और उदासीन नेतृत्व के रूप में दिखायी दिये। पांच दशक तक जिसने संसद के बाहर और अन्दर अपनी अद्वितीय वक्तव्य शैली के बल पर लोकप्रियता और अपना महत्व सुनिश्चित किया था और जिसके बारे में आम धारणा थी कि वे अवसर मिलने पर एक अद्वितीय प्रधानमंत्री साबित होंगे। कि वे अवसर मिलने पर एक अद्वितीय प्रधानमंत्री साबित होंगे। किन्तु अपने इस प्रथम कार्यकाल में वे ऐसी कोई छाप नहीं छोड़ सके।[34]

गठबंधन के साझीदारें की धौंसपट्टी व उनके आपसी खींचतान के लिये उन्होंने विशेष प्रयास नहीं किये। विवादास्पद स्थितियों में वे आश्चर्यजनक चुप्पी साध लेते थे। ऐसे में कभी कभी लोग उनकी तुलना उनके पूर्ववर्ती प्रधानमंत्री गुजराल से करने लगते थे। किन्तु गुजराल कोई व्यापक जनाधार वाले करिश्माई नेता नहीं थे वे चन्द क्षत्रपों द्वारा

---

34 यद्यपि प्रधानमंत्री के रूप में बाजपेयी का प्रथम कार्यकाल मई 1996 में 13 दिन का था किन्तु इस कार्यकाल में सरकार ने कोई नीतिगत कार्य नहीं किया इएलिये बाजपेयी के नेतृत्व परीक्षण के उद्देश्य से 1998 से 1999 का 13 माह का कार्यकाल ही उनका प्रथम कार्यकाल माना जाना चाहिये।

देश पर थोपे गये थे। उनके अपने जनता दल के सहयोगी भी उन्हें गंभीरता से नहीं लेते थे। किन्तु बाजपेयी के साथ ऐसा नहीं है। काफी हद तक उनके करिश्में के कारण ही भाजपा 12वीं लोकसभा चुनाव में 180 सीटें तक जीत सकी। सर्वेक्षणों के मुताबिक उनकी लोकप्रियता का आँकड़ा उनके कई प्रतिद्वन्दियों की लोकप्रियता के सम्मिलित आँकड़े से भी अधिक था। इस स्थिति में भी बाजपेयी ने चुप रहकर समस्याओं को स्वतः विखंडित हो जाने की रणनीति अपनाई। यहाँ यह स्पष्ट करना समाचीन होगा कि बाजपेयी की यह चुप्पी अथवा उदासीनता उनकी नेतृत्व क्षमता पर प्रश्न चिन्ह आरोपित नहीं करती। यह महज तात्कालिक परिस्थितियों की विवशता कही जा सकती हैं।

सरकार की उपलब्धियाँ

किसी भी सरकार के लिये कुछ कर दिखाने के लिये 13 माह का कार्यकाल बहुत ही छोटा होता है। इस अल्पअवधि में सरकार से किसी चमत्कारिक उपलब्धि की कामना नहीं की जा सकती। हाँ एक परिवर्तन की परियाटी के दर्शन की उम्मीद अवश्य की जा सकती है। फिर जब सरकार परस्पर विरोधी विचारों व हितो वाले दलों के गठबंधन की हो जिसके पास मात्र सामान्य बहुमत हो तो सरकार के लिए सकारात्मक दिशा में काम करना और भी कठिन हो जाता है। भाजपा के अन्दरूनी तनाव, आर.एस.एस. के दबाव व सहयोगियों के खींचतान के बाबजूद बाजपेयी सरकार ने अपने 13 माह के कार्यकाल में कुछ ऐसे कार्य किये जिन्हे सरकार की उपलब्धियों के रूप में गिनाया जा सकता है—

1. सर्वप्रथम 11 और 13 मई 1998 को पोखरन में किये गये परमाणु विस्फोट सरकार की एक महती उपलब्धि थी। यद्यपि इस विस्फोट की तैयारी बहुत पहले कर ली गई थी किन्तु बाजपेयी की पूर्ववर्ती सरकारों ने अन्तर्राष्ट्रीय दबावों की वजह से इस कार्य को अन्जाम देने का साहस नहीं किया। किन्तु बाजपेयी सरकार ने यह विस्फोट कर विश्व के समक्ष भारत को परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्र के रूप में स्थापित करने की पहल की। इससे विश्व में न केवल भारत की प्रतिष्ठा बढ़ी बल्कि इससे भारत की सैन्य शक्ति का दबदबा भी कायम हुआ। यह सही है कि भारत शान्ति का पुजारी है किन्तु परिवेश में जब चारों ओर शान्ति के शत्रुओं का वास हो, एक सुरक्षात्मक ढाल के रूप में अपने पास भी विध्वंसक हथियारों का होना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार परमाणु शक्ति की उपलब्धता भारतीय सुरक्षा व शान्ति के लिये अनिवार्य थी। जिसे इस सरकार ने हासिल किया।

परमाणु शक्ति सम्पन्न हो जाने से भारत की कूटनीतिक, राजनयिक क्षमता में भी वृद्धि हुई।

2. परमाणु विफोटों के बाद विश्व के अनेक देशों ने भारत पर आर्थिक प्रतिबंध लगा दिये। उम्मीद की जा रही थी कि आर्थिक रूप से भारत की स्थिति दयनीय हो जायेगी। यह वह समय था जब सम्पूर्ण विश्व आर्थिक मंदी का दौर झेल रहा था और पूर्वी यूरोप के अनेक देशों की अर्थव्यवस्था ध्वस्त हो चुकी थी। पाकिस्तान की अर्थ व्यवस्था प्रभावित भी हुई किन्तु भारत की अर्थव्यवस्था पर कोई नकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ा। यह सुदृढ़ बना रहा और इसमें अगर परिवर्तन हुआ भी तो वह सकारात्मक रहा। यदि प्याज की कीमतों को छोड़ दिया जाय तो आर्थिक मोर्चे पर सरकार का प्रदर्शन खराब नहीं रही। वर्ल्ड इकोनामिक फोरम के प्रबंध निदेशक क्लॉड माद्जा ने इस तथ्य को स्वीकार करते हुए कहा, "सकारात्मक पहलू यह है कि अनवरत आर्थिक मंदी के विपरीत भारत इस मार्च में समाप्त हो रहे वित्तीय वर्ष में 5 से 5.5 फीसदी की वृद्धि दर दर्ज करता प्रतीत होता है। यह सरकार के 6.5 से 7 फीसदी के निर्धारित लक्ष्य से काफी कम है लेकिन विश्व की दूसरी विकासशील या विकसित अर्थव्यवस्थाओं की तुलना में उल्लेखनीय रूप से बेहतर है। भारत का इस साल का प्रदर्शन उसे दुनिया के शीर्ष देशों में शुभार करता है।"[35] आर्थिक क्षेत्र में बाजपेयी सरकार ने ऐसे कानून बनाये जिनके चलते बीमा, दूरसंचार, बिजली एवं सड़क जैसे क्षेत्रों में निजी निवेश आसान होगा।

3. 13 माह के कार्यकाल के दौरान कानून और व्यवस्था की स्थिति सामान्य बनी रही। साम्प्रदायिक और फासिस्ट पार्टी होने का आरोप लगने के बाबजूद इस शासन काल में साम्प्रदायिक दंगे अपेक्षाकृत कम हुए।

4. कारगिल विजय एक ऐसी घटना थी जिसने भारत का राष्ट्रीय सम्मान बढ़ाया। भारत की सुरक्षा के सम्बन्ध में आशंकायें नहीं रही।

II

तेरहवी लोकसभा और राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन सरकार

---

35 इण्डिया टुडे, 16 दिसंबर 1998, पृ0 14 पर उद्‌धृत

अन्नाद्रमुक के समर्थन वापस ले लेने से बाजपेयी के नेतृत्व वाली गठबंधन सरकार गिर गई। विकल्प के रूप में पांच मिनट में नई सरकार का दावा करने वालों में स्वयं फूट पड़ गई और नई सरकार का गठन संभव नहीं हो सका। परिणाम स्वरूप देश एक बार फिर निर्वाचन के मुहाने पर खड़ा था। किन्तु इस बार भी इतना तो स्पष्ट ही था कि फिलहाल तेरहवीं लोकसभा चुनाव में भी किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत मिलने की उम्मीद नहीं थी। अतः राजनीतिक दलों के ध्रुवीकरण की प्रक्रिया पुनः प्रारम्भ हो गई, जिसे गठबंधन के नये–नये समीकरणों के तलश की संज्ञा दी जाती सकती है।

निश्चय ही भारत की बहुदलीय व्यवस्था में सिद्धान्तों और विचारों का साम्य रखने वाले दलों की संख्या नगण्य है। सामान्यतया वैचारिक और सैद्धान्तिक समानता रखने वाले दलों का गठबंधन स्थायी होता है। किन्तु भारत के राजनीतिक परिदृश्य पर इस प्रकार की अनुकूलता के दर्शन नहीं के बराबर होते हैं। ऐसे में गठबंधन निर्माण की अनुकूलता के रूप से दूसरा महत्वपूर्ण तत्व होता है–"कार्यक्रमों की एकता"। भारतीय राजनीति में चुनाव पूर्व कार्यक्रमों की एकता की स्थिति भी अब तक नहीं दिखायी दी थी।

यहां गठबन्धन निर्माण के दो ही प्रमुख प्रेरक तत्व थे–

1. गैर कांग्रेसवाद
2. गैर–भाजपावाद

गैर–कांग्रेसवाद या गैर–भाजपावाद के पीछे भी कोई वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि नहीं थी। इसके पीछे राजनीतिक दलों के अपने निहित राजनीतिक स्वार्थ थे। जिस राजनीतिक दल का अपने क्षेत्र विशेष में प्रबलतम प्रतिद्वन्दी कांग्रेस था उसने भाजपा का पल्लू पकड़ा और जिसे भाजपा से खतरा था उसने कांग्रेस का दामन थामने में भलाई समझी ओर इन्हीं दो ध्रुवों के बीच तथाकथित तीसरा मोर्चा बिखर गया। अन्ततः तेरहीवीं लोकसभ का चुनाव भी मूलतः तीन मोर्चों अथवा गठबन्धों के बीच सम्पन्न हुआ–

1. भाजपा के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबनधन
2. कांग्रेस एवं उसके सहयोगी।
3. संयुक्त मोर्चे के असंगठित सहयोगी एवं वाममोर्चा (तीसरा मोर्चा)

राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन

तेरहवीं लोकसभा चुनाव से पूर्व भाजपा और उसके सहयोगियों ने "राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन" के नाम से चुनाव पूर्व एक गठबंधन खड़ा किया जो समान उद्देश्यों

और समान कार्यक्रमों पर आधारित था। यही कारण था कि इस गठवन्धन ने सभी दलों की ओर से एक संयुक्त चुनावी घोषणा पत्र जारी किया जिसे राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन का घोषणा पत्र कहा गया। इस गठबन्धन में भाजपा के 12वीं लोकसभा के सहयोगी तो थे ही, अन्नाद्रमुक को छोड़कर जनता दल और संयुक्त मोर्चे से अलग हुए कुछ प्रमुख घटक भी इसमें सम्मिलित हुए। राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन का गठन एक प्रकार से भाजपा के अछूत स्थिति की तिलांजलि थी और उसकी व्यापक स्वीकार्यता की परिचायक भी। इस गठबन्धन में मुख्यतः गैर–कांग्रेसवाद की लीक पर चलने वालें दल थे। राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन में शामिल प्रमुख दल निम्न थे–

1. द्रविड़ मुनेत्र कड़गम

अप्रैल 1999 में बाजपेयी सरकार से अन्नाद्रमुक के समर्थन वापसी के बाद से ही द्रमुक ने भाजपा से औपचारिक गाँठ बाँधने में बड़ी तत्परता दिखायी। उसने हिन्दू राष्ट्रवादियों से हाथ मिलाने के लिये अपने द्रविड़ राष्ट्रवाद को किनारे कर दिया। वास्तव में तत्कालीन समय में तमिलनाडु में द्रमुक के समक्ष दो चुनौतियाँ थीं–एक तो अन्नाद्रमुक और दूसरी कांग्रेस। कांग्रेस ने द्रमुक को संयुक्त मोर्चा सरकार से बाहर करने के मुद्दे पर ही गुजराल सरकार से समर्थन वापस लिया था और उस पर राजीव गाँधी के हत्यारों से मिले होने का आरोप लगाया था। पिछली भाजपा गठबंधन सरकार में रहते हुए अन्नाद्रमुक प्रमुख जयललिता ने तमिलनाडु में द्रमुक सरकार को अस्थिर करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। करूणानिधि सरकार की बर्खास्तगी उनकी एक प्रमुख माँग थी। तेरहवी लोकसभा चुनाव में कांग्रेस और अन्नाद्रमुक के बीच गठबंधन की संभावनाओं के बाद से द्रमुक के लिये भाजपा के नेतृत्व में आना एक तरह से अनिवार्य सा हो गया था। इस सम्बन्ध में करूणानिधि और बाजपेयी तथा मुरासोली मारन ओर प्रमोद महाजन के बीच व्यक्तिगत रिश्ते भी काम आये। यद्यपि इस गठवंधन से उन्हें अपने सहयोगी तमिल मानिला कांग्रेस से बिछड़ना पड़ा फिर भी दूरगामी दलीय राजनीतिक हितों को ध्यान में रखते हुए द्रमुक राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन का हिस्सा बना। इस गठबंधन के पीछे क्षेत्रीय आन्तरिक बाध्यता काम कर रहीं थीं।

2. तेलगू देशम

तेलगूदेशम पार्टी 1996 से 1997 तक संयुक्त मोर्चा सरकार का हिस्सा थी। किन्तु मोर्चा सरकार गिरने के बाद 1998 में उसकी सरकार बनने की संभावना न देख चन्द्रबाबू

नायडू ने पाला बदला और भाजपा के नेतृत्व में 1998 में बनने वाली गठबंधन सरकार को बाहर से समर्थन दिया। यद्यपि 1998 के चुनावों में भाजपा और तेदेपा का चुनाव पूर्व गठबंधन नहीं था, फिर भी स्थिर सरकार के गठन की आवश्यकता के चलते उन्होंने भाजपा गठबंधन सरकार को समर्थन देने का निर्णय। 1999 के चुनावों में वे चुनाव पूर्व राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन का हिस्सा बने। तेदेपा की भी यह क्षेत्रीय राजनीतिक विवशता थी। राज्य में लोकसभा और विधान सभा चुनाव एक साथ होने थे और इस चुनाव में कांग्रेस उनका प्रबल प्रतिद्वन्दी था। भाजपा से कोई बड़ी चुनौती नहीं मिलनी थी किन्तु 1998 में चुनावों में 18 प्रतिशत मत हासिल करने वाली भाजपा गठबंधन न होने की स्थिति में तेदेपा को क्षति पहुँचा सकती थी। इसलिए लोकसभा के साथ–साथ विधान सभा में भी अपनी सफलता दोहराने के लिए नायडू को भाजपा के साथ आना अनिवार्य हो गया।

3. समता–जनता दल (यू)

1998 में अपने गठन के बाद से ही जनता दल लगातार टूटता बिखरता रहा है। यहां तमाम बिखरावों में से केवल दो का उल्लेख समाचीन होगा। 21 जून 1994 को लालू प्रसाद यादव के विरूद्ध बगावत कर जार्ज फर्नान्डीस और नीतिश कुमार ने समता पार्टी का गठन किया। यह समता पार्टी 1998 में भाजपा के नेतृत्व में बनी सरकार में शामिल थी और फर्नान्डीस इस सरकार में प्रभावशाली स्थिति में थे। वे गठबंधन की समन्वय समिति के संयोजक भी रहे। लालू के स्वेच्छाचारी दृष्टिकोण के कारण ही बिहार में उन्हें चुनौती देने की गरज से 21 जूलाई 1999 को शरद यादव और राम विलास पासवान जनता दल से अलग हो गये। उधर कर्नाटक में जे.एच. पटेल देवगौड़ा की खिलाफत के कारण जनता दल से अलग हुए। इस प्रकार समता, हेगड़े की लोकशक्ति, पटेल, पासवान और शरद यादव ने मिलकर एक नये दल का गठन किया–जनता दल युनाइटेड। इस दल ने राजग में शामिल होकर चुनाव लड़ने का फैसला किया। राजग में सम्मिलित इन नेताओं को राजग के साथ आकर वास्तव में राजद–कांग्रेस गठबंधन के विरूद्ध अपनी जमीन तलाशनी थी, वहीं पटेल और हेगड़े जैसे नेताओं को अपने अस्तित्व और पहचान को बनाये रखने के लिये ठोस अवलम्बन की आवश्यकता थी। राजग से अच्छा आधार उनके लिये क्या हो सकाता था क्योंकि कांग्रेस में उनके लिये कोई स्थान नहीं था।

4. बीजू जनता दल

15 दिसम्बर 1997 को जनता दल के उड़ीसा इकाई में विभाजन के परिणामस्वरूप बीजू जनता दल अस्तित्व में आया जिसका नेतृत्व उड़ीसा के पूर्व मुख्यमंत्री बीजू पटनायक के पुत्र नवीन पटनायक के हाथ में था। चूँकि राज्य में इस दल का प्रमुख प्रतिद्वन्दी कांग्रेस था इसलिए बीजद ने भाजपा से हाथ मिला लिया। 1998 में में भी बीजद भाजपा गठबंधन का हिस्सा था और 1999 में यह राजग का हिस्सा बना रहा। यहाँ भी बीजद के राजग में जाने के लिए क्षेत्रीय राजनीतिक विवशतायें उत्तरदायी थी। बीजू जनता दल ने उड़ीसा में कांग्रेस का सशक्त विकल्प प्रस्तुत किया था अतः उसे गैर कांग्रेसी गठबन्धन ही रास आ सकता था।

5. तृणमूल कांग्रेस

कांग्रेस में स्वयं को असहज महसूस करने वाली तृणमूल कांग्रेस नेत्री ममता बनर्जी का मुख्य उद्देश्य पश्चिम बंगाल में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का सफाया है। इस उद्देश्य से बंगाल में अपनी जमीन पुख्ता करने के उद्देश्य से उन्होंने 1998 में भाजपा गठबंधन सरकार को बाहर से समर्थन दिया। 1999 में चुनाव पूर्व राजग में सम्मिलित हो उन्होंने आगामी सरकार में शामिल होने का भी ऐलान किया।

6. शिवसेना

शिवसेना को भाजपा का प्राकृतिक सहयोगी कहा जाता है क्योंकि दोनों ही कहीं न कहीं हिन्दुत्व की विचारधारा से जुड़े हुए हैं। इसके अतिरिक्त शिवसेना का एक मात्र विस्तार महाराष्ट में है जहाँ कांग्रेस उसका कट्टर प्रतिद्वन्दी है। शिवसेना व भाजपा के अलग होने की स्थिति में महाराष्ट्र में कांग्रेस को लाभ होगा इसलिए विधानसभा और लोकसभा दोनो ही स्तरों पर इनका गठबंधन रहा है।

7. अकाली दल

एकमात्र पंजाब में अपना विस्तार रखने वाले अकाली दल का प्रबल विरोधी कांग्रेस है। भाजपा से गठबंधन न होने की स्थिति में अकाली मतों के विभाजन से कांग्रेस को लाभ होगा इसलिए अकाली दल भाजपा गठबंधन का हिस्सा बना रहा है।

इनके अतिरिक्त कांग्रेस विरोधी या सत्ता तंक पहुंचने की इच्छा रखने वाले अनेक क्षेत्रीय दल थे जो राजग से जुडे जैसे, जम्मू कश्मीर में नेशनल कान्फ्रेन्स हरियाणा में इण्डियन नेशनल लोकदल, उत्तर प्रदेश में लोकतांत्रिक कांग्रेस तथा तमिलनाडु में एमद्रमुक तथा मणिपुर स्टेट कांग्रेस पी.एम.के. एम.जी.आर. द्रमुक मिजो नेशलनफ्रन्ट सिक्किम डेमोक्रेटिक फ्रन्ट व हिमाचल विकास कांग्रेस आदि।

कांग्रेस एवं उनके सहयोगी

कांग्रेस यद्यपि अभी मानसिक रूप से गठबन्धन के लिए पूर्णतया तैयार नहीं थी फिर भी उसने उन स्थानों पर क्षेत्रीय शक्तियों के साथ गठजोड करने का प्रयास किया जिनके साथ आने पर उसे कुद न कुछ लाभ मिलने की आशा थी। इस श्रृंखला में जो राजनीतिक दल उसके साथ आये वे निम्न थे–

1. अन्नाद्रमुक

1998 के चुनाव में जयललिता के नेतृत्व वाली अन्नाद्रमुक तमिलनाडु में भाजपा का सहयोग दल था। इसके समर्थन वापस ले लेने के कारण ही अप्रैल 1999 में भाजपा गठबंधन सरकार गिरी। तमिलनाडु में अन्नाद्रमुक के स्थान की भरपाई के लिऐ 1999 के चुनाव में भाजपा ने द्रमुक से हाथ मिला लिया जो कांग्रेस और अन्नाद्रमुक दोनों का घोर विरोधी था। ऐसे में कांग्रेस और अन्नाद्रमुक के बीच निकटता स्वाभाविक थी।

2. राष्ट्रीय जनता दल

राष्ट्रीय जनता दल जनता दल से अलग हुआ बिहारी, संस्करण था। राज्य में राजद को कांग्रेस से कोई खास खतरा नहीं था। अगर चुनौती थी तो भाजपा–समता गठबंधन से, इसलिए यहां कांग्रेस को राजद का सहारा था और राजद भी मतों का विभाजन रोकन के उद्‌देश्य से कांग्रेस के साथ आने को तत्पर था।

3. राष्ट्रीय लोकदल

चौधरी चरण सिंह की विरासत का दावा करने वाले उनके वंशानुगत वारिस चौधरी अजीत सिंह के राजनीतिक व्यवहार में स्थायित्व का अभाव रहा है। 1998 के चुनाव में वे कांग्रेस में थे किन्तु बाद में राजग मंत्रिमण्डल में शामिल हुए और उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनावों से पूर्व फिर राजग से अलग हो गये।

इन दलों के अतिरिक्त कांग्रेस का केरल में मुस्लिम लीग और केरल कांग्रेस (एस) के साथ पहले से राज्य स्तर पर गठबंधन मौजूद था।

तीसरा मोर्चा

तीसरे मोर्चे में प्रमुख रूप से वे राजनीतिक दल थे/हैं जो एक साथ गैर–कांग्रेसवाद व गैर भाजपावाद के झण्डाबरदार है। इनका मूल उद्‌देश्य उक्त दोनों ही ध्रुवों से अलग जनता के समक्ष एक तीसरा सशक्त विकल्प रखना। ध्यान रहे इस मोर्चे में प्रमुख रूप से अपने–अपने सूबे में प्रभावशाली पकड़ रखने वाले क्षेत्रीय दलों का ढीला–ढीला समन्वय था। कोई सशक्त राष्ट्रीय पहचान रखने वाला दल नहीं था। इस

मोर्चे के केन्द्र में रहने वाला जनता दल कई कुनबो में बिखर चुका था और वह भी अलग–अलग नामों से क्षेत्रीयता के भंवर में विलीन हो चुका था। इस तीसरे मोर्चे में दो धारायें थी–

1. वामपंथी मोर्चा
2. राष्ट्रीय मोर्चा (क्षेत्रीय दलों का मोर्चा)

1996 में एक विशेष परिस्थिति पैदा हुई थी। तब कांग्रेस जनता का भरोसा खोकर सत्ता से बाहर हुई थी। कांग्रेस के प्रति जो जन असंतोष था उसका फायदा बहुत से राज्यों में उन दलों को मिला था जो बाद में वामो–रामों के संयुक्त संस्करण संयुक्त मोर्चे के घटक बने थे। उस समय पहली बार भाजपा के सत्ता में आने की स्थिति बनी, और तेरह दिन के लिये उसकी सरकार भी रही। इससे धर्मनिरपेक्षता का झण्डा ऊँचा रखने का दावा करने वाले दलों में भारत के भावी राजनीतिक स्वरूप को लेकर चिंता उत्पन्न हुई। इस स्थिति में कांग्रेस पर यह दबाव बना कि सरकार बनाने में वह उन दलों की मद्‌द को आगे आये जो भले ही लुंज–पुंज लेकिन एक सरकार देने की स्थिति में थे ताकि भाजपा को सत्ता से बाहर रखा जा सके। 1996 में इस मोर्चे की सरकार भी बनी। किन्तु बाद की घटनाओं ने यह साबित कर दिया कि व्यक्तिगत महात्वाकाँक्षा और कांग्रेस व संयुक्त मोर्चे के दलों के बीच का बरसों पुराना दुराव धर्म निरपेक्षता की असली चिन्ता से कहीं ज्यादा मजबूत था।[36] इस कारण बाद की घटनाओं ने भाजपा के सत्ता में आने का रास्ता खोल दिया।

1998 में भाजपा के लिए सत्ता का द्वार खुलने के साथ जिस तरह से संयुक्त मोर्चे के घटक दलों में, वामपंथ को छोड़कर, भाजपा की तरफ जाने की ललक पैदा हुई औरवह क्रम 1999 में चुनाव से पूर्व और बाद तक चलता रहा, उसे देखते हुए नहीं कहा जा सकता कि यह मोर्चा 1999 के चुनावों में अपनी सशक्त उपस्थिति दर्ज करा सकेगा। इन घटनाक्रमों से यह तो स्पष्ट हो गया कि धर्मनिरपेक्षता इन दलों की प्राथमिकता सूची में बहुत नीचे है। उनकी प्राथमिकाता सूची में रियल पालिटिक्स ही सबसे ऊपर है।[37] तेलगुदेशम से लेकर द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, राम विलास से लेकर शरद यादव व रामकृष्ण हेगड़े और असम गंण परिषद तक की कहानी इसी बात को साबित करती है। अतः इतना तो स्पष्ट था कि तेरहवी लोक सभा में तीसरा मोर्चा बिखराव की स्थिति में चुनावी मैदान में उतर रहा था। इस मोर्चे के प्रमुख दल निम्न थे–

---

36 सत्येन्द्र रंजन, क्योंकि तीसरे मोर्चे की आज जगह नहीं है, हिन्दुस्तान, 4 मई 2001
37 वही

(क) वामपंथी दल

1. मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी
2. भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी
3. फारवर्ड, ब्लाक
4. केरल कांग्रेस
5. आर.एस.पी.

(ख) अन्य

1. जनता दल (एस)
2. समाजवादी पार्टी
3. समाजवादी जनता पार्टी
4. शिरोमणि अकाली दल (मान)
5. बहुजन समाज पार्टी
6. राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी

इनके अतिरिक्त भावी सरकार के गठन या पतन को प्रभावित कर सकने की क्षमता, रखने वाले निर्दलीय व छोटे–छोटे क्षेत्रीय दलों की भारी–भरकम सेना भी चुनावी मैदान में हाथ आजमाने के लिए तत्पर थे।

चुनाव संचालन

तेरहवीं लोकसभा के लिए चुनाव जून 1999 में प्रारम्भ हो गये और सितम्बर तक चले। यह चुनावी अभियान भारतीय इतिहास का अब तक का सबसे लम्बा चुनावी अभियान था। इस चुनाव अभियान में भाजपा–राजग ने अटल बिहारी बाजपेयी के नेतृत्व में चुनाव अभियान का संचालन किया। अटल बिहारी बाजपेयी प्रधानमंत्री थे और उन्हें ही राजग ने भावी प्रधानमंत्री के रूप में प्रस्तुत किया। राजग ने अपना संयुक्त घोषणा–पत्र जारी किया जिसमें प्रमुख रूप से स्थिर सरकार विधायिकाओं में महिलाओं के लिए एक तिहाई स्थान आरक्षित करने, शिक्षा खर्च बढ़कार सकल घरेलू उत्पाद का 6 प्रतिशत करने, उत्तराखण्ड, झारखण्ड और छत्तीसगढ़ राज्य बनाने, योजना राशि का 60 प्रतिशत कृषि और ग्रामीण विकास पर व्यय करने, राष्ट्रीय बचत को सकल घरेलू उत्पाद के 24 प्रतिशत से बढ़ाकर 30 प्रतिशत करना, घरेलू उद्योगों और नई सूचना प्रौद्योगिक नीति के

प्रोत्साहन आदि बातों को महत्व दिया गया।[38] ध्यान रहे यहां भाजपा के अपने एजेन्डे के विवादास्पद मुद्दों को किनारे कर सहयोगियों में विश्वास उत्पन्न करने का प्रयास किया था। राजग के चुनाव संचालन की बागडोर अटल के हाथ में थी और विभिन्न दलों के क्षत्रप इसे अपनी उपस्थिति से पर्याप्त दृढ़ता प्रदान कर रहे थे। पूरे चुनाव पर बाजपेयी के करिश्माई नेतृत्व की छाया स्पष्ट रूप से देखी गई।[39] इस चुनाव में राजग ने मुख्य रूप से स्थिर सरकार सक्षम प्रधानमंत्री राष्ट्रीय सुरक्षा और बिना कारण सरकार गिराने के मुद्दे को बखूबी उठाया। साथ ही कारगिल विजय से उपजी लहर का लाभ लेने का भी भरपूर प्रयास किया। साथ ही राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन में अब ऐसे क्षेत्रीय दल भी आ गये थे जो सामाजिक न्याय के अग्रणी दल थे। इससे राजग का प्रभाव विस्तार लगभग सर्वव्यापी हो गया और भाजपा पर साम्प्रदायिक दल होने का लेबल एक प्रकार से प्रभावहीन हो गया था।[40]

कांग्रेस की ओर से प्रचार और चुनाव संचालन का नेतृत्व कांग्रेस अध्यक्ष श्रीमती सोनिया गाँधी के हाथ था। विश्लेषकों का कहना था कि सेनिया गाँधी के लिखित भाषण प्रदेश कांग्रेस कमेटी, स्थानीय कांग्रेस जन और प्रत्याशी द्वारा उपलब्ध करायी गई सामग्री पर आधारित होते थे।[41] यही कारण रहा कि जहां भी वह गई, वहीं की समस्या पर बोली जब उन्होंने आदिवासी क्षेत्रों का दौरा किया तब आदिवासी समस्याओं पर चर्चा की जब शहरी क्षेत्रों में गईं तो शहरी क्षेत्री की समस्याओं का उल्लेख किया। इंदिरा गाँधी और राजीव गाँधी से सम्बन्धित भावात्मक उल्लेख भी किये। कांग्रेस के घोषणा पत्र में मुद्रास्फीत कम करने के लिए कैबिनेट समिति के गठन का सुझाव, वर्ष 2003 तक आयात लाइसेन्स का खात्मा, छोटे किसानों को मिलने वाले कर्ज को दोगुना करना, दूरसंचार में विदेशी निवेश की सीमा पर पुनर्विचार, प्रतिरक्षा सुधारों के लिए समिति का गठन, श्रम कानूनों का पुनरीक्षण नई कपड़ा नीति आदि की बात कहीं गई।[42] चुनाव प्रचार में किसी–किसी स्थान पर सोनिया पुत्री प्रियंका ने भी हिस्सा लिया। इनके अतिरिक्त कांग्रेस के विभिन्न प्रभावशाली नेताओं ने चुनाव प्रचार का संचालन किया।

संयुक्त मोर्चे का विघटन 1998 के चुनावों के बद ही हो गया था। वामपंथी दलों का चुनाव अभियान अधिकतम पश्चिम बंगाल, त्रिपुरा और केरल तक सीमित रहा। जनता

---

38 राजग, घोषणा पत्र
39 राष्ट्रीय सहारा, दिल्ली 13 जुलाई 1999
40 नवभारत टाइम्स, दिल्ली, 27 जुलाई 1999
41 राष्ट्रीय सहारा, दिल्ली, 21 जुलाई, 1999
42 कांग्रेस घोषणा पत्र, 1999

दल दो भागों–जनतादल यूनाइटेड और जनता दल सेक्युलर में विभक्त हो गया था। जनतादल यूनाइटेड राजग का हिस्सा बन चुका था। कांग्रेस से अलग हुए शरद पवार की राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी का प्रभाव महाराष्ट्र तक सीमित था। जनता दल सेक्युलर कर्नाटक में सिमट गया। इस प्रकार क्षेत्रीय क्षत्रपों का प्रभाव का प्रचार मुख्यतः उनके क्षेत्र विशेष तक ही सीमित रहा। मूलतः इन राजनीतिक दलों द्वारा स्पष्ट राष्ट्रीय मुद्दे कम ही उठाये गये और यदि उठाये गये तो वे जनता में अपना स्पष्ट सन्देश नहीं दे पाये। इन दलों में उस समन्वय और वैचारिक तालमेल का अभाव था जिसके दम पर वे तीसरा विकल्प खड़ा कर सकते। अतः मुख्य चुनावी मुकाबला राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन और कांग्रेस और उसके सहयोगियों के बीच ही रहा।

चुनाव परिणाम

इस चुनाव में कुल 4648 प्रत्याशियों ने जोर आजमाइश की जिसमें भाजपा के 339, बसपा के 225, भारतीय साम्यवादी दल के 54, मार्क्सवादी साम्यवादी दल के 72, कांग्रेस के 483, जनता दल (एस) के 96, राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी के 132, जनता दल (यू) के 60 प्रत्यासी थे। इनके अतिरिक्त पंजीकृत अन्य क्षेत्रीय दलों के 645 प्रत्याशी और 1945 निर्दलीय थे। इस चुनाव में भाजपा ने उन क्षेत्रों में भी अपनी उपस्थिति दर्ज की जहाँ इसकी पैंठ लगभग असंभव मानी जाती थी, वहीं कांग्रेस इस चुनाव में अपने न्यूनतम अंक तक पहुंच गयी। तेरहवीं लोकसभा में विभिन्न दलों और गठबन्धनों की स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है।

तालिका 5.3

दलीय स्थिति[43]

कुल सीटें	543
घोषित परिणाम	543
राजग	305
कॉग्रेस गठबन्धन	136
बामो	43
अन्य	59

43 राज्यवार दलों की स्थिति हेतु देखें परिशिष्ट दो तालिका–6 (स्रोत–चुनाव आयोग, नइ दिल्ली।

राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन

भाजपा	182
तेलगूदेशम	29
बीजद	10
शि.अ.द	02
द्रमुक	12
इ.ने.लो.द.	05
जनतादल (यू)	21
एम.द्रमुक	04
मणिपुर स्टेट कांग्रेस	01
नेशलन कान्फ्रेन्स	04
लोकतांत्रिक कांग्रेस	02
पी.एम.के.	05
एम.जी.आर. द्रमुक	01
मिजो नेशलन फ्रन्ट	01
शिवसेना	15
सिक्किम डेमोक्रेटिव फ्रन्ट	01
तृणमूल कांग्रेस	08
हिमांचल विकास कांग्रेस	01
निर्दलीय (मेनका गॉधी)	01
योग	305

कांग्रेस व उसके सहयोगी

कांग्रेस	114
अन्नाद्रमुक	10
राजद	07
रालोद (अजीत सिंह)	02

मुस्लिम लीग केरल	02
केरल कांग्रेस (एस)	01
योग	**136**

वाम मोर्चा

मार्क्सवादी साम्यवादी दल	33
भारतीय साम्यवादी दल	04
आर.एस.पी.	03
फारवर्ड ब्लाक	02
केरल कांग्रेस	01
योग	**43**

अन्य

समाजवादी पार्टी	26
बहुजन समाज पार्टी	14
सजपा	01
जनता दल (एस)	01
शिअद (मान)	01
मजलिसे इत्तेहादुल	01
निर्दलीय तथा अन्य	15
योग	**59**

तेरहवीं लोकसभा चुनाव के परिणाम किसी एक दल के पक्ष में नहीं थे। यदि एक दल के आधार पर देखा जाय तो तेरहवीं लोकसभा भी त्रिशंकु लोकसभा थी। किन्तु यदि गठबन्धन के आधार पर देखा जाये तो एक गठबन्धन विशेष को स्पष्ट जनादेश प्राप्त था। यह गठबन्धन चुनाव पूर्व गठबंधन था जो सुविचारित और व्यापक तैयारियों के साथ बना था। इसने न केवल सामान्य साझा कार्यक्रम तैयार कर लिया था बल्कि एक सामान्य

धोषणा पत्र के आधार पर चुनाव लड़ा था। ऐसे में सरकार राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की ही बननी तय थी।

मंत्रिमण्डल का गठन

सिद्धान्त विहीन गठबन्धन में गठजोड़ स्वार्थों पर आधारित होता है, इसलिए ऐसे गठबंधन के लिए सरकार बनाना और मंत्रियों का चयन सहज नहीं होता। 1998 का उदाहरण सामने था और 1999 की स्थिति बहुत अलग नहीं थी। बाजपेयी के लिए 1999 का जनादेश स्पष्ट रूप से गठबंधन की राजनीति के पक्ष में था इसलिए वे स्थिर भविष्य को ध्यान में रखकर अपनी टीम बनाने में जुट गये। चुनाव जीतने के लिए गणित बिठाने का फार्मूला चूँकि कारगर रहा इएलिए मंत्रिमंडल के गठन में भी बाजपेयी ने यही तरकीब आजमाई। आपसी सहमति बनी कि सहयोगी दलों को छः सांसदों पर कैविनेट का एक स्थान मिलगा। संख्या कुछ ज्यादा होने पर एक राज्यमंत्री पद देने का फैसला किया गया।[44] इस प्रकार 15 सांसदों वाली शिवसेना को कैबिनेट में दो स्थान और एक राज्यमंत्री का पद मिला। 10 सांसदों वाले बीजद और आठ सांसदों वाले तृणमूल कांग्रेस को कैबिनेट में एक-एक स्थान देने के अलावा एक-एक राज्यमंत्री पद दिया गया। छः की संख्या न छू पाने वाली पी.एम.के. और एम.डी.एम.के. को स्वतंत्र प्रभार का राज्यमंत्री पद किया गया। महत्व समझकर एम.डी.एम. के को कैबिनेट में जगह देने की पेशकर की गई किन्तु शर्त यह थी कि उसके करिश्माई नेता बाइको सरकार में शामिल हो लेकिन उनके द्वारा यह शर्त ठुकरा दिये जाने पर गणित का सहारा लिया गया।

मंत्रियों के चयन के सन्दर्भ में सबसे बड़ी समस्या जनता दल (यू) की थी। उनके 20 सांसद थे। 17 बिहार से और 3 कर्नाटक से। इन्हें सहमति की गणित के आधार पर अधिक से अधिक तीन कैबिनेट और दो राज्यमंत्री के पद मिल सकते थे किन्तु इस पार्टी में कद्दावर नेताओं की भरमार थी और सभी मंत्री पद के आकाँक्षी थे। इसके लिए इस दल से मंत्रियों के चयन का जिम्मा जार्ज फर्नान्डीस को सौंपा गया। कर्नाटक के रामकृष्ण हेगड़े से किनारा कर लिया गया। वैसे भी इस परिणाम की उम्मीद थी क्योंकि चुनाव परिणाम आने के पूर्व से ही उन्होंने भाजपा के विरूद्ध बोलना प्रारम्भ कर दिया था। फर्नान्डीस ने स्वयं को मंत्रिमण्डल की होड से बाहर रखते हुए नीतिश कुमार, शरद यादव व रामविलास पासवान के नामों का समर्थन कर दिया। किन्तु समन्वय समिति के संयोजक और सहयोगी दलों के बीच सेतु का काम करने वाले फर्नान्डीज को बाजपेयी

---

44 इण्डिया टुडे, 27 अक्टूबर 1999, पृ0 16

गठबंधन के हित में छोड़ नहीं सकते थे। अतः उन्हें. उनके महत्व को ध्यान में रखते हुए मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित कर लिया गया।

जद (यू) के प्रति बाजपेयी की उदारता उनके लिए समस्या बन गई। अन्य छोटे दलों ने भी और मंत्री पद की मांग शुरू कर दी। महाराष्ट्र की समस्याओं के सन्दर्भ में शिवसेना मंत्रियों ने पहले दिन अपना काम न संभाल कर एकबारगी बाजपेयी को परेशानी में डाल दिया था किन्तु बाद में सब ठीक हो गया।

इस बार बाजपेयी को अपने संघ परिवार से विशेष दिक्कत नहीं हुई। भाजपा के लिए सरकार का गठन दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिये था–एक तो राष्ट्रीय स्तर पर अपनी उपस्थिति का अहसास कराना और दूसरे नेतृत्व की अगली पंक्ति तैयार करना आर.एस.एस. ने न केवल इन उद्देश्यों का अनुमोदन किया बिल्क उन्हें आगे भी बढ़ाया। उसके बड़े नेता के.एस. सुदर्शन और ए.वी. शेषादि शपथ ग्रहण समारोह के दौरान राष्ट्रपति भवन में मौजूद थे। शीर्ष पदों पर चयन के लिए बाजपेयी को पूरी स्वतंत्रता दी गई, लेकिन गौण स्तर की नियुक्तियों में आर.एस.एस. का दखल पहले जैसा रहा।[45] पार्टी के भीतर कुछ सांसद मंत्री न बन पाने के कारण अवश्य नाराज रहे। महिला मोर्चा कैबिनेट में किसी मंत्री के न होने से असन्तुष्ट थी। दिल्ली और गोवा को फिलहाल मन्त्रिमण्डल में स्थान नहीं दियाा गया था। किन्तु यह उम्मीद थी कि अगले मन्त्रिमंडल विस्तार में इन असन्तोषों को दबा दिया जायेगा। फिलहाल प्रारम्भिक चरण में विभिन्न दलों से बने मंत्रियों की स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है–

तालिका 5.4

दल	सांसदों की संख्या	कैबिनेट मंत्री	राज्य मंत्री	कुल मंत्री
नेशलन कान्फ्रेन्स	04	–	01	01
एम.डी.एम.के.	04	–	02	02
पी.एम.के.	05	–	02	02
तृणमूल कांग्रेस	08	01	01	02
बीजद	10	01	01	02
द्रमुक	12	02	01	03
शिवसेना	15	02	01	03

45 वहीं, पृ. 20

जद (यू)	20	04	02	06
भाजपा	182	15	31	46

इनके अतिरिक्त 29 सदस्यों वाले तेपेदा, 5 सदस्यों वाले इनेलोद व 2 सदस्यों वाला शिअद मंत्रिमण्डल में शामिल नहीं था।

मंत्रिपरिषद गठन के 40 दिन के अन्दर ही मंत्रिपरिषद का पहला विस्तार किया गया जिसमें तीन कैबिनेट मंत्री और एक राज्यमंत्री को शामिल किया गया। इससे बाजपेयी मंत्रिपरिषद के सदस्यों की कुल संख्या 73 तक पहुंच गई जो अब तक कि सबसे बड़ी संख्या थी। इसके बाद भी समय–समय पर मंत्रिपरिषद विस्तार व छंटनी का दौर पूरे कार्यकाल में चलता रहा। यह सब गठबन्धन की राजनीति की विवशतायें थीं असन्तुष्ट को सन्तुष्ट करना अति अनुशासनहीन के सबक सिखाना ये सब ऐसी जरूरतें थीं जिनके चलते मंत्रिपरिषद में फेर बदल होता रहा।

बाजपेयी जी ने इस बार स्थायित्व को ध्यान में रखते हुए काफी विचार विमर्श व सोच समझ कर सहयोगी मंत्रियों का चयन किया था। पूर्ण बहुमत से अधिक संख्या होने के कारण कई दलों को मंत्रिपरिषद में प्रतिनिधित्व नहीं भी दिया गया था। बाजपेयी सरकार की पिछली और इस मंत्रिपरिषद में साफतौर पर अन्तर देखा जा सकता है–

1. पिछली सरकार 18 दलों की थी। इस बार इसका आधार और भी व्यापक होकर यह संख्या 24 तक पहुंच गई।
2. पिछली बार चुनाव पूर्व गठबंधन होने के बाबजूद अन्नाद्रमुक से समर्थन पत्र लेने में काफी मशक्कत करनी पड़ी थी किन्तु इस बार इस प्रकार की परेशानी नहीं आयी।
3. पिछली बार भाजपा का गठबन्धन अल्पमत में था। तेलुगु देशम के समर्थन देने पर इसे बहुमत प्राप्त हुआ था। किन्तु इस बार इसे पूर्ण बहुमत से भी कहीं अधिक सीटें मिली थी इसलिए सरकार के स्थायित्व की संभावना अधिक थी।
4. पिछली बार मंत्रियों के चयन में बाहर और भाजपा के अन्दर भी खींचतान थी। इस बार ऐसी स्थितियाँ उभरकर सामने नहीं आयी।
5. तृणमूल कांग्रेस ने 1998 में सरकार को बाहर से समर्थन दिया था किन्तु इस बार वह सरकार में शामिल हुई थी।
6. इस बार सरकार गठन में आर.एस.एस. का हस्तक्षेप नहीं के बराबर रहा। इसने मार्गदर्शक की भूमिका अवश्य निभायी।

सामान्य रूप से सरकार गठन के सन्दर्भ में सहयोगियों में असन्तोष नहीं था। छोटी–मोटी शिकायतें थी जिन्हें मिल–बैठ कर सुलझाया जा सकता था। जैसे जद (यू)। प्रवक्ता मोहन प्रकाश ने पहले मन्त्रि परिषद विस्तार के बाद कहा, "जिस तरह मंत्रिपरिषद के इस विस्तार को अंजाम दिया गया, उससे हमारे सामने भाजपा की चालों पर कड़ी नजर रखने के सिवा कोई चारा नहीं है। वह बड़े भाई की तरह वर्ताव कर रही है।"[46]

वास्तव में वे यह आशंका व्यक्त कर रहे थे कि भाजपा ने अपने नेताओं को राजग के सहयोगी दलों के कैबिनेट मंत्रियों के साथ बतौर राज्य मंत्री बिठा दिया है। जिससे लगता है कि वे वरिष्ठ मंत्रियों पर न केवल अपनी नजर रखना चाहते हैं बल्कि मंत्रालयों पर अपनी पकड़ भी बनाये रखना चाहते हैं। किन्तु भाजपा नेता इसे महज एक संयोग मानते थे।[47] किन्तु ये सब प्रारम्भिक आशंकायें मात्र साबित हुई क्योंकि बाद में इस प्रकार की कोई भी शिकायत सामने नहीं आयी। प्रारम्भ में सहयोगियों में इस बात को लेकर भी रोष था कि भाजपा ने महत्वपूर्ण मंत्रालय जैसे, गृह, वित्त, विदेश शहरी मामले, मानव संसाधन, ऊर्जा, सूचना प्रौधोगिकी और पर्यटन आदि अपने पास रख लिये हैं किन्तु बाद में यह शिकायत भी दबी ही रही। गठबंधन और सरकार चलती रही।

गठबंधन की कठिनाइयाँ

आमतौर पर यदि कोई गठबंधन सिद्धान्तों और विचारों की एकता के आधार पर बनता है तो उसके कार्य व्यवहार में प्रायः कठिनाइयाँ कम होती है। किन्तु जहाँ वैचारिक–सैद्धान्तिक एकता न हो, अलग–अलग हितों को लेकर थोपे गये कार्यक्रमों की एकता के आधार पर विविध का एक समुच्चय बनाने का प्रयास किया गया हो तो कठिनाइयाँ बढ़ जाती है। 1998–99 के शासन के दौरान भाजपा नीत गठबंधन को इस तरह की समस्याओं से दो चार होना पड़ा था। सहयोगियों की आकाँक्षाओं, महात्वाकांक्षाओं और स्वेच्छाचारी निर्णयों को संतुलित नियंत्रित कर सरकार का संचालन कठिन होता है। किन्तु 1999 में हुए चुनावों में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन को सुविधाजनक बहुमत मिला था फिर भी गठबंधन आखिर गठबंधन हीं होता है। अलग–अलग हितों में सामन्जस्य स्थपित करने की समस्या अब भी बरकरार थी जो समय–समय पर उभर कर सामने आती रहीं।

---

46 इण्डिया टुड, 8 दिसम्बर 99 पृ0 12
47 वही

भारतीय राजनीति में दो नेता ऐसे हैं जिसके राजनीतिक व्यवहार में स्थिरता और निश्चिता नहीं है। दोनों की नजर दो अलग–अलग वर्गो के वोट बैंकों पर है और स्वयं के राजनीतिक अस्तित्व के उद्देश्य से पाला बदलते रहते हैं। इनमें से एक हैं रामविलास पासवान जिनकी नजर दलितों की मसीहाई पर है। ये वी0पी0 सिंह, देवगौड़ा व गुजराल सरकार में मंत्री रहे। भाजपा की साम्प्रदायिकता के आधार पर कटु आलोचना करते रहे। बिहार में लालू का वर्चस्व मंजूर नहीं, इसलिये 1999 के चुनावों से पूर्व जनतादल का विभाजन कर समता पार्टी से हाथ मिलाते हुए जनता दल (यू) बनाया और राजग का हिस्सा बने। राजग सरकार में रेल मंत्री बने। किन्तु रेल मंत्री के रूप में इनकी नित नई घोषणाओं से सरकार हमेशा त्रस्त रही, परिणामस्वरूप इन्हें संचार मंत्रालय दिया गया। यहां भी इन्होंने स्वेच्छाचारी तौर–तरीकों को अपनाया। परिणामस्वरूप राजग नेतृत्व और पासवान में कभी भी सौहार्दपूर्ण वातावरण न बन पाया जिसके चलते राजग से अलग होने वाले पहले व्यक्ति बने रामविलास पासवान।

इस श्रेणी के दूसरे नेता हैं चौधरी अजीत सिंह। इनका जनाधार पश्चिम उत्तर प्रदेश के जाट बहुल इलाके हैं। चौ0 चरण सिंह के वारिस अपने इस वोट बैंक पर कब्जा बनाये रखने की गरज से किसी एक केन्द्र पर स्थिर नहीं रहते। राजग सरकार में ये कृषि मंत्री के रूप में शामिल हुए थे किन्तु सरकार में रहते हुए भी वे उसकी खुली आलोचना करने से नहीं चूकते थे। यह एक प्रकार की अनुशासन हीनता व राजनीतिक महात्वकाँक्षा का परिचायक था। अन्ततः मई 2003 में वे केन्द्रीय मंत्रिमंण्डल से इस आरोप के साथ अलग हो गये कि सरकार किसानों के हितों की अनदेखी कर रहीं, जबकि वे स्वयं कृषि मंत्री थे।[48] क्या कृषि मंत्री के रूप में किसानों के हितों के लिये उनकी कोई जिम्मेदारी नहीं बनती थी?

शिवसेना और भाजपा स्वयं को स्वाभाविक सहयोगी मानते हैं। 1996 में पहली बार केन्द्र में 13 दिन के लिये भाजपा की सरकार बनी थी तो उसकी एकमात्र सहयोगी शिवसेना ही थी। महाराष्ट्र में लम्बे समय से दोनो का सफल गठबंधन रहा है। महाराष्ट्र में शिवसेना भाजपा गठबंधन सरकार ने सफलतापूर्वक अपना कार्यकाल पूरा किया। किन्तु राजग को विशेष रूप से भाजपा नेतृत्व को शिवसेना ने भी संकट में डालने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी। प्रथम तो शिवसेना के राज्यसभा सदस्य संजय निरूपम ने यू0टी0आई0 घोटाले में प्रधानमंत्री कार्यालय के महत्वपूर्ण लोगों, जो सीधे प्रधानमंत्री से जुंड़े हुए थे

---

48 दैनिक जागरण 26 मई 2003

अथवा उनके नजदीकी थे, के शामिल होने का आरोप लगाया।[49] दूसरे शिवसेना प्रमुख बाल ठाकरे ने शिवसेना के प्रमुख पत्र "सामना" में दिये एक साक्षात्कार में यह आरोप लगाया कि बाजपेयी ने मुसलमानों के तुष्टीकरण के सम्बन्ध में बंगारू लक्ष्मण ही नहीं, यहां तक कि कांग्रेस, वी0पी0 सिंह और मुलायम सिंह यादव को भी पीछे छोड़ दिया है।[50] भाजपा सांसदों की राम विलास पासवान के विरूद्ध इस शिकायत से कि पासवान भाजपा सांसदों की मांगों की उपेक्षा कर रहे हैं, पहले से ही क्षुब्ध प्रधानमंत्री ने इन आरोपों से दुखी होकर त्याग पत्र की पेशकर कर दी। उन्होंने कहा, "मैं अनुभव करता हूँ कि मैं राजग में अनुशासन बनाये रखने में असफल रहा हूँ। मैं वृद्ध हो चुका हूँ। लोग भी कहते हैं कि मैं स्वस्थ्य नहीं हूँ, इसलिये मुझे अवकाश ग्रहण कर लेना चाहिये। किन्तु लोगों के यह कहने से पूर्व कि मुझे अवकाश ग्रहण कर लेना चाहिये मैंने स्वयं निर्णय ले लिया है कि मैं पद त्याग दूँगा।[51]

शिवसेना के इस प्रकार के रूख के सम्बन्ध में भाजपा नेताओं का यह मानना था कि अगस्त 2001 के प्रारम्भ में शिवसेना द्वारा महाराष्ट्र कांग्रेस–राकांपा गठबंधन सरकार को गिराकर भाजपा–शिसेना सरकार के सत्तारूढ़ कराने के प्रयासों को भाजपा का अपेक्षित समर्थन न मिल पाने के कारण ही शिवसेना ने इस प्रकार का आक्रामक कदम उठाया।[52] किन्तु इस सम्बन्ध में राजग घटकों ने दृढ़ता पूर्वक बाजपेयी के नेतृत्व का समर्थन किया। साथ ही इस तरह की स्थिति फिर न उत्पन्न हो इसके लिये गठबंधन के सदस्य दलों के लिये एक आचार संहिता के निर्माण के लिये जार्ज फर्नान्डीस, मुरासोली मारन, सिकन्दर बख्त व अर्जुन चरन सेठी को नामित किया गया।[53] बाद में बाल ठाकरे ने यह कह कर कि "राष्ट्र आपके नेतृत्व की अपेक्षा करता है....किसी भी परिस्थिति में आप त्याग पत्र न दे, " इस नाटक का पराक्षेप किया।[54]

इस सम्बन्ध में एक अन्य प्रकरण शिवसेना की हठधर्मिता को उजागर करता है। शिवसेना कोटे से ऊर्जा मंत्री सुरेश प्रभु से दल के संगठन के लिए कार्य करने के नाम पर शिव सेना प्रमुख ने मंत्रिमण्डल से त्याग पत्र देने को कहा। ऐसा महज दिखावा था। वास्तव में सुरेश प्रभु को बाल ठाकरे की नाराजगी के कारण हटना पड़ा। यह घंटना एक

---

49 फ्रन्टलाइन, अगस्त 31, 2001 पृ. 14
50 वही पृ0 17
51 वही (उद्धत) पृ0 14
52 वहीं पृ0 17
53 वहीं पृ0 14
54 वहीं पृ 17

तरह से किसी बाहरी व्यक्ति द्वारा प्रधानमंत्री के कार्य क्षेत्र में हस्तक्षेप था जो कि कहीं से भी उचित नहीं था।

प्रधानमंत्री बाजपेयी व उनकी सरकार के लिये 1998–99 के दौरान यदि सर्वाधिक परेशानी का कारण अन्नाद्रमुक प्रमुख जयललिता रहीं तो 1999 के बाद संकट का स्त्रोत तृणमूल कांग्रेस की अध्यक्षा ममता रहीं। 1998–99 में तृणमूल कांग्रेस ने बाजपेयी के नेतृत्व वाली सरकार को बाहर से समर्थन दिया था किन्तु 1999 में मनचाहा विभाग रेल मंत्रालय मिलने पर वे सरकार में शामिल हुई थी। ममता बनर्जी राजग की सर्वाधिक अस्थिर सहयोगी रहीं क्योंकि विविध मुद्‌दों पर अन्य सहयोगी अपनी नाराजगी तो व्यक्त करते थे किन्तु गठबंधन छोड़ने की स्थिति नहीं आती थी। उन्होंने बीच में या सरकार के अन्तिम समय में गठबंधन छोड़ा भी तो वे वापस लौटकर नहीं आये। किन्तु ममता बनर्जी ने दो बार गठबंधन छोड़ा और दो बार वापस भी लौटी।

पहली बार प0 बंगाल विधान सभा चुनावों से मात्र पांच सप्ताह पूर्व उन्होंने राज्य में अपने दल के निहित स्वार्थों को ध्यान में रखते हुए अपने दो लगातार लोकसभा चुनावों के सहयोगी भाजपा का साथ छोड़ दिया और कांग्रेस से हाथ मिला लिया, जिस पर कभी वे सत्तारूढ़ वाममोर्चे की "बी" टीम का ठप्पा लगा चुकी थी।[55] किन्तु जब विधान सभा चुनावों में अपेक्षाकृत सफलता नहीं मिली और उनकी पार्टी को मात्र 60 सीटें मिली तो उन्होंने पुनः "सम्मानजनक शर्तों" पर राजग में लौटने की पहल प्रारम्भ कर दी। वे स्वयं तो राजग में शामिल होना चाहिती थी किन्तु बदले में अपने ही दल के पूर्व सहयोगी अजीत पांजा को, जिन्होंने पं0 बंगाल चुनावों से पूर्व भाजपा को धोखा देने और कांग्रेस से हाथ मिलाने के मुद्‌दे पर उनका साथ छोड़ दिया था, मंत्रिमण्डल में नहीं शामिल किया होने देना चाहती थी। उनकी प्रथम इच्छा का सम्मान किया जाना संभव था किन्तु दूसरी माँग का पूरा होना संदेहास्पद था। इस प्रकार ममता बनर्जी की दोबारा राजग में वापसी हुई।

इसी प्रकार दूसरी बार अगस्त 2002 में पुनः तृणमूल ने राजग से नाता तोड़ लिया। इस बार मुद्‌दा पूर्वी रेलवे जोन के विभाजन का था। रेल मंत्री नीतिश कुमार पूर्वी रेल जोन को विभाजित कर हाजीपुर में एक नया रेल जोन मुख्यालय बनाने की योजना बना रहे थे। ममता बनर्जी इस योजना की विरोधी थी क्योंकि वे इसे पं0 बंगाल के हितों के विरूद्ध मानती थीं। अतः 12 अगस्त 2002 को उन्होंन राजग से अलग होने की

---

55 इण्डिया टुडे, 27 जून 2001 पृ0 12

घोषणा कर दी किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट किया कि वे पूर्वी रेलवे के विभाजन का मुद्दा हल होने तक गठबंन्धन से बाहर रहेंगी।[56] पार्टी कार्यकारिणी की बैठक में यह निर्णय लिया गया। इस सम्बंध में अपने भावानाओं को व्यक्त करते हुए कहा कि वे राजग छोड़ने के निर्णय से दुखी हैं और चाहती हैं कि प्रधानमंत्री बाजपेयी स्वयं इस मामले में हस्तक्षेप करें। सुश्री बनर्जी का कहना था कि साझा सरकार में हर छोटी बड़ी पार्टी का समान महत्व होता है। दिल्ली में अगर उनकी पार्टी छोटी है तो बंगाल में वह बड़ी पार्टी है अतः उसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये।[57] किन्तु पूर्वी रेल जोन का विभाजन नहीं रूका और बाद में ममता पुनः राजग में शामिल हुई। इस बार उन्हें मंत्री पद के लिये लम्बा इन्तजार करना पड़ा।

वास्तव में यदि किसी गठबंधन के पास सुविधाजनक पर्याप्त बहुमत हो तो वह गठबंधन के छोटे–मोटे अंधड़ और असन्तोष झेलने में सक्षम होता है। 1998 में बनी सरकार के साथ यह स्थिति नहीं थी। यही कारण है कि बहुमत बनाये रखने के लिये जयललिता की काफी विनती करनी पड़ी। यही नहीं जयललिता के हटते ही एक झटके में राजग का सिंहासन भी उलट गया। किन्तु तेरहवी लोक सभा में स्थिति भिन्न थी। यही कारण है कि इस बार ममता बनर्जी जैसे स्वेच्छाचारी निर्णयकारों को एक सीमा से अधिक महत्व नहीं दिया गया। उनका दल राजग से बाहर–अन्दर होता रहा किन्तु गठबंधन की सेहत पर कोई असर नहीं पड़ा। यदि यही बहुमत सीमान्त होता और तृणमूल के 7 सदस्यों के हटने से सरकार को खतरा होता तो शायद ममता बनर्जी मनोनुकूल सौदेबाजी कर सरकार में बनी रहती या उनके बाहर होते ही सरकार का पतन हो जाता।

राजग के केन्द्र में स्थित नेतृत्व वाहक दल भाजपा अपने दल व स्वयं से जुड़े संगठनों के कार्य व आचरण से भी मुश्किलों का सामना करता रहा। सत्ता की गंध महात्वाकांक्षाओं को जन्म देती है, महत्वाकांक्षायें मतभेद व असन्तोष को जन्म देती हैं। ऐसा हर सत्तारूढ़ राजनीतिक दल के साथ होता आया है। जहां चमत्कारिक नेतृत्व शीर्ष पर हो और दल में लोकतांत्रिक मूल्यों की अनदेखी हो वहां इस प्रकार के असन्तोष दबे, पॉव आते हैं किन्तु विपरीत स्थितियों में ये मुखर हो संकट के वाहक बन जाते हैं। भाजपा इसका अपवाद नहीं थी। केन्द्र और कई राज्यों में सत्ता सुख भोग रही भाजपा में

---

56 राष्ट्रीय सहारा, 13 अगस्त 2002
57 वहीं

भी यह प्रवृत्ति पनपती रही। उत्तर प्रदेश, गुजरात, छत्तसीगढ़ इसके प्रबल उदाहरण रहे जहाँ दलीय अनुशासन अनेकों बार तार–तार हुआ।

व्यापक जनाधार पाने के लिये भाजपा ने अनेक बार अपने अध्यक्ष बदले। दलित मतों के समीकरण को ध्यान में रखते हुए बंगारू लक्ष्मण अध्यक्ष बनाये गये तो तहलका टेप काण्ड ने उनका कार्यकाल छोटा कर दिया। फिर संघ के पुराने कार्यकर्ता कुशाभाऊ ठाकरे अध्यक्ष बने जिनका कार्यकाल निष्क्रियता के नाम भेंट चढ़ गया। जेना कृष्णमूर्ति हठी और जिद्दी अध्यक्ष साबित हुए तो दल को युवा स्वरूप देने के लियें 51 वर्षीय बैकेय्या नायडू को अध्यक्ष बनाया गया। यही नहीं उन्हें अपेक्षाकृत नयी टीम दी गई जिसमें राजनाथ सिंह, अरूण जेटली, संजय जोशी व अनीता आर्य शामिल थे। इससे दल के बुजुर्ग नेताओं में उपेक्षा का असन्तोष पनपा।[58]

कुल मिलाकर भाजपा की खुद की नवनिर्माण की अवधारणा कारगर नहीं रही और युवा चेहरों को पार्टी की कमान सौंपने के अपेक्षित परिणाम नहीं निकले। या तो नये नेता चुनौतियों पर खरे नहीं उतरे या पुराने नेतृत्व ने उन्हें पार्टी में कोई बदलाव नहीं लाने दिया अथवा इस टीम को अपेक्षित सहयोग नहीं दिया। इससे सबसे ज्यादा क्षति भाजपा को ही उठानी पड़ी।

इतना ही नीं भाजपा से जुड़े विश्व हिन्दू परिषद ने समय–समय पर अयोध्या में राम मन्दिर के मुद्दे पर अड़ियल रूख अपना कर भाजपा और सरकार को संकट में डाला। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ जो भाजपा की मातृ संस्था रहीं है, उसका दबाव भी भाजपा नेतृत्व को परेशान करता रहा है। आर0एस0एस0 ने कई मुद्दों पर केन्द्र सरकार व उसकी नीतियों का विरोध किया जैसे, उदारीकरण की नीति को स्वदेशी विरोधी कहकर ठुकराना, भारतीय मजदूर संघ को सरकार के विरोध के लिये प्रोत्साहित करना आदि। संघ से रिश्ते मधुर बनाये रखने के उद्देश्य से बाजपेयी और अड़वाणी की ऐड़ी चोटी का जोर लगाना पड़ा।

इन तमाम दबावों, समस्याओं और कठिनाइयों के बाबजूद राजग ने अपना कार्यकाल पूरा कर किसी गठबंधन सरकार के स्थायित्व का रिकार्ड कायम किया। संकट और समस्यायें कहाँ नहीं होती किन्तु यदि साझीदारों में परस्पर विश्वास समझदारी व एक कुशल नेतृत्व हो तो इनका समाधान भी संभव है। राजग ने यह कर दिखाया।

राजग सरकार की उपलब्धियाँ

---

58 इण्डिया टुडे, 11 दिसम्बर 2002 पृ0 19

राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के रूप में पहली गैर कांग्रेसी सरकार अथवा पहला गठबंधन उभर कर सामने आया जिसने अपना कार्यकाल पूरा किया इसलिए हम कह सकते हैं कि स्थिरता राजग सरकार की सबसे महती उपलब्धि रहीं है। वास्तव में अस्थायित्व का देश झेल रहे दंश के लिये स्थिर सरकार एक स्वप्न सरीखा होता जा रहा था। 1989 से 1998 तक पांच बार लोक सभा चुनावों से उब चुके लोगों के लिये यह स्थायित्व निश्चय ही एक सुखद अनुभूति लेकर आया। 1998 से 2004 तक के अपने कार्यकाल में राजग सरकार ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये जिनकी अनदेखी नहीं की जा सकती। सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार द्वारा राजग सरकार की उपलब्धियों को प्रसारित प्रचारित करने के उद्देश्य से दो पुस्तिकाओं का प्रकांशन कराया गया–"राजग सरकार के 5 वर्ष" और "राजग सरकार की उपलब्धियाँ"। इन पुस्तिकाओं में सरकार की उपलब्धियों को सूत्र रूप में पिराया गया है। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं को यहाँ उल्लिखित किया जा रहा है।

1. अर्थव्यवस्था

राजग सरकार ने डॉ0 मनमोहन सिंह द्वारा प्रारम्भ किये आर्थिक सुधारों को जारी रखा और इसमें निरन्तर गति बनाये रखी जिसके सकारात्मक परिणाम प्राप्त हुए। इस सम्बन्ध में सफलता के निम्न महत्वपूर्ण बिन्दुओं का उल्लेख किया जा सकता है।[59]

- केन्द्रीय सांख्यिकीय संगठन द्वारा वर्ष 2003–04 के लिये अनुमानित सकल घरेलू उत्पाद वृद्धि दर 8.1 प्रतिशत जो राष्ट्रीय सम्पत्ति में सर्वाधिक वार्षिक वृद्धि है।
- आवश्यक वस्तुओं के मूल्य पर नियंत्रण।
- मुद्रा स्फीति में कमी।
- वर्ष 2002–03 में निर्यात में 20 प्रतिशत की वृद्धि।
- केन्द्रीय और राज्य वित्त में पारदर्शिता लाने के लिये कानून पारित।
- बुनियादी तथा विनिर्माण कोष के लिये 50,000 करोड़ की व्यवस्था जिसे विद्युत उत्पादन, समुद्री पत्तनों, विमान पत्तनों, सड़कों, पर्यटन, दूरसंचार तथा शहरी आधारित संरचना पर खर्च किया जाना है।
- विदेशी मुद्रा भंडार 35.5 विलियन अमेरिकी डॉलर से बढ़कर अब तक सर्वाधिक 104 विलियन अमेरिकी डॉलर तक पहुँचा आदि।

---

59 राजग सरकार की उपलब्धियाँ, सूचना और प्रसारण मंत्रालय द्वारा प्रकाशित, पृ0 3–4

2. आन्तरिक सुरक्षा

राजग सरकार ने देश की आन्तरिक सुरक्षा को सुदृढ़ करने के लिये विभिन्न उपाय किये जिनमें पोटा जैसा कानून विधिनियमित किया जाना, विदेशों में भाग गये अपराधियों को वापस भारत लाने के लिये अनेक देशों से प्रत्यर्पण संधि, पुलिस और अर्द्धसैनिक बलों के आधुनिकीकरण के लिये विशेष प्रयास आदि शामिल हैं। भूटान की सेना के सहयोग से उल्फा तथा अन्य आतंकी अड्डों को नष्ट करने में सफलता मिली। बांगला देश से घुसपैठ की समस्या प्रारम्भ से ही परेशानी का कारण रहीं है। इसे रोकने के लिये 1,334 करोड़ रु0 की लागत से सीमा पर कंटीले तार लगाने का कार्य प्रारम्भ किया गया। 2000 में तीन राज्यों उत्तरांचल, छत्तीसगढ़ और झारखण्ड का गठन कर इन क्षेत्रों में लम्बे समय से चले आ रहे आन्दोलन को समाप्त कर शान्ति बहाल की गई।

3. रक्षा

राजग सरकार के कार्यकाल के दौरान आन्तरिक सुरक्षा के साथ–साथ रक्षा के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय सफलतायें अर्जित की गई। पोखरन परमाणु परीक्षणों से जहां प्रतिरोधक रक्षात्मक क्षमता हासिल कर राष्ट्रीय सुरक्षा सुदृढ़ की गई वहीं कारगिल में "आपरेशन विजय" द्वारा किसी भी दशा में शत्रु को शिकस्त दे कर अपनी एक–एक इंच भूमि की रक्षा का संकल्प व्यक्त किया गया, रक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिये रक्षा बजट में लगातार वृद्धि की गई। राष्ट्रीय सुरक्षा प्रणाली की पहली बार व्यापक समीक्षा करते हुए एकीकृत रक्षा बल की स्थापना की गई। वर्ष 2000 में सामरिक बल कमान के प्रथम कमाण्डर–इन–चीफ की नियुक्ति की गई। भारत रूस के संयुक्त उद्यम सुपर सोनिक क्रूज मिसाइल–ब्रह्मोस का सफल परीक्षण हुआ। इसके अलावा अग्नि–1 व अग्नि–2 को सेना में शामिल किया जा रहा है। रक्षा उपकरणों के उत्पादन के सम्बन्ध में स्वदेशीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया गया।

4. कृषि

कृषि को भारतीय अर्थव्यवस्था का आधार माना जाता रहा है और गाँवों में बसने वाले 75 प्रतिशत लोगों की जीविका आज भी कृषि पर ही निर्भर है। अतः कृषि क्षेत्र में समुचित विकास किये बिना समृद्ध और विकसित भारत की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतः राजग सरकार ने कृषि क्षेत्र में उन्नयन हेतु निम्न प्रयास किये[60]–

---

60 वही, पृ0 12–13

- किसानों के लिये क्रेडिट कार्ड योजना प्रारम्भ की गई जिसके अन्तर्गत 3.5 करोड़ किसानों को किसान क्रेडिट कार्ड जारी किये गये और 83.000 करोड़ रु0 का ऋण वितरित किया गया। यह कार्ड किसानों को वैयक्तिक बीमा पैकेज भी उपलब्ध कराता है। क्रेडिट धारक की मृत्यु की स्थिति में 50,000 रु0 व स्थायी अशक्तता की दशा में 25000 रु0 उपलब्ध कराने का प्रावधान है।
- फसल ऋण पर ब्याज दरें लगभग आधी कर दी गई।
- आजादी के बाद पहली बार भारतीय कृषि के समक्ष आने वाली समस्याओं के व्यापक अध्ययन के लिये एक किसान आयोग का गठन किया गया तथा सन् 2011 तक सामान्य किसानों की आय दो गुना करने की रणनीति बनायी गई।
- दूसरी हरित क्रान्ति के उद्देश्य से 50000 करोड़ रु0 की लागत से जय प्रकाश नारायण कृषिगत ढाँचा और ऋण निधि की स्थापना की गई।
- राष्ट्रीय सहकारिता नीति का प्रारम्भ ताकि ग्रामीण सहकारी समिति को आर्थिक सुधारों का लाभ पहुँचाया जा सके।
- पिछले पाँच वर्षों में 25 कृषि उत्पादों के समर्थन मूल्य में लगातार वृद्धि की गई।
- राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना जिसे 22 राज्यों में चलाया जा रहा है, के तहत 2000 करोड़ रु0 के दावों का भुगतान किया गया।
- 2010 तक उत्पादन दो गुना करने के लिये राष्ट्रीय बागवानी मिशन प्रारम्भ किया गया।
- गन्ना किसानों की कठिनाइयों को कम करने के लिये राज्यों को 678 करोड़ रु0 के सहायता की घोषणा की गई।

5. विदेशनीति

विदेश मामलों में भी राजग सरकार की उपलब्धियाँ उल्लेखनीय रही हैं। सरकार अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी को यह समझाने में सफल रही कि भारत अब एक परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्र बन गया है और उससे किसी दबाव में रखकर बात नहीं की जा सकती। यही कारण है कि पोखरण परमाणु परीक्षण के बाद लगाये गये प्रतिबंधों तथा भारत को कूटनीतिक रूप से अलग–थलग करने के प्रयासों का सफलतापूर्वक मुकाबला किया गया। सभी पड़ोसी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध बनाये रखने का प्रयास किया गया जिसमें पाकिस्तान के साथ शान्ति बहाली और संबंध सुधार महत्वपूर्ण हैं। चीन के साथ सीमा विवाद हल करने के लिये संस्थागत मंत्रणा प्रारम्भ हुई। अमेरिका, रूस, फ्राँस,

ब्रिटेन, इजराइल, जर्मनी, जापान और अन्य देशों के साथ नीतिगत साझेदारियाँ की गई। अधिकांश राज्यों ने सुरक्षा परिषद में भारत की स्थायी सदस्यता का समर्थन किया जो अपने आप में महत्वपूर्ण है। भारत–अफगान संबंधों को बहाल किया गया तथा अफगानिस्तान के पुर्ननिर्माण में सक्रिय भागीदारी की गई।

6. पेयजल एवं सिंचाई

ग्रामीण क्षेत्रों के पेयजल की समस्या के समाधान के लिये राजग सरकार ने "स्वजलधारा" नामक योजना प्रारम्भ की जिसमें 90 प्रतिशत हिस्सा केन्द्रसरकार द्वारा पंचायतों के माध्यम से दी जाती है तथा 10 प्रतिशत अंशदान ग्रामीणों द्वारा दिया जाता है। पंचायतों के माध्यम से जल संभरण के शीघ्र विकास के लिये हरियाली नामक योजना प्रारम्भ की गई। त्वरित ग्रामीण जल आपूर्ति कार्यक्रम के बजट को बढ़ाकर 2.2535 रु0 कर दिया गया जो 1998–99 की तुलना में 40 प्रतिशत अधिक था।

7. ग्रामीण विकास

पूर्व प्रधानमंत्री बाजपेयी की "संकल्पना 2020" की एक महत्वपूर्ण बात थी ग्रामीण क्षेत्रों में शहरी सुविधाओं का प्राविधान करना। भारत की दो तिहाई से अधिक आवादी ग्रामीण क्षेत्रों में रहती है। दूसरा उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्रों में चहुमुखी विकास पर बल देना है। इसे चार महत्वपूर्ण संचार संयोजनों–भौतिक संचार संयोजन, इलेक्टॉनिक संचार सयेजन, ज्ञान संचार संयोजन तथा बाजार संचार संयोजन के माध्यम से प्राप्त किया जाना है। ग्रामीण विकास के उद्देश्य से नई योजनायें जैसे सम्पूर्ण ग्रामीण रोजगार योजना तथा स्वर्णजयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना प्रारम्भ की गई।

8. सूचना प्रौद्योगिकी

आज का युग सूचना प्रौद्योगिकी का युग है। पूरा विश्व इस क्षेत्र में तेजी से नये–नये आयामों और नई ऊँचाइयों को छू रहा है। भारत भी इस मामले में पीछे नहीं रहा। कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर उद्योग भारतीय अर्थव्यवस्था में सबसे तेजी से विकास करने वाले क्षेत्रों में से एक है। इसने 12.7 बिलियन अमेरिकी डॉलर का कारोबार किया तथा 10 बिलियन अमेरिकी डॉलर मूल्य का निर्यात किया। इससे शिक्षित युवा वर्ग के लिये 10 लाख से अधिक नये रोजगार सृजित हुए।[61] पूर्वोत्तर क्षेत्र के राज्यों में तथा जम्मू–कश्मीर में सूचना प्रौद्योगिकी आधारित सामाजिक–आर्थिक विकास को बढ़ावा देने की दृष्टि से सामुदायिक सूचना केन्द्रों की स्थापना की गई।

---

61 वहीं पृ0 22

9. भौतिक संयोजनः राजमार्ग परियोजनायें

राजग सरकार द्वारा 2 जनवरी 1999 से 54,000 करोड़ रु0 की लागत से राष्ट्रीय राजमार्ग विकास परियोजना प्रारम्भ की गई जो स्वतंत्रता के बाद की सर्वाधिक महात्वकाँक्षी आधारिक संरचनागत पहल है। राष्ट्रीय राजमार्ग विकास परियोजना तथा इसकी परियोजनाओं के अन्तर्गत 14,846 कि0मी0 का विश्वस्तरीय राजमार्ग निर्मित किया जा रहा है।[62] इसके अतिरिक्त केन्द्र सरकार प्रत्येक वर्ष राज्य सरकारों को राज्य राजमार्गों तथा सड़कों को और बेहतर बनाने के लिये प्रतिवर्ष 1000 करोड़ रु0 की राशि प्रदान कर रही है। दिल्ली, मुम्बई, कलकत्ता, तथा चेन्नई चारों महानगरों को जोड़ने वाली स्वर्णिम चर्तुभुज सड़क परियोजना प्रगति पर है। इसके पूरा हो जाने पर प्रतिवर्ष 8000 करोड़ रु0 मूल्य के ईंधन के बचत की संभावना है। इन परियोजनाओं के माध्यम से प्रतिदिन 5 लाख लोगों को सीधे रोजगार उपलब्ध हो रहा है और साथ ही इससे सीमेन्ट तथा इस्पात उद्योगों को प्रचुर प्रोत्साहन मिला है।[63]

गाँवों से शहरों में आना अच्छी सड़कों के अभाव में निश्चय ही एक दुष्कर कार्य रहा है। परिणामस्वरूप ग्रामीणों का शिक्षा, चिकित्सा तथा रोजगार के संबंध में शहर से सम्पर्क प्रायः जटिल हो रहा है। ग्रामीण उत्पादों को शहर तक पहुंचा कर उनसे अच्छा मूल्य प्राप्त कर अपने उत्पाद से लाभ प्राप्त करना ग्रामीणों का एक सपना रहा है। इस स्वप्न को साकार करने के लिये दिसम्बर 2000 में 60,000 करोड़ रु0 की प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना प्रारम्भ की गई। यह सड़क ग्रामीण सड़क निर्माण की केन्द्र प्रायोजित पहली सड़क योजना है जिससे ग्रामीण अर्थव्यवस्था को अत्यधिक बढ़ावा मिलेगा।[64]

10. शिक्षा

प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वभौम लक्ष्य को हासिल करने के लिये 16,000 करोड़ रु0 के परिव्यय से सर्व शिक्षा अभियान प्रारम्भ किया गया जिसमें बालिका शिक्षा पर बल दिया गया है। रूड़की विश्व विद्यालय को आई0आई0टी0 में परिवर्तित किया गया व 5 नये भारतीय सूचना प्रौद्योगिकी संस्थान खोले गये। इजिनियरिंग कालेजों की संख्या वर्ष 1997–98 में 562 से बढ़कर 2003–04 में 1,.203 हो गयी।[65]

---

62 वही, पृ0 23
63 वही, पृ0 24
64 वही पृ0 25
65 वही पृ0 44

11. महिला सशक्तिकरण

महिलाओं के सशक्तिकरण के उद्देश्य से राजग सरकार द्वारा जो उपाय किये गये वे निम्न थे[66]

- सरकार ने वर्ष 2001 को महिला सशक्तिकरण वर्ष घोषित किया। उक्त वर्ष का उपयोग महिला अधिकारों और उनसे संबंधित मुद्दों के बारे में व्यापक जागरूकता सृजन के लिये किया गया।
- निचले स्तर पर महिलाओं के सशक्तिकरण में योगदान देने वाली असाधारण महिलाओं को सम्मानित करने के लिये 5 वार्षिक "स्त्री शक्ति पुरस्कार" प्रारम्भ किये गये।
- स्व सहायता समूहों के जरिये महिलाओं के सशक्तिकरण के लिये महिला और बाल विकास ने "स्वयं सिद्धा" नामक एक एकीकृत कार्यक्रम प्रारम्भ किया। विभाग ने "स्वाधार" नामक एक अन्य योजना भी प्रारम्भ की जिसके अन्तर्गत कठिन परिस्थितियों में जी रहीं महिलाओं का पुनर्वास किया जाता है।
- 1 अप्रैल 2002 से आंगनबाड़ी कार्यकत्रियों के मानदेय में 500 रु0 प्रतिमाह की और आंगनबाड़ी सहायिकाओं के मानदेय में 240 रु0 प्रतिमाह की वृद्धि की गई।
- लिंग निर्धारण जाँच करवाकर कन्या भ्रूण की हत्या पर रोक लगाने के लिये सरकार ने "मेडिकल टर्मिनेशन ऑफ प्रेग्नेंसी (संशोधन) विधेयक 2002 पारित किया।

मूल्याँकन

यदि राजग सरकार की उपर्युक्त उपलब्धियों पर, जो कि सरकार के सूचना प्रसार मंत्रालय द्वारा प्रकाशित पुस्तिका में उल्लिखित हैं, तटस्थ दृष्टि डाली जाय तो इनमें से कई उपलब्धियों के सम्बन्ध में पुस्तिका मात्र सरकारी दृष्टिकोण व मत का प्रसार करती प्रतीत होती है किन्तु कई ऐसे क्षेत्र हैं जहां पुस्तिका में उल्लिखित दावों की अनदेखी नहीं की जा सकती, इस सम्बंध में देश के प्रमुख राज्यों के प्रमुख नगरों में बुद्धिजीवियों, व्यवसायियों, छात्र–छात्राओं के बीच साक्षात्कार अनुसूची पद्धति से किये गये परिणाम भी

---

66 वही पृ0 48

इन सरकारी दावों की पुष्टि करते हैं। सर्वेक्षण करते वक्त शोधकर्ता ने तटस्थ विषयों को जिनकी किसी दल विशेष से प्रतिबद्धता न हों, चयनित करने का प्रयास किया जिससे निष्कर्षों में किसी प्रकार का पूर्वाग्रह परिलक्षित न हो। इसी बात को ध्यान में रखते हुए राजनेताओं व राजनीतिक कार्यकर्ताओं के चयन से परहेज किया गया।

सर्वेक्षण के परिणामों के अनुसार विदेश मामलों में राजग सरकार की उपलब्धि उल्लेखनीय रही हैं। इस सम्बन्ध में एक भी विषय ने सरकार के प्रदर्शन को खराब की श्रेणी में नहीं रखा। 85 प्रतिशत लोगों ने इस प्रदर्शन को अच्छा और 15 प्रतिशत लोगों ने औसत श्रेणी में रखा हैं। आर्थिक मामलों में सरकार के कार्य को 55 प्रतिशत लोग औसत तो 25 प्रतिशत अच्छा और 20 प्रतिशत लोग खराब मानते हैं। लगभग यहीं स्थिति कानून और व्यवस्था अर्थात आन्तरिक सुरक्षा के सम्बन्ध में है। अर्थात 50 फीसदी इसे औसत 20 प्रतिशत अच्छा और 30 प्रतिशत लोग खराब मानते हैं। रक्षा मामलों में 40 प्रतिशत लागों का मत राजग के कार्यों को अच्छा 45 प्रतिशत औसत और 15 प्रतिशत खराब मानता है।[67]

कश्मीर समस्या पर राजग की दृष्टि को 50 प्रतिशत लोगों ने अच्छा, 25 प्रतिशत लोगों ने औसत तो इतने ही लोगों ने खराब बताया। साम्प्रदायिक सौहार्द्र राजग सरकार के लिये एवं चुनौती रही है, क्योकि राजग का नेतृत्व कर रहे दल भाजपा पर साम्प्रदायिक होने का आरोप था। इसके सहयोगी संगठन विश्व हिन्दू परिषद व बंजरंग दल विशुद्ध धर्म आधारित हिन्दूवादी संगठन हैं और भाजपा की मातृ संस्था राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ यद्यपि स्वयं को सांस्कृतिक संगठन कहता है किन्तु साम्प्रदायिक होने का आरोप इस पर भी है और भाजपा कहीं न कहीं इस संगठन के निर्देशों से प्रभावित व संचालित होती है। ऐसे में साम्प्रदायिक सौहार्द्र राजग सरकार के लिये एक बेहद संवेदनशील मामला था। किन्तु सर्वेक्षण के परिणाम इस संबंध में भी राजग के अधिक विपरीत नहीं है। 30 प्रतिशत लोगों ने इस क्षेत्र में सरकार की स्थिति को खराब माना है जबकि 50 फीसदी लोग इसे औसत व 20 प्रतिशत लोग अच्छा मानते हैं। साम्प्रदायिक हिंसा पर सरकार के नियंत्रण के सम्बन्ध में निम्न तालिका में दर्शाये गये आँकड़े भी कुछ इसी प्रकार के संकेत प्रस्तुत करते हैं–[68]

तालिका 5.5

67 सभी परिणाम साक्षात्कार अनुसूची पद्धति से किये गये सर्वेक्षण के परिणामों पर आधारित।
68 राजग सरकार की उपलब्धियाँ, सूचना प्रसारण मंत्रालय प्रकाशित पुस्तका पृ0 114,

पूर्व सरकारों का कार्यकाल			राजग कार्यकाल		
वर्ष	घटनायें	मृतक	वर्ष	घटनायें	मृतक
1992	1,536	1,972	1998	645	217
1993	1,042	1,135	1999	598	160
1994	903	281	2000	571	230
1995	832	300	2001	661	210
1996	728	209	2002	650	1126
1997	725	264	2003	642	177
कुल	**5,766**	**4,161**	कुल	**3,767**	**2,120**

इसमें गुजरात के आँकड़े शामिल हैं। प्रस्तुत आँकड़े राजग शासनकाल में साम्प्रदायिक हिंसा की घटनाओं में उल्लेखनीय कमी का दावा करते हैं जहाँ तक स्थिरता का प्रश्न है इस क्षेत्र में राजग सरकार को शत प्रतिशत अंक दिये जा सकते हैं। सर्वेक्षण के दौरान स्थिर सरकार देने के राजग के दावों की 95 प्रति0 लोगों ने पुष्टि की शेष 5 प्रति0 लोगों ने राजग के इस प्रदर्शन को औसत श्रेणी में रखा है। वस्तुतः यदि राजग सरकार के प्रदर्शन पर समग्र दृष्टि डाली जाये तो यदि हम उनके कार्य को बहुत अच्छा नहीं कह सकते तो इसे बहुत खराब भी नहीं कहा जा सकता। 24 दलों की सरकार द्वारा जो कुछ भी लक्ष्य हासिल किये गये उसे औसत या सन्तोषजनक तो कहा ही जा सकता है।

राजग के दो कार्यकालों में अन्तर

बारहवीं लोकसभा और तेरहवीं लोकसभा में राजग की सरकार रहीं। इन दोनो अवसरों के बीच निम्न महत्वपूर्ण अन्तर है–

➢ बारहवी लोकसभा में गठबंधन सरकार में कुल 18 दल शामिल थ जबकि तेरहवीं लोकसभा में 24 दलों की मिली जुली सरकार रही। इस तरह से दूसरी सरकार अधिक व्यापक जनाधार वाली थी।

➢ 1998 में बनी सरकार अल्पमत की थी क्योंकि लोकसभा चुनावों में गठबंधन को पूर्ण बहुमत नहीं मिला था। तेलुगूदेशम के सरकार को समर्थन देने के बाद बहुमत

का आँकड़ा हासिल किया जा सका था। किन्तु 1999 में सत्तारूढ़ होने वाली राजग सरकार को पूर्ण बहुमत प्राप्त था।

- 1998 में सरकार के पास मामूली बहुमत था और किसी भी एक छोटे या बड़े घटक दल के गठबंधन से हटने पर सरकार के गिरने का खतरा था, इसलिए प्रधानमंत्री के रूप में बाजपेयी को अधिक समझौते करने पड़े और उनका नेतृत्व प्रदर्शन प्रभावशाली नहीं था किन्तु दूसरी बार भरोसेमंद सहयोगियों की मदद से सुविधाजनक बहुमत प्राप्त किया जा सका था। किसी भी एक घटक के हटने से सरकार की स्थिरता पर कोई आँच नहीं आनी थी इसलिए बाजपेयी ने प्रधानमंत्री के रूप में अपना बेहतर प्रदर्शन किया।
- प्रथम बार यदि अन्नाद्रमुक व उसकी नेता सरकार व गठबंधन के लिये समस्या थी तो दूसरी बार तृणमूल नेत्री ममता बनर्जी का व्यवहार अस्थिर रहा। जयललिता की नाराजगी से सरकार गिरी किन्तु ममता के गठबन्धन में अन्दर–बाहर करने से गठबंधन व सरकार पर विशेष फर्क नहीं पड़ा।
- पहली सरकार अल्पकालिक साबित हुई। मात्र 13 माह बाद सरकार का पतन हो गया किन्तु दूसरी बार सरकार अपना कार्यकाल पूरा करने की स्थिति में थी।
- प्रथम बार अल्प कार्यकाल होने के कारण सरकार नीतिगत विषयों में विशेष सफलता प्राप्त नहीं कर सकी जबकि दूसरी बार पर्याप्त अवसर उपलब्ध होने के कारण उल्लेखनीय उपलब्धियाँ अर्जित की गई।
- 1998–99 में सरकार पर सहयोगियों का दबाव अधिक था। सरकार स्वतंत्रतापूर्वक कार्य नहीं कर पा रही थी। 1999 में बनी सरकार इस संबंध में अपेक्षाकृत कम दबाव में थी।

राजग की सफलता के कारण

राजग के रूप में भारतीय राजनीति में एक ऐसी गठबंधन सूझ ऊभरी जिसने अब तक कि साझा सरकारों के संबंध में व्याप्त आशंका ग्रस्त कड़वाहट को मिटा भारतीय संसदीय राजनीति को एक नई दिशा दी और नये आयाम प्रस्तुत किये। अस्थिरता और अनिश्चितता के दौर से जूझ रहे राष्ट्र को न केवल स्थिरता की सौगात दी बल्कि बहुलता प्रधान राष्ट्र के लिये एक नई संसदीय संस्कृति का सूत्र प्रदान किया। ध्यातव्य है कि इससे पूर्व केन्द्र में बनी सभी संयुक्त सरकारें अल्पकालिक रहीं और साझीदारों में मतभेद के कारण ही काल कलवित हुई। किन्तु राजग के सहयोगी कुछ एक अपवादों व

अवसरों को छोड़कर प्रायः एक सूत्र में आबद्ध एक इकाई के रूप में ही राजनीतिक परिदृश्य को प्रभावित करते रहे। यही कारण है कि इन्होंने न केवल स्थिर सरकार देने का अपना चुनावी वादा पूरा किया बल्कि विदेश, रक्षा, आन्तरिक सुरक्षा, अर्थव्यवस्था व विकास के सन्दर्भ में भी अनेकानेक चुनौतियों का शमन कर आम जन को राहत प्रदान की। निश्चय ही गठबंधन की राजनीति का यह प्रथम सफल प्रयोग था। अस्तु इसकी सफलता के कारणों का मूल्यांकन अपरिहार्य हो जाता है। इस संबंध में निम्न बिन्दुओं की ओर संकेत किया जा सकता है–

- किसी भी गठबंधन के निर्माण के लिये प्रमुख रूप से चार तत्व उत्तरदायी होते हैं। स्थिति, अनुकूलता, प्रेरणा और अन्तः क्रिया यदि किसी देश के राजनीतिक पर्यावरण में इन चारों तत्वों के लिये आदर्श स्थितियाँ विद्यमान हो तो गठबंधन का न केवल निर्माण सहज होता है बल्कि गठबंधन के स्थायित्व एवं सफलता की संभावनायें बढ़ जाती हैं। राजग के सन्दर्भ में यदि देखा जाय तो हम पायेंगे कि इसके दो कार्यकालों में दूसरें के प्रारम्भ के दौरान इन चारों तत्वों के सम्बन्ध में पहले की अपेक्षा बेहतर हालात मौजूद थे। जहां तक स्थिति का प्रश्न है भारत में गठबंधन बहुदलीय व्यवस्था की देन है। जब तक कांग्रेस का वर्चस्व भारतीय राजनीति में कायम रहा गठबंधन की स्थिति बन ही नहीं सकी क्योंकि उसके समक्ष अशक्त विपक्षियों की एक लम्बी कतार थी जो केन्द्र अथवा राज्य दोनो ही स्तर पर कांग्रेस की सत्ता को चुनौती देने की स्थिति में नहीं थे। किन्तु जैसे–जैसे क्षेत्रीय अथवा राज्यस्तरीय दल अपने–अपने विशिष्ट क्षेत्र में प्रभावी होते गये कांग्रेस सहित सभी राष्ट्रीय दलों का प्रभामण्डल मलिन पड़ता गया और एक स्थिति ऐसी बन आई कि केन्द्र में किसी एक दल के बहुमत की सरकार की संभावनायें क्षीण हो गई। अब संवैधानिक तंत्र के संचालन का एक मात्र विकल्प बचा था गठबंधन की राजनीति अथवा गठबंधन सरकार। ये स्थितियाँ 1989 के आम चुनावों के बाद से ही प्रकट होने लगी थी। किन्तु स्वयं को स्वाभाविक शासक दल मानने वाली कांग्रेस व तेजी से सफलता के सोपान तय कर रही भाजपा को देर सबेर एक दलीय सरकार के स्थापना की संभावना थी। 1991 के चुनावों के बाद कांग्रेस ने अल्पमत एक दलीय सरकार बनाई थी किन्तु 1996 के चुनावों ने गठबंधन की अपरिहार्यता स्पष्ट कर दी। बहुमत के लिये साझीदार न जुटा पाने के कारण इस बार भाजपा सरकार जहां 13 दिनों में ही गिर गई वहीं

राष्ट्रीय मोर्चा–वाम मोर्चा गठबंधन ने सरकार लगभग 2 वर्षों तक चलाया। समरूप परिस्थितियाँ 1998 व 1999 के चुनावों के समय भी विद्यमान थी इसलिये भाजपा ने पहले से ही चुनाव पूर्व गठबंधन किया और राजनीति की इस नयी पहेली का एक नया सूत्र राष्ट्र को प्रदान किया। 1996 से 1999 तक के लगभग तीन वर्षों में चार सरकारों के गठन और पतन तथा तीन लोक सभा चुनावों के कारण उत्पन्न अस्थिरिता और अनिश्चितता ने छोटे–छोटे दलों को स्थायित्व के उद्देश्य से संयुक्त होने की प्रेरणा दी। इस प्रकार विकेन्द्रित वहुदलीय व्यवस्था ने गठबंधन के लिये पृष्ठभूमि तैयार की।

- जहां तक अनुकूलन का सन्दर्भ है राजग में भाजपा और शिवसेना ही सैद्धान्तिक अथवा वैचारिक आधार पर समीप ठहरती हैं। राजग के अन्य सभी सहयोगियों और भाजपा–शिवसेना के बीच अनुकूलन के लिये तीन तथ्य उत्तरदायी रहे। प्रथम गैर–कांग्रेसवाद अर्थात कांग्रेस के प्रवल विरोधियों के लिये भाजपा से हाथ मिलाना एक आपत्तिकालीन विवशता थी क्योंकि उनकी एकमात्र आशा तीसरा मोर्चा कमजोर हो चुका था और इस स्थिति में नहीं था कि वह सरकार बना सके। दूसरा विकल्प यह बचता था कि तीसरे मोर्चे के घटक कांग्रेस को समर्थन देकर उसकी सरकार का गठन कराते किन्तु गैर–कांग्रेस से जुड़े दलों को यह विकल्प स्वीकार्य नहीं था। अब एक मात्र विकल्प बचता था भाजपा नीत गठबंधन में शामिल होना। और इस उद्देश्य से गठबंधन के सफल संचालन के लिये दलों में अनुकूलन का दूसरा सूत्र तलाशा गया–कार्यक्रमों की एकता। सभी दलों ने एक न्यूनतम साझा कार्यक्रम तय किया और उसके आधार पर कार्य करने के उद्देश्य से संयुक्त हुए। तीसरा तथ्य जिसने इस गठबंधन के निर्माण को संभव और सफल बनाया वह था भाजपा द्वारा अपने कार्यसूची से उन विवादास्पद मुद्दों को बाहर करना जिन पर सहयोगियों को आपत्ति थी। भाजपा ने राम मन्दिर धारा 370 व समान नागरिक संहिता जैसे विवादास्पद मुद्दों को गठबंधन हित में छोड़ देने का आवश्वासन दिया जिसके चलते मतभेद व दूरियाँ कम हुई, गठबंधन बना और सफलतापूर्वक सरकार का संचालन किया।
- गठबंधन निर्माण के लिये यदि समुचित प्रेरक तत्व विद्यमान हो तो न केवल गठबंधनके निर्माण की प्रक्रिया सहज हो जाती है बल्कि गठबंधन के दृढ़ता एवं सफलता की संभावना भी बढ़ जाती है। 1998 में और फिर 1999 में अनेक ऐसी

प्रेरक स्थितियां थीं जिन्होंने राजग का संगठन संभव बनाया। इनमें से एक तो थी गैर–कांग्रेसवाद की अवधारणा। ध्यातव्य हो कि यह अवधारणा अब तक बने सभी गठबंधनों का कारण रही है। चाहे वह जनता पार्टी हो जनता दल हो, राष्ट्रीय मोर्चा हो, संयुक्त मोर्चा हो या राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन। गैर–कांग्रेसवाद की अवधारणा क्षेत्रीय अथवा छोटे–छोटे राज्य स्तरीय दलों के स्वयं के अस्तित्व के प्रश्न से जुड़ा हुआ है। जिन दलों को अपने क्षेत्र विशेष में अपने अस्तित्व के लिये कांग्रेस खतरा है वे गैर–कांग्रेस वाद की धारा के अनुगामी हो जाते हैं। अकेले अस्तित्व की रक्षा कर पाने में असमर्थ होने पर किसी न किसी गठबंधन का सहारा लिया जाता है। जब तक तीसरे मोर्चे से इस उद्देश्य की पूर्ति होती रही, कांग्रेस विरोधी दल इसके साथ रहे तीसरे मोर्चे के अशक्त होते ही इन्होंने अन्य सशक्त विकल्प तलाशना प्रारम्भ कर दिया राजग इसी तलाश की परिणति है। सत्ता की आकांक्षा और निहित राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति राजग के गठन एवं सफल संचालन की दूसरी प्रेरणा रही। राजग के गठन एवं सफलता के पीछे एक अन्य प्रेरणा कार्य कर रही थी, स्थायित्व की चाह। तीन वर्षों में तीन चुनाव झेल रहे राजनेताओं और दलों के लिये स्थिरता एक प्रमुख आवश्यकता बन गई थी, जिसने स्थायित्व दे सकने वाले सर्वोत्तम विकल्प के रूप में न केवल संगठित किया बल्कि उन्हें एकजुट बनाये रखा।

- सीटों के बंटवारे और न्यूनतम साझा कार्यक्रम पर आम सहमति की अन्तः क्रिया ने गठबंधन को एक सुगठित एवं सफल स्वरूप प्रदान किया। यह प्रक्रिया लोक सभा भंग होने के साथ ही प्रारम्भ हो गई थी। स्वस्थ सुविचारित अन्तःक्रिया से निर्मित गठबंधन के सफलता की संभावना बढ़ जाती है। राजग इसका एक महत्वपूर्ण उदाहरण है।
- राजग की सफलता का दूसरा महत्वपूर्ण कारण था इसके पास लोक सभा में पर्याप्त बहुमत का होना। 1998 के चुनावों में भाजपा नीत गठबंधन अल्पमत में था और तेदेपा के बाहर से समर्थन देने के परिणामस्वरूप उसे काम चलाऊ बहुमत प्राप्त हो सका था। यही कारण है कि इस कार्यकाल के दौरान प्रधानमंत्री और सरकार की अधिक ऊर्जा गठबंधन को बनाये रखने के उपायों के सन्दर्भ में होने वाली सौदेबाजी में खर्च हुई और एक सहयोगी के छिटकते ही सरकार गिर गई। किन्तु 1999 के चुनावों के बाद यह स्थिति नहीं थी। सुविधाजनक बहुमत के

चलते घटक नेतृत्व को ब्लैकमेल करने की स्थिति में नहीं थे। किसी एक घटक के हटने की स्थिति में सरकार के पतन की भी संभावना नहीं थी। अस्तु सरकार ने दबाव मुक्त वातावरण में अपेक्षाकृत स्वतंत्रतापूर्वक कार्य किया।

- सैद्धान्तिक और वैचारिक समानता रखने वाले दलों के गठबंधन के सफलता की संभावना अधिक रहती है, जैसे पं0 बंगाल और केरल में वामपंथी गठबंधन। किन्तु जब गठबंधन बेमेल विचारों वाले दलों का हो तो सफलता की संभावना न्यून हो जाती है। राजग ने इस समस्या का भी हल निकाल लिया–विचारों की एकता के स्थान पर कार्यक्रमों की एकता जो "न्यूनतम साझा कार्यक्रम" के रूप में अस्तित्व में आया। सभी घटक दलों ने सरकार संचालन हेतु आम सहमति से न्यूनतम साझा कार्यक्रम तैयार किया और इन्हीं कार्यक्रमों के आधार पर शासन का संचालन किया गया। विवाद की संभावनायें नहीं रहीं अतः गठबंधन के सफलता की संभावना भी बढ़ गई।
- किसी भी गठबंधन के घटकों में समन्वय स्थापित करने के लिये समन्वय समिति की अहम भूमिका होती है। समन्वय समिति की सफलता या असफलता पर गठबंधन की सफलता निर्भर करती है। राजग ने जार्ज फर्नान्डीस के नेतृत्व में एक समन्वय समिति का गठन किया जिसने घटकों के बीच अदभुत तालमेल बनाये रखा। यह समन्वय भी राजग की सफलता का एक महत्वपूर्ण कारण रहा।
- राजग सरकार के निर्णय प्रायः आम सहमति से लिये जाते थे जिसके चलते विवाद की संभावना नहीं रहती थी। यह आम सहमति की अवधारणा भी इस गठबंधन की सफलता के पीछे एक प्रमुख कारण था।
- किसी गठबंधन की सफलता के पीछे उसके नेतृत्व क्षमता की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। नेतृत्व गतिशील, प्रभावी और सक्षम है तो गठबंधन सफल है, अन्यथा सफलता की दर कम हो जाती है। राजग की सफलता के पीछे अटल बिहारी बाजपेयी का गतिशील व चमत्कारी नेतृत्व भी एक उत्तरदायी तत्व था। वास्तव में अटल बिहारी बाजपेयी एक ऐसा चुम्बकीय व्यक्तित्व थे जिसके आकर्षण से न केवल भाजपा समर्थक बल्कि पूर्व में भाजपा विरोधी भी उनके साथ हो लिये। 1996 से उन्होंने जो यात्रा प्रारम्भ की 1999 तक आते–आते राजग रूपी एक विशाल कारवॉ उनके साथ बनता गया।

- गठबंधन की सफलता की एक अनिवार्य शर्त होती है, घटक दलों में अनुशासन की भावना का होना राजग में अनुशासन को बनाये रखने का भरपूर प्रयास किया गया।
- किसी ऐसे गठबंधन सरकार के सफलता और स्थायित्व की संभावना अधिक होती है जो सामाजिक और राजनीतिक रूप से व्यापक जनाधार वाली हो और विस्तृत क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व की स्वामी हो। राजग मे ये विशेषतायें विद्यमान थीं।
- गठबंधन में नेतृत्व करने वाला दल यदि सुदृढ़ व सशक्त है तो वह मजबूत आधार स्तम्भ के रूप में कार्य करता है। राजग में भाजपा की मजबूती भी राजग की सफलता का एक प्रमुख कारण थी।
- राजग की सफलता ने यह सिद्ध कर दिया कि यदि गठबंधन चुनाव पूर्व और सुविचारित हो तो वह स्थायी होता है। राजग चुनाव पूर्व गठबंधन था।
- वह गठबंधन सरकार जो गठबंधन सरकार की अवधारणा को बैधता और मान्यता प्रदान करने का प्रयास करती है उसके लम्बे समय तक शासन में रहने की संभावना रहती है। राजग गठबंधन धर्म की प्रारम्भ से ही स्तुति करता रहा है।
- गठबंधन में सम्मिलित दल सरकार में भी शामिल हो अथवा बाहर से समर्थन देने वालों की संख्या अल्प हो तो गठबंधन सरकार के लिये खतरा कम हो जाता है। राजग इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।
- यदि किसी गठबंधन के घटकों के समक्ष कोई दूसरा प्रभावी विकल्प न हो तो उनके गठबंधन छोड़ने का खतरा कम होता है और इससे सरकार की स्थिरता को बल मिलता है। राजग सरकार के कार्यकाल के दौरान इस स्थिति ने भी उसे सफल बनाने में मद्द की।
- सत्ता प्राप्त करने और सत्ता में बने रहने की प्रबल इच्छा ने भी राजग को एकजुट बनाये रखा।
- सहयोगी दलों द्वारा यदि असंभव सी मांगें न रखी जायें तो भी गठबंधन सरकार सहजता पूर्वक कार्य करती है। 1999 में प्रारम्भ हुए कार्यकाल में राजग को इस तरह की स्थितियों का सामना नहीं करना पड़ा। 1998–99 के दौरान अवश्य जय ललिता इस तरह की मांगों से सरकार को परेशान करती रहीं और अन्ततः सरकार के पातन का कारण भी बनी।

अन्ततः यह कहा जा सकता है कि राजग के गठन एवं सरकार संचालन के दौरान गठबंधन के सफलता के लिये आवश्यक परिस्थितियाँ विद्यमान थीं जिनके चलते भारतीय संसदीय इतिहास में पहली बार गठबंधन सरकार ने न केवल सफलता पूर्वक अपना कार्य निष्पादन किया बल्कि अपना कार्यकाल भी पूरा किया। अनेक अवसरों पर विपक्ष ने गठबंधन को तोड़ने और सरकार गिराने का प्रयास किया किन्तु गठजोड़ के घटकों ने अपने एकजुट प्रयासों से उनके मन्सूबों पर पानी फेर भारतीय राजनीति के सफर में एक नयी मंजिल तय की, एक नया मील का पत्थर स्थापित किया। 6 फरवरी 2004 को 6 माह पूर्व लोकसभा भंग करने की सिफारिश की गई। चौदहवीं लोकसभा चुनावों में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की पराजय हुई और उसके प्रतिद्वन्दी के रूप में एक नया गठबंधन संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन–कांग्रेस के डॉ0 मनमोहन सिंह के नेतृत्व में पदारूढ़ हुआ।

अध्याय—छः

गठबन्धन

का

अभिनव गतिशास्त्र

संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन

अध्याय–छः

गठबन्धन का अभिनव गतिशास्त्र

संयुक्त प्रगतिशील गठबंन्धन

भारतीय राजनीति में गठबंधन सरकारों के सन्दर्भ में आम धारणा यह रही है कि ऐसी सरकारें अस्थायी और एक हद तक अक्षम होती हैं। यद्यपि प0 बंगाल और केरल में गठबन्धन का प्रयोग सफल रहा है किन्तु केन्द्रीय स्तर पर इसका अनुभव फीका ही रहा। केन्द्र में बनी अधिकांश गठबंधन सरकारें अपने अन्तर्विरोधों के चलते अपने सहयोगियों अथवा समर्थकों की करतूतों के कारण अस्थायित्व का शिकार रही। यही कारण है कि भारत में साझा सरकारों को उपेक्षित और हेय दृष्टि से देखा जाता था। किन्तु 1999 में तेरहवीं लोकसभा के चुनावों के बाद 13 अक्टूबर 1999 को सत्तारूढ़ राजग सरकार ने गठबंधन राजनीति के इस कलंक को धो दिया और यह साबित कर दिया कि भारतीय राजनीति में अब गठबंधन सरकारें अपरिहार्य सी हो गई हैं और ऐसी सरकारों को भी पूरी कुशलता से स्थायित्व प्रदान किया जा सकता है। गठबंधन की राजनीति विविधतापूर्ण भारतीय समाज में संसदीय लोकतंत्र को चलाने का अपना एक सफल प्रयोग साबित हुआ।

ऐसा नहीं है कि तेरहवीं लोकसभा के पूरे कार्यकाल के दौरान राजग सरकार का मार्ग पूर्णतया निष्कंटक रहा हो। समय–समय पर इसकी शक्ति परीक्षा होती रही आपसी मतभेद भी उभरे, विपक्ष अविश्वास प्रस्ताव भी लाया किन्तु राजग घटक दलों ने पूर्ण एकजुटता का प्रदर्शन करते हुए हर संकट का मिलजुल कर सामना किया। सरकार अपना कार्यकाल पूरा करती, किन्तु राजग नेतृत्व ने ही 6 फरवरी 2004 को लोक सभा भंग कर चौदहवी लोकसभा का चुनाव करवाने का निर्णय ले लिया। समय से पूर्व चुनाव करावने का निर्णय जनवरी 2004 में हैदराबाद में हुए भाजपा कार्यकारिणी परिषद के बैठक में लिया गया जिसे राजग के तेलुगू देशम, शिवसेना तथा समता पार्टी जैसे महत्वपूर्ण सहयोगी दलों का समर्थन पाया था।[1] वास्तव में ऐसा किये जाने के पीछे सबसे बड़ा कारण था नवम्बर–दिसम्बर 2003 में हुए चार राज्यों के चुनावों में तीन–मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ और राजस्थान में मिली भाजपा को सफलता। इन राज्यों में काँग्रेस को सत्ता

---

1 *इण्डिया टुडे, 26 जनवरी 2004, पृ0 27*

से बेदखल करने के बाद भाजपा ने पाया कि उसने बड़ी जंग जीतने की हैसियत एक बार फिर प्राप्त कर ली है।

इसके अतिरिक्त अर्थव्यवस्था में "खुशनुमा माहौल", 8.4 प्रतिशत की विकास दर और बेहतर कृषि पैदावार के साथ-साथ पाकिस्तान के साथ शान्ति प्रक्रिया की बहाली, अन्तराष्ट्रीय परिदृश्य पर भारत की बेहतर उपस्थिति, उत्तर पूर्व में स्थिरता और कश्मीर में अपेक्षाकृत शान्त स्थिति राजग को समय पूर्व चुनाव के लिये उत्साहित करने वाले अन्य कारण थे। इतना ही नहीं राजग के पास अटल बिहारी बाजपेयी के रूप में एक निर्विवाद नेतृत्व था जिसने 24 दलों के गठबंधन की सरकार को पूरे कार्यकाल तक चलाने का करिश्मा प्रस्तुत किया था निश्चय ही स्थिर सरकार का मुद्दा उनके लिये सकारात्मक पहल का एक प्रभावशाली कारण था। वास्तव में भाजपा सौभाग्य की संभावना के सहारे खुद को एकमात्र ऐसे दल के रूप में स्थापित करने का प्रयास कर रही थी जिसके पास ऐसा नेता और गठबंधन थे, जो अच्छे परिणाम देने में सक्षम थे। इसी पृष्ठभूमि में तेरहवीं लोकसभा को समय से पूर्व भंग कर चौदहवीं लोकसभा के निर्वाचन का मार्ग प्रशस्त हुआ।

चौदहवीं लोकसभा का निर्वाचन

तेरहवीं लोकसभा भंग होने के कुछ दिनों बाद ही 29 फरवरी 2004 को निर्वाचन आयोग ने चौदहवीं लोकसभा के लिए मतदान कार्यक्रम की घोषणा कर दी।[2] इसके साथ ही चुनावी महासंग्राम का बिगुल बज उठा। प्रारम्भ में मतदान चार चरणों में कराने की योजना थी जिसे बाद में पाँच चरणों में कर दिया गया। इस प्रकार पूरे देश में चुनाव 20 अप्रैल, 22 अप्रैल, 26 अप्रैल, 5 मई व 10 मई को करवाने का कार्यक्रम तय किया गया।[3] मतगणना के लिये 13 मई की तारीख निश्चित की गई। चुनाव की घोषणा के साथ ही चुनाव संबंधित आचार संहिता लागू हो गई। पहली बार निर्वाचन आयोग ने तय किया कि पूरे देश में मतदान पूरी तरह 10.75 लाख इलेक्ट्रानिक वोटिंग मशीनों के जरिये कराया जायेगा। लोकसभा चुनावों के साथ ही चार विधान चुनाव और कुछ सीटों के लिये

---

2 *दैनिक जागरण, 1 मार्च 2004*

3 *22 अप्रैल को त्रिपुरा की दो लोकसभा सीटों के लिए चुनाव कराने की व्यवस्था की गई क्योंकि त्रिपुरा सरकार ने, पूर्व तय कार्यक्रम में परिवर्तन चाहा था क्योंकि उस दिन वहाँ आदिवासी पर्व बाबा गरिया पूजा का आयोजन होता है। दैनिक जागरण, 24 मार्च 2004*

उपचुनाव कराने का भी निर्णय लिया गया। जिन चार राज्यों में विधान सभा चुनाव होने थे वे थे–आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, उड़ीसा और सिक्किम।

महासमर–दो गठबंधनों के बीच

वर्ष 2004 के चुनाव पिछले कई आम चुनावों से अलग थे। यह चुनाव प्रमुख रूप से दलों के बीच न होकर दो बड़े गठबंधनो के बीच हुआ–एक, भाजपा के नेतृत्व में राजग तो दूसरा, कांग्रेस की परछांई तले पंथ निरपेक्ष मोर्चा जिसे बाद में संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन नाम दिया गया। आजादी के बाद पहली बार किसी गैर–काँग्रेसी गठजोड़ ने सत्ता के पाँच साल पूरे किये थे। यह नई गठबन्धन संस्कृति ही थी जिसने भारत को अस्थिरता और अनिश्चितता के वातावरण से मुक्त कर संसदीय शासन की एक नूतन संस्कृति, जिसे हम बेहिचक भारतीय संस्कृति की देन कह सकते हैं, को जन्म दिया। यह भारत ही है जो हर संकट और हर संक्रमण में अपने स्थायित्व का मार्ग तलाश लेता है। विविधतापूर्ण समाज में बहुदलीय व्यवस्था का पनपाना स्वाभाविक था और बहुदलीय संसदीय व्यवस्था में किसी एक दल के पूर्ण बहुमत न मिल पाने की संभावनायें भी अधिक होती हैं। ऐसे में सरकार का गठन और उसका स्थायित्व एक समस्या बन जाती है। भारत ने एक नया मार्ग ढूंढ निकाला–गठबन्धन का मार्ग, और यह मार्ग ऐसा है जो भारत की विविधता में एकता की संस्कृति को प्रतिबिम्बित करता है।

वास्तव में भारतीय राजनीति का वर्तमान दौर गठबन्धन ध्रुवीकरण का दौर कहा जा सकता है जिसमें भाजपा और काँग्रेस के रूप में दो ध्रुव हैं और गैर–भाजपावाद जिसे तथा कथित पंथ निरपेक्षतावाद का नाम दिया जा सकता है, तथा गैर–काँग्रेसवाद के दायरे में अपने–अपने अस्तित्व के लिये संघर्षशील छोटे और क्षेत्रीय दल हैं जो अपनी–अपनी क्षेत्रीय राजनीतिक विवशताओं के चलते गैर–भाजपावाद अथवा गैर–काँग्रेसवाद का परचम बुलन्द करते हुए दो में से किसी न किरी गठबन्धन के साथ जुड़ने को विवश हैं। यही कारण है कि वर्तमान में दो गठबन्धनों के बीच दलों का ध्रुवीकरण हो रहा है। यह इंगलैड के द्विदलीय प्रणाली का भारतीय प्रत्युत्तर हैं।[4] इससे न केवल भारतीय लोकतंत्र के उन्नत और ऊर्जावान होने के संकेत मिलते हैं बल्कि इसमें राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय–एकता के बीज भी छिपे हुये हैं। जिन दो राजनीतिक गठबन्धनों के

---

4 *डॉ0 ऐ0के0 वर्मा, गठबन्धन ध्रुवीकरण का दौर, दैनिक जागरण, 1 मार्च 2004, पृ0 10*

बीच चौदहवीं लोकसभा के चुनाव सम्पन्न हुए इनका संक्षिप्त परिचय जान लेना समाचीन होगा–

1. राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन

राजग चौदहींव लोक सभा निर्वाचन के समय सत्तारूढ़ गठबन्धन था। इस गठबन्धन की नींव एक प्रकार से गुजराल सरकार के पतन के बाद 1998 में हुए लोकसभा आम चुनावों से पूर्व पड़ी थी। जैसा कि विदित है भाजपा इस गठबन्धन की धुरी और नेता है जिसके चारों और गैर–कॉंग्रेसवाद की अवधारणा पर राजनीति करने वाले राजनीतिक दलों का जमावड़ा है। एक समय भारतीय जनता पार्टी भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिक दल मानी जाती थी और कुछ हिन्दूवादी दलों और संगठनों के समर्थन के अलावा अन्य दलों के लिये आहूत थी। यही कारण था कि 1996 में भाजपा के नेतृत्व में बनी पहली सरकार बहुमत के लिये साथी नहीं जुटा सकी और सरकार 13 दिन की अल्पावधि में ही गिर गई। किन्तु बाद में दैवगौड़ा और गुजराल सरकार के पतन के बाद अस्थिरता के दौर को समाप्त करने व अपने–अपने राजनीतिक वजूद को बचाये रखने की गरज से कॉंग्रेस विरोधी शक्तियॉं भाजपा के साथ जुड़ती गई। इनमें से अधिकांश राजग में स्थायी रूप से बनी रही किन्तु कुछ दल अपने क्षेत्रीय राजनीतिक नफा–नुक्सान का ध्यान रखते हुए इससे जुड़ते–कटते रहे। स्थिरता पूर्वक राजग में रहने वाले दल है; शिवसेना, अकालीदल, समतापार्टी, बीजू जनतादल, तेलुगूदेशम पार्टी। ममता बनर्जी की तृणमूल कॉंग्रेस राजग से आँख मिचौली खेलती रहीं। 1998 के चुनावों में अन्नाद्रमुक भाजपा के साथ थी तो 1999 में भाजपा ने अन्नाद्रमुक से किनारा करते हुए द्रमुक से हाथ मिला लिया। 14वीं लोकसभा चुनावों से ठीक पूर्व द्रविड़ सिद्धान्तों की रक्षा के नाम पर द्रमुक व उसके सहयोगी राजग से अलग हो गये। इस रिक्ति की पूर्ति के लिये राजग ने पुनः अन्नाद्रमुक का दामन थाम लिया। अन्नाद्रमुक ने पॉण्डचेरी, सीट समेत भाजपा को तमिलनाडु में कुल सात सीटें देकर चुनावी ताल मेल किया। इनके अतिरिक्त महाराष्ट्र में राष्ट्रवादी कॉंग्रेस पार्टी, बिहार में लोक जनशक्ति व उत्तर प्रदेश में बहुजन समाज पार्टी से भी तालमेल का प्रयास किया गया किन्तु सफलता नहीं मिली।

चुनाव संचालन

राजग के चुनाव संचालन की कामना तत्कालीन प्रधानमंत्री और राजग के घोषित भावी प्रधानमंत्री और राजग के घोषित भावी प्रधानमंत्री अटल बिहारी बाजपेयी और उपनायक उपप्रधानमंत्री लालकृष्ण अड़वाणी के हाथ में थी। इनके अतिरिक्त भाजपा के प्रमुख स्टार प्रचारक के रूप में अन्य प्रभावशाली नेता जैसे भाजपा अध्यक्ष वैकैय्या नायडू, प्रमोद महाजन, अरूण जेटली, राजनाथ सिंह, सुषमा स्वराज और कल्याण सिंह सक्रिय रहे। राजग के घटक दलों के नेता भी अपने–अपने प्रभाव क्षेत्रों में अपने प्रभामण्डल से राजग के लिये वोट बटोरने का काम कर रहे थे। जार्ज फर्नान्डीस, नीतिश कुमार, ममता बनर्जी, नवीन पटनायक, शरद यादव, चन्द्रबाबू नायडू, जयललिता इस श्रेणी में प्रमुख थे।

यद्यपि चौदहवीं लोकसभा चुनाव में भी लहर पैदा करने वाला कोई मुद्दा किसी दल आथवा गठबंधन के पास नहीं था फिर भी राजग ने अपने 1998 से वर्ष 2004 तक के 6 वर्षों के अपने कार्यकाल की उपलब्धियों को सामने रखते हुए अपने प्रचार रथ को आगे बढ़ाने का प्रयास किया। चुनाव से काफी पूर्व से ही "भारत उदय" और "फीलगुड" के तिलिस्मी नारों के सहारे हाइटेक प्रचार तंत्र का प्रयोग करते हुए भाजपा नेतृत्व ने चुनावी वैतरणी पार करने का दॉव लगाया। रथयात्राओं के सिद्धहस्त माने जाने वाले लालकृष्ण अडवाणी ने चुनाव में अपनी सफलता सुनिश्चित करने और अपने सरकार की उपलब्धियों को जनता के बीच ले जाने के लिये पुनः एक रथयात्रा का आयोजन किया जिसे "भारत उदय यात्रा" नाम दिया गया। यह यात्रा 10 मार्च को कन्याकुमारी से प्रारम्भ होनी थी। इसे 32 दिनों में 12000 कि0मी0 की दूरी तय करते हुए कल 121 निर्वाचन क्षेत्रों से होकर गुजरना था।[5]

चौदहवीं लोकसभा चुनावों में राजनीतिक दलों ने एक नयी परम्परा प्रारम्भ की जिसे गठबंधन को राजनीति की आवश्यकताओं के रूप में लिया जा सकता है। पार्टी के घोषणा पत्र के पूरक के रूप में दृष्टिकोण पत्र जारी करना। भाजपा ने 30 मार्च 2004 को अपना "दृष्टिकोण पत्र 2004" जारी किया जिसमें दल के भावी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया गया था।[6] इस पत्र में भाजपा ने राम मंदिर, समान नागरिक संहिता और धारा 370 जैसे अपने बुनियादी मुद्दों को सहमति और बातचीत के माध्यम से हल करने की बात रखी। पार्टी ने दृष्टिकोण पत्र में जम्मू कश्मीर के जम्मू व लद्दाख क्षेत्र के स्वायत्ता की

---

5 *द टाईम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, 3 मार्च 2004*
6 *द हिन्दू, दिल्ली, 31 मार्च 2004*

हिमायत की[7] साथ ही राज्य सरकार द्वारा लाये गये उस विधेयक की निंदा की जिसमें राज्य से बाहर विवाह करने वाली महिलाओं के अधिकारों में कटौती का प्रस्ताव है। दृष्टिपत्र में विदेशी मूल के मुद्दे पर कानून बनाने की बात कही गई। इसके अतिरिक्त इस दस्तावेज में रक्षा और आन्तरिक सुरक्षा को शीर्ष वरीयता देते हुए सेना के आधुनिकीकरण, आवंटित धनराशि को अधिक क्षमता के साथ खर्च करने तथा रक्षा उत्पादन के स्वदेशीकरण के प्रति प्रतिबद्धता व्यक्त की गई। आतंकवाद के विरूद्ध संघर्ष तथा आन्तरिक सुरक्षा के लिये पुलिस के आधुनिकीकरण पर बल दिया गया। पार्टी ने वामपंथी (नक्सली) आतंकवाद को एक बड़ी समस्या माना और राज्यों व केन्द्र के बीच समन्वय स्थापित कर इस समस्या से निपटने को प्राथमिकता दी।

इसी क्रम में 8 अप्रैल 2004 को राजग संयोजक जार्ज फर्नान्डीज ने भाजपा महासचिव प्रमोद महाजन के आवास पर एक भव्य समारोह में राजग का घोषणापत्र जारी किया जिसमें भाजपा के दृष्टिपत्र के सिद्धान्तों की पुष्टि की गई थी। राजग एजेण्डे में राम मन्दिर मुद्दा पहली बार शामिल किया गया[8] किन्तु इस सम्बन्ध में विशेष सावधानी बरतते हुए इसे घोषणा पत्र के अन्तिम भाग में प्रतिबद्धताओं के वर्ग में रखा गया। इसमें प्रथम यह लिखा गया कि राजग सरकार भारतीय संविधान में उल्लिखित धर्म निरपेक्षता के आदर्श को सतत् रूप से सुदृढ़ करती रहेगी। इसके बाद दूसरे नम्बर पर लिखा गया कि "राजग यह मानता है कि अयोध्या मसले का एक शीघ्र और समभाव आधारित समाधान राष्ट्रीय एकात्मकता को मजबूत करेगा..........इस मामले पर अदालत का फैसला सबको स्वीकार्य होना चाहिये। साथ ही बातचीत के आधार पर आपसी विश्वास और सद्भावना के माहौल में मसले को हल करने के लिये प्रयासों को तेज किया जाना चाहिये"।[9] घोषणा पत्र में अन्य बातों के अलावा विदेशी मूल के मुद्दे और महिलाओं के लिये आरक्षण की बात भी उठाई गई। एजेण्डे में गोवध पर रोक लगाने के लिये एक देशव्यापी कानून बनाने के साथ ही परिवार को दो बच्चों तक सीमित रखने के लिये परिवार नियोजन के प्रसार के लिये जन आंदोलन का वादा किया गया। वित्तीय सुधारों और राज्यों के ऋणों की पुनर्रचना की बात कहते हुए घोषणा पत्र में हर राज्य के राजस्व घाटे को 2006 तक समाप्त करने का वायदा किया गया। साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये एक पृथक मंत्रालय बनाने, 2008 तक चन्द्रमा पर मिशन भेजने, कई शहरों में मेट्रो

---

7 *विजन डाक्यूमेन्ट 2004*
8 *दैनिक जागरण, 9 अप्रैल 2004*
9 *राजग घोषणा पत्र 2004*

रेल परियोजनायें प्रारम्भ करने, भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन देने आदि वायदे भी एजेंडे में शामिल किये गये।

राजग से जुड़े अधिकांश दलों ने इसी घोषणा पत्र के आधार पर चुनाव लड़ा। साथ ही कुछ क्षेत्रीय दलों जैसे अन्नाद्रमुक व तेदेपा आदि ने अपने क्षेत्रीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए अपने अलग घोषणा पत्र भी जारी किये। मूलतः पूरे भारत में राजग ने गठबन्धन की स्थिरता, बाजपेयी के नेतृत्व क्षमता, राजग सरकार की उपलब्धियों, ***"भारत उदय"*** और ***"फील गुड"*** नारों के आधार पर चुनाव प्रचार का संचालन किया। वास्तव में यदि देखा जाये तो समय पूर्व चुनाव कराने का भाजपायी आकलन महज हवाई सफलता की उम्मीदों पर टिका था। धरातल पर स्थितियों का गहन अध्ययन किया ही नहीं गया। वास्तव में समय पूर्व चुनाव का भाजपा का दाव अपनी मजबूत स्थिति के भ्रम के साथ–साथ काँग्रेस की कमजोर स्थिति का आभास भी था जो हाल ही के चार विधानसभा चुनावों के दौरान प्रकट हुई थी।[10]

2. गठबन्धन का काँग्रेसी संस्करण; संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन

स्वतंत्रता के पश्चात भारतीय राजनीति में लम्बे समय तक काँग्रेस का एकक्षत्र राज्य रहा। भारत की दल प्रणाली बहुदलीय होते हुए भी एक दलीय प्रभुत्व वाली दल प्रणाली रही जिसमें केन्द्र और राज्यों में कांगेस के समक्ष वस्तुतः कोई चुनौती ही नहीं थी। 1967 के बाद से यह तिलिस्म क्रमशः टूटने लगता है और गैर काँग्रेसवाद की पृष्ठभूमि में विपक्षी एकता की आवश्यकता अनुभूत की जाती हैं। कई राज्यों में गैर–काँग्रेसी या साझा सरकारें अस्तित्व में आती है। 1975 में लगाये गये आपात काल की पृष्ठभूमि में 1977 में पहला विपक्षी गठबंधन "जनता पार्टी" के रूप में तैयार हुआ जो काँग्रेस विरोध के आधार पर अस्तित्व में आया था। यद्यपि यह गठबंधन अपने आन्तरिक कलह की वजह से बिखर गया किन्तु हम कह सकते हैं कि यहां से भारत के केन्द्रीय राजनीति में गठबंधन का प्रयोग प्रारम्भ हो गया। यह महज एक संयोग ही कहा जायेगा कि केन्द्र में बनी साझा सरकारों को नेतृत्व या तो काँग्रेस से अलग हुए नेताओं के हाथ में रहा[11] या अल्पमत सरकारों का कांग्रेस ने बाहर से समर्थन दिया और अवसर अनुकूल

---

10 *आउट लुक, 26 जनवरी 2004 पृ0 29*
11 *1977 में मोराजी देसाई और 1989 में वी0पी0 सिंह*

उन्हें बेहिचक गिराया भी,[12] किन्तु स्वयं गठबंधन की राजनीति से परहेज करती रहीं। काँग्रेस को हमेशा स्वाभाविक शासक दल होने का आभास और स्वयं अपने बलबूते पर बहुमत प्राप्त कर सरकार बनाने का विश्वास रहा। यही कारण था कि काँग्रेस गठबंधन सरकारों की कटु आलोचक रही है।

किन्तु बदले हुए परिवेश में जब काँग्रेस ने यह जान लिया कि केन्द्रीय सत्ता तक गठबंधन की सीढ़ी के बिना नहीं पहुंचा जा सकता तो उसने अपना "एकला चलो" का राग त्यागने का फैसला कर लिया। वस्तुतः कुछ राज्यों में क्षेत्रीय/राज्यस्तरीय दलों की बढ़ती शक्ति से यह स्पष्ट हो गया था कि निकट भविष्य में किसी भी एक राष्ट्रीय दल को लोकसभा में पूर्ण बहुमत मिलने की संभावना नहीं है, इसलिये किसी भी दल के लिये गठबन्धन की राजनीति से बचाना कठिन हो गया था। यही कारण है कि भारत में गठबंधनों के ध्रुवीकरण का दौर प्रारम्भ हुआ। गठबन्धन निर्माण के लिये अनुकूलता की आवश्यकता होती है। अनुकूलता के सैद्धान्तिक वैचारिक अथवा कार्यक्रमों की समानता की आवश्यकता के लिये दूसरे कारण उत्तरदायी रहे हैं। इनमें सर्वप्रमुख हैं गैर– काँग्रेसवाद अथवा गैर–भाजपावाद की धारा में बहने वाले दलों का ध्रुवीकरण। इसके अलावा क्षेत्रीय राजनीतिक आवश्यकतायें अथवा विवशतायें भी दलों को किसी एक पक्ष में ध्रुवीकृत होने के लिये प्रेरित करती रही हैं। कुल मिलकार यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन अथवा संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन के रूप में दलों का जो ध्रुवीकरण हुआ है वह वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक न होकर विशुद्ध अवसरवादी और सत्तावादी स्वार्थों पर आधारित रहा है।

भारतीय राजनीति में जैसे–जैसे भाजपा की शक्ति बढ़ी और गैर–भाजपावाद की बयार प्रखर हुई तब से राजनीति में राजनीतिक शक्तियों का ध्रुवीकरण "धर्मनिरपेक्ष शक्तियों" और तथाकथित धर्मनिरपेक्षों द्वारा घोषित साम्प्रदायिक शक्तियों के बीच होने लगा। धर्मनिरपेक्षता का झण्डा काँग्रेस के हाथ में था। तो घोषित साम्प्रदायिक ध्वज भाजपा के हाथ में था। बीच में थे छोटे–छोटे क्षेत्रीय और राज्य स्तरीय दल जो धर्मनिरपेक्षता और साम्प्रदायिकता की स्वेच्छाचारी व्याख्या के लिये और स्वयं की व्याख्या के आधार पर बिना किसी लाग लपेट के पाला बदलने के लिये स्वतंत्र थे। इन्हीं राजनीतिक दोलकों से भारतीय राजनीति के दोनो गठबंधन अस्तित्व में आये।

12 *1979 में चौ0 रण सिंह सरकार, 1990–91 में चन्द्रशेखर सरकार व 1996 से 1998 तक एच0डी0 देवगौड़ा व इन्द्र कुमार गुजारल की सरकारों के उदाहरण*

इन्हीं परिस्थितियों में काँग्रेस अंततः गठबंधन के लिये तैयार हो गई। उसे स्वाभाविक शासक दल होने के भ्रमजाल से निकलने के लिये बाध्य होना पड़ा। इस बात के संकेत काँग्रेस की विभिन्न बैठकों और उनके नेताओं के बयानों से भी मिलने लगे थे कि काँग्रेस आगामी लोकसभा चुनावों में गठबन्धन के साथ उतरेगी। काँग्रेस के वरिष्ठ नेता व राजनीतिक मामलों सम्बन्धी उच्च स्तरीय समिति के सदस्य अर्जुन सिंह ने आगामी लोकसभा चुनावों में काँग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्तर पर गठबंधन की आवश्यकता पर बल दिया था। उन्होंने परोक्ष तौर पर यह स्वीकार किया था कि काँग्रेस अकेले दम पर केन्द्र की सत्ता में नहीं आ सकती। उन्होंने कहा कि यह एक सच्चाई है जिसका सामना काँग्रेस को करना होगा।[13] पिछले पांच वर्षों से पार्टी इस बात का इंतजार कर रही थी कि गठबन्धन की सरकार अन्तर्विरोधों के कारण नहीं चल पायेगी और स्थिरता एवं साम्प्रदायिकता के छदम् नारों के बल पर वह सत्ता हासिल कर लेगी, किन्तु ऐसा न हो सका और उसे गठबन्धन के दंगल में उतरने को विवश होना पड़ा। काँग्रेस ने गैर–भाजपावाद की राजनीति करने वाले दलों को साम्प्रदायिक शक्तियों के विरोध एवं धर्म निरपेक्षता के चाशनी में एकीकृत करने का प्रयास किया किन्तु उसे इस प्रयास में अति सावधानी बरतनी पड़ी क्योंकि गैर भाजपावादी दलों में गैर–काँग्रेसवाद अथवा सोनिया विरोध की धारा अब भी मौजूद थी।[14] इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए काँग्रेस ने जिन प्रमुख क्षेत्रीय/राज्यस्तरीय दलों से समझौता किया उनमें प्रमुख निम्न है–

(क) राष्ट्रीय जनता दल

बिहार में राजद और काँग्रेस का गठबन्धन पहले से मौजूद था। बिहार सरकार राजद और काँग्रेस की मिली जुली सरकार है। राजद नेता लालू प्रसाद यादव अपने दल को काँग्रेस का स्वाभाविक सहयोगी मानते हैं। वास्तव में बिहार में भाजपा–समता गठजोड़ का मुकाबला करने के लिये राजद और काँग्रेस दोनों एक दूसरे के लिये अपरिहार्य हो गये हैं। दोनों के अलग–अलग चुनाव लड़ने की स्थिति में भाजपा समता गठजोड़ को लाभ मिलने की संभावनायें बढ़ जाती है। इसलिये दोंनो में गठजोड़ स्वाभाविक हो जाता है।

(ख) लोक जनशक्ति

बिहार में ही काँग्रेस की दूसरी सहयोगी बनी राम विलास पासवान के नेतृत्व वाली लोक जन शक्ति पार्टी, रामविलास पासवान जनता दल के नेता थे जिन्होंने 1999 के

13 *दैनिक जागरण, 23 मई 2003, पृ0 9*
14 *आउटलुक, 26 जनवरी 2004, पृ0 51*

13वीं लोकसभा के समय जनता दल का विभाजन कराया और विभाजन के उपरान्त विभाजित जनता दल और समता पार्टी के विलय से जनता दल (यू) के निर्माण के प्रेरक बने। 1999 में बनी राजग सरकार, में मंत्री बने किन्तु व्यक्तिगत महात्वाकांक्षाओं के चलते राजग और जनता दल (यू) से अलग होकर लोक जनशक्ति पार्टी का गठन किया। दलित मतों के समीकरण को ध्यान में रखते हुए भाजपा और काँग्रेस दोनों ने 2004 चुनावों से पूर्व पासवान पर डोरे डाले थे किन्तु सफलता काँग्रेस को मिली। वास्तव में लालू प्रसाद यादव व राम विलास पासवान बिहार की राजनीति में एक दूसरे के घोर विरोधी रहे हैं। इसलिए दोनों के किसी एक गठबंधन में साथ आने की संभावनायें कम ही थी। यही कारण है कि राजद प्रमुख द्वारा सीटों के बँटवारे को लम्बे समय तक लटकाये रखा गया। किन्तु बाद में काँग्रेस–राजद और लोक जनशक्ति पार्टी का बिहार में गठबन्धन हो गया।

(ग) झारखण्ड मुक्ति मोर्चा

बिहार से अलग होकर बने नये राज्य झारखण्ड में भाजपा का मुकाबला करने के लिये काँग्रेस ने शिबू शोरेन के नेतृत्व वाले झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के साथ समझौता किया। शिबू शोरेन 1991 में नरसिंह राव सरकार के समर्थक रहे हैं। राज्य में झामुमो की प्रबल विरोधी भाजपा है, अतः काँग्रेस के साथ आना उनकी विवशता है।

(घ) राष्ट्रवादी काँग्रेस पार्टी

राष्ट्रवादी काँग्रेस पार्टी काँग्रेस से अलग हुआ वह गुट है जो विदेशी मूल के आधार पर सोनिया गाँधी के विरोध के कारण जन्मा। इसके प्रमुख नेता शरद पवार हैं और पार्टी का जनाधार महाराष्ट्र तक सीमित है। 1999 में यह दल स्वतंन्त्र रूप से चुनाव लड़ा था जिस कारण काँग्रेस के मतों में विभाजन के चलते भाजपा–शिवसेना को लोकसभा चुनाव में काफी लाभी हुआ। बाद में विधान सभा चुनावों में काँग्रेस और राकांपा में समझौता हो गया और दोनों की मिलीजुली सरकार बनी। 2004 के लोकसभा चुनावों में राजग और काँग्रेस दोनों ने ही राकांपा को अपने पक्ष में करने का प्रयास किया। दल के नेता पी0एम0 संगमा व विद्याचरण शुक्ल जहां राजग से गठजोड़ के पक्षधर थे वहीं शरद पवार का झुकाव काँग्रेस की ओर था जिस कारण राकांपा विभाजित हो गई। संगमा और शुक्ल राजग में जा मिले और पवार ने काँग्रेस के साथ गठबन्धन की पींगे बढ़ाई।

(च) द्रविड़ मुनेत्र कड़गम

तमिलनाडु की राजनीति के दो ध्रुवों में एक द्रमुक गैर–भाजपावाद और गैर–काँग्रेसवाद के बीच दोलन करने वाला वह दोलक है जो अवसर अनुकूल स्थितियों के अनुसार अपने गति की दिशा तय करता है। 1998 तक भाजपा विरोधी रही द्रमुक ने 1999 में राजग में शामिल होकर भाजपा के साथ गठबंधन किया और पूरे चार वर्ष तक राजग सरकार में सत्ता सुख भोगा। किन्तु अगले चुनावों की सुगबुगाहट पाते ही भावी परिणामों की आशंका में द्रविड़ सिद्धान्तों की रक्षा नाम पर राजग से किनारा कर लिया। राजनेताओं के तर्क भी सुविधानुसार गढ़े जाते हैं। 4 वर्ष तक भाजपा के नेतृत्व वाली सरकार में शामिल करूणानिधि का कहना था कि उनकी पार्टी का भाजपा से कभी गठबन्धन रहा ही नहीं। वे राजग के एक घटक थे जिसमें भाजपा भी एक घटक था।[15] इस प्रकार करूणानिधि ने यह साबित कर दिया कि वे राजग में शामिल होने से पूर्व भी धर्मनिरपेक्ष थे, भाजपा के साथ मिलकर सरकार चलाते वक्त भी धर्म निरेपेक्ष थे, और उससे अलग होकर तो वे धर्मनिरेपक्षता का ही ध्वज ऊँचा कर रहे थे।

राजग से अलग होकर द्रमुक काँग्रेस गठबन्धन में शामिल हो गया। यह भी राजनीति की अवसरवादी विडम्बना ही कही जायेगी कि जिस द्रमुक को जैन आयोग के प्रतिवेदन के आधार पर काँग्रेस ने राजीव गांधी की हत्या के लिये उत्तरदायी मानते हुए 1998 में गुजराल सरकार से समर्थन वापस लिया था, आज उसी से वह हाथ मिला रही थी। इस मुद्दे पर बात उठाने पर काँग्रेस प्रवक्ता जयपाल रेड्डी ने तर्क दिया कि "जब पूर्व समाजवादी भगवा बिरादरी वालों के साथ बैठ सकते हैं तो काँग्रेस द्रमुक के साथ क्यों नहीं?"[16] तमिलनाडू में द्रमुक का उसके सहयोगियों के साथ गठबन्धन हो गया जिसे डेमोक्रटिक प्रोग्रेसिव फ्रन्ट नाम दिया गया। एक समझौते के अन्तर्गत द्रमुक ने काँग्रेस को तमिलनाडू में दस सीटें, पी0एम0के0 को छः, एम0डी0एम0 के को चार, माकपा व भापकपा को दो–दो, आई0यू0एम0एल0 को एक सीट दी व स्वयं के लिये 15 सीटें रखीं।

इन दलों के अतिरिक्त काँग्रेस का आन्ध्र प्रदेश में अलग तेलंगाना राज्य की मांग कर रही तेलंगाना राष्ट्रीय समिति के साथ गठजोड़ हुआ जो उसके लिये लाभ का सौदा साबित हुआ। जम्मू कश्मीर में पी0डी0पी0 और केरल में मुस्लिम लीग से काँग्रेस का पहले से गठबन्धन था। उत्तर प्रदेश में काँग्रेस ने सपा और बसपा से तालमेल का प्रयास किया किन्तु उसे सफलता नहीं मिली।

---

15 *दैनिक जागरण, 2 मार्च 2004, (वाराणसी)*
16 *इण्डिया टुडे, 26 जनवरी 2004, पृ0 33*

चुनाव संचालन

स्वतन्त्रता के बाद से ही नेहरू परिवार काँग्रेसी राजनीति की धुरी रहा है। काँग्रेस की राजनीतिक कार्य संस्कृति का कुछ इस प्रकार विकास हुआ कि इस परिवार के बिना यह दल स्वयं को अशक्त महसूस करता है। यही कारण है कि चुनावों में संचालन और प्रचार में इस परिवार की ही अहम भूमिका होती है। इस चुनाव में काँग्रेस अध्यक्षा श्रीमती सोनिया गाँधी, उनके पुत्र राहुल गाँधी और पुत्री प्रियंका गाँधी काँग्रेस के स्टार प्रचारक रहे। चुनावी बिगुल बजते ही पूरे देश का व्यापक दौरा और प्रचार संस्कृति का नया स्वरूप "रोड शो" विकसित कर काँग्रेसी प्रचार को पूर्णता देने का प्रयास किया गया। गठबन्धन से जुड़े क्षेत्रीय अथवा राज्य स्तरीय दलों के नेता अपने–अपने प्रभाव क्षेत्र में चुनाव प्रचार को गति प्रदान करते रहे। इनमें शरद पवार, लालू प्रसाद यादव, राम विलास पासवान व करूणानिधि आदि प्रमुख थे।

संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन का कोई साझा घोषणा पत्र जारी नहीं किया गया। इससे जुड़े दलों ने अपने–अपने घोषणा पत्र जारी किये थे। चूँकि गठबंधन के केन्द्र में काँग्रेस है इसलिये पहले उसके घोषणा पत्र और फिर आर्थिक दृष्टिपत्र पर प्रकाश डालना आवश्यक होगा। 22 मार्च 2004 को नयी दिल्ली में काँग्रेस अध्यक्षा सोनिया गाँधी ने काँग्रेस का घोषणा पत्र जारी किया। इस घोषणा पत्र के जरिये काँग्रेस ने प्रति वर्ष एक करोड़ लोगों को रोजगार देने का आश्वासन देते हुए शासन चलाने के निम्न छः बुनियादी सिद्धान्त प्रस्तुत किये।[17]

1. सामाजिक सद्भावना
2. युवा रोजगार
3. ग्रामीण विकास
4. आर्थिक नवोत्थान
5. महिला सशक्तिकरण
6. समान अवसर

घोषणा पत्र की अन्य प्रमुख बातें थीं–

- आर्थिक विकास की वृद्धि दर आठ से दस फीसदी रखना;
- राष्ट्रीय रोजगार गारंटी कानून बनाना और प्रतिवर्ष 1 मई को रोजगार रिपोर्ट प्रस्तुत करना;

17 *काँग्रेस घोषणा पत्र से*

➢ किसानों के लिये तीन वर्ष में कृषि ऋण के लिये धन की सीमा दुगना करना और 100 जिलों में कृषि विकास कार्यक्रम प्रारम्भ करना;

➢ किसानों को सीधी आर्थिक मदद के उद्देश्य से कृषि स्थायित्व कोष की संभावनाओं का पता लगाना;

➢ अगले तीन से पाँच साल में हर घर में बिजली की व्यवस्था और हर साल छः से आठ हजार मेगावाट बिजली उत्पादन क्षमता बढ़ाने का प्रयास करना आदि।

घोषणा पत्र में आर्थिक मुद्दों, सामाजिक समरसता और आन्तरिक सुरक्षा व विदेश नीति के सबन्धन में बहुत अधिक नहीं कहा गया। पार्टी ने इन मुद्दों के सम्बन्ध में अलग से दृष्टिकोण पत्र प्रस्तुत किया। यहां 7 अप्रैल को जारी आर्थिक दृष्टिपत्र के प्रमुख बिन्दुओं का उल्लेख अनिवार्य होगा।[18]

1. ऊँची आर्थिक विकास दर तथा गरीब, कमजोर व पिछड़ों सहित सबका आर्थिक विकास,
2. निगमित क्षेत्र का तीव्र विकास
3. बेरोजगारी, गरीबी, भूख व अशिक्षा के उन्मूलन तथा सबके लिए स्वास्थ्य परिचर्या सुनिश्चित करना।
4. कृषि क्षेत्र में विकास की पूर्ण संभावना सुनिश्चित करना।
5. विकास के साथ लोगों के प्रति जवाब देही।
6. घरेलू व विदेशी सहित निजी निवेश में वृद्धि का माहौल तैयार करना।
7. विकास व निवेश संबंधी गतिविधियों में सार्वजनिक निजी भागीदारी को प्रोत्साहन।
8. निवेश में नौकरशाही और प्रशासनिक अड़चनें दूर करना।
9. रक्षा की दृष्टि से संवेदनशील उद्योगों की सूची तैयार करना तथा निवेश दर बढ़ाना।
10. पर्यावरण का दुरूपयोग रोकने के लिये विशिष्ट कानून।
11. निवेश बढ़ने की स्थिति में सघनता और एकाधिकार रोकने के लिये नियामक कार्यवाही।
12. ग्रामोद्योग व आवास क्षेत्र में निवेशकों को प्रोत्साहन ।

---

18 *दैनिक जागरण (वाराणसी) 8 अप्रैल 2004*

13. अनौपचारिक क्षेत्र में उद्यमों को तकनीकी ऋण व विपणन सहयोग पर विशेष बल।
14. निगमित करों में एक नये प्रकार की विकास रियायत देने की पहल।
15. प्रोद्यौगिकी आयात को उदार बनाना।
16. राजकोषीय अनुशासन बहाल करना।
17. श्रम आधारित उद्योगों के विकास के लिये एक विशेष मिशन का गठन।
18. अधिग्रहण एवं विलय के जरिये कायम होने वाले एकाधिकार को रोकने के लिये नियामक प्रणाली विकसित करना आदि।

अपने–अपने दृष्टि पत्रों व घोषणा पत्रों के आलोक में दोनों ही गठबंधनों ने चुनावी महासमर में बाजी मार लेने की गरज से अपने प्रचार तंत्र का सब कुछ झोंक देने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ा। इन दोनों गठबंधनों के समानान्तर वामपंथी व कुछ अन्य दल थे जो किसी भी गठबन्धन के साथ नहीं थे किन्तु चुनाव बाद परिदृश्य को प्रभावित करने की क्षमता से लैस होने के लिये अपनी एढ़ी चोटी का जोर लगा रहे थे। वामपंथियों की पहली प्राथमिकता तो थी तीसरे मोर्चे के पुनर्जीवित होने की स्थिति में उसे सशक्त करना और उसका नेतृत्व करना अन्यथा धर्मनिरपेक्षता के नाम पर काँग्रेसी गठबन्धन को सहयोग देना। चुनावी महाभारत के इन महानायकों के बीच मतों की जंग कुल पांच चरणों में, 20, 22 व 26 अप्रैल तथा 5 व 10 मई को सम्पन्न हुई। चुनावी उत्सव का सबसे अहम् मोड़ होता है मतगणना और परिणामों की घोषणा, जो 13 मई 2004 को सम्पन्न हुई।

चुनाव परिणाम

चौदहवीं लोकसभा के परिणाम आशाओं और अनुमानों से सर्वथा अलग रहे। विभिन्न माध्यमों से कराये गये चुनाव पूर्व व चुनाव बाद सर्वेक्षणों के अनुमान के आधार पर भावी लोकसभा की जो तस्वीर बनी, वास्तविक परिणामों के आने तक वह धुंधली हो चुकी थी। इन सर्वेक्षण अनुमानों में राजग की काँग्रेस गठबन्धन पर बढत दिखायी गई थी ओर उसे बहुमत के आस–पास दिखाया गया था। किन्तु परिणाम आने पर तस्वीर उलटी दिखायी दी। हाँ एक बात अवश्य सच साबित हुई कि चौदहवीं लोकसभा त्रिशंकु होगी अर्थात किसी दल अथवा किसी गठबन्धन को लोकसभा में पूर्ण बहुमत नहीं प्राप्त होगा। वास्तव में ऐसा ही हुआ। सबसे बड़े दल और गठबन्धन के रूप में उभरे काँग्रेस को मात्र 219 सीटें मिली जो बहुमत से बहुत दूर था और उसे सरकार बनाने के लिये वामपंथियों और अन्य गैर–राजग दलों के सहयोग दलों के सहायता की आश्वयकता आन पड़ी।

2004 के लोकसभा चुनावों में विभिन्न गठबन्धनों और दलों को प्राप्त सीटों का विवरण निम्नवत है–[19]

तालिका 6.1

काँग्रेस गठबन्धन (संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन)

1	काँग्रेस	145
2	राष्ट्रीय जनता दल	21
3	द्रविड़ मुनेत्र कड़गम	16
4	राष्ट्रवादी काँग्रेस पाटी	09
5	पी0 एम0 के0	06
6	तेलंगाना राष्ट्र समिति	05
7	झारखण्ड मुक्ति मोर्चा	05
8	एम0डी0एम0के0	04
9.	लोक जनशक्ति पार्टी	04
10.	पी0डी0पी0	01
11.	रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इण्डिया (ए)	01
12.	मुस्लिम लीग	01
13.	निर्दल	01
	कुल योग	**219**

19 *द हिन्दू, दिल्ली, 20 मई 2004, स्पेशल सप्लीमेन्ट पी.पी.ए.ई. 7*

अन्य दल

1.	समाजवादी पार्टी	36
2.	बहुजन समाजवादी पार्टी	19
3.	राष्ट्रीय लोक दल	03
4.	जनता दल (से)	03
5.	अगप	02
6.	सजपा	01
7.	नेशलन कान्फ्रेन्स	02
8.	एम0एल0पी0	01
9.	एम0आई0एस0	01
10.	निर्दलीय	02
	कुल योग	**70**

विभिन्न गठबन्धनों को अलग-अलग राज्यों में मिले सीटों व प्राप्त मतों के प्रतिशत का विवरण निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है–[20]

तालिका 6.2

राज्य	कुल सीट	पड़े कुल मतो का प्रतिशत	गठबन्धन											
			काँग्रेस+			राजग			वाम			अन्य		
			लड़ी गई सीट संख्या	जीती सीटें	प्राप्त मत प्रतिशत	लड़ी गई सीट संख्या	जीती सीटें	प्राप्त मत प्रतिशत	लड़ी गई सीट संख्या	जीती सीटें	प्राप्त मत प्रतिशत	लड़ी गई सीट संख्या	जीती सीटें	प्राप्त मत प्रतिशत
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15
आन्ध्र प्रदेश	42	69.9	41	34	48.8	42	.5	41.5	02	02	2.3	2	1	1.2
अरू0 प्रदेश	02	56.3	02	00	29.9	02	02	53.8	–	–	–	–	–	–
असम	14	69.1	14	09	35.1	14	03	30.7	–	–	–	14	02	20.9
बिहार	40	58.7	36	26	44.3	37	11	37.1	06	00	1.9	–	–	–
छत्तीसगढ़	11	52.1	11	01	40.2	11	10	47.8	–	–	–	–	–	–
दिल्ली	07	47.1	07	06	54.8	07	01	40.7	–	–	–	–	–	–
गुजरात	26	45.2	26	12	45.1	26	14	47.4	–	–	–	–	–	–
गोआ	02	58.7	02	01	45.8	02	01	46.8	–	–	–	–	–	–

20 वही पृष्ठ ए.ई. 1

हरियाणा	10	65.7	10	09	42.1	10	01	17.2	–	–	–	19	0	28.6
हिमाचल प्रदेश	04	59.7	04	03	51.9	04	01	44.2	–	–	–	–	–	–
जम्मू–कश्मीर	06	35.2	06	04	39.9	06	00	23.00	–	–	–	06	02	22.8
झारखण्ड	14	55.6	13	12	37.7	14	01	33.0	03	01	5.8	–	–	–
केरल	20	75.6	20	01	38.4	20	01	12.1	20	18	46.0	01	00	2.2
कर्नाटक	28	66.8	28	08	36.8	28	18	36.7	–	–	–	28	02	20.4
मध्यप्रदेश	29	48.1	29	04	34.1	29	25	48.1	–	–	–	–	–	–
महाराष्ट्र	48	54.4	47	23	44.4	48	25	42.7	–	–	–	61	0	4.2
मेघालय	02	52.6	02	01	45.5	02	01	36.9	–	–	–	–	–	–
मिजोरम	01	63.4	01	00	45.7	01	01	52.5	–	–	–	–	–	–
मणिपुर	02	56.2	02	01	37.0	02	00	16.0	–	–	–	01	–	21.2
नागालैण्ड	01	91.7	01	00	25.8	01	01	73.1	–	–	–	–	–	–
उड़िसा	21	66	21	02	40.4	21	18	49.3	–	–	–	01	01	1.5
पंजाब	13	61.6	11	02	34.2	13	11	44.8	02	00	4.3	19	00	11.5
राजस्थान	25	49.9	25	04	41.4	25	21	49.0	–	–	–	–	–	–
सिक्किम	01	77.9	01	00	27.4	01	01	69.8	–	–	–	01	00	1.5
तमिलनाडू	39	60.8	35	35	51.5	39	00	34.9	04	04	5.9	–	–	–
त्रिपुरा	02	66.9	0.2	00	14.5	02	00	12.9	02	02	68.8	–	–	–
उत्तर प्रदेश	80	48.2	79	09	12.6	80	11	23.0	–	–	–	649	60	60.9
उत्तरांचल	05	48.1	05	01	38.3	05	03	41.0	–	–	–	05	01	7.9
पं0 बंगाल	42	78	37	06	14.6	42	01	29.1	42	35	50.8	–	–	–
अण्डमान निकोबार	01	63.7	01	01	55.8	01	00	35.9	–	–	–	–	–	–
चण्डीगढ़	01	50.9	01	01	52.1	01	00	35.2	–	–	–	–	–	–
दादर और नगर हवेली	01	69	01	00	25.7	01	00	15.6	–	–	–	01	01	40.9
दमनदीप	01	70.2	01	01	49.5	01	00	48.4	–	–	–	–	–	–
लक्ष्यद्वीप	01	81.5	01	00	48.8	01	01	49	–	–	–	–	–	–
पोण्डिचेरी	01	76	01	01	49.9	01	00	35.6	–	–	–	–	–	–

2004 के चुनाव परिणाम चौकाने वाले थे। सभी इस बात से आश्चर्य चकित थे कि किसी भी चुनाव पूर्व अनुमानो या चुनाव बाद सर्वेक्षणों में राजग विरोध की लहर का किसी को पता क्यों नहीं चल सका? वास्तव में 2004 के जनादेश की व्याख्या कर पाना बड़ा कठिन कार्य है। किसी पूर्वाग्रह से प्रेरित होकर किसी के पक्ष में या किसी के विरोध में इसे इंगित किया तो जा सकता है। क्या यह जानदेश राजग व भाजपा के नीतियों के विरूद्ध था? यदि हाँ कहा जाय तो प्रश्न उठता है कि मध्य प्रदेश, राजस्थान, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, महाराष्ट्र, कर्नाटक और पंजाब जैसे राज्यों में इस गठबन्धन को भारी सफलता क्यों मिली? क्या यह जनादेश काँग्रेस नीत गठबन्धन के पक्ष में था? यदि हाँ तो उपर्युक्त राज्यों के अलावा उत्तर प्रदेश, बंगाल, केरल, आदि राज्यों में काँग्रेस को भारी शिकास्त का मुँह क्यों देखना पड़ा? वास्तव में यह जनादेश एक खंडित जनादेश था जो न तो किसी के पक्ष में था न किसी के विरोध में सब कुछ क्षेत्रीय आवश्यकताओं, आकांक्षाओं और क्षेत्रीय राजनीतिक अन्तःक्रिया व गठजोड़ के गणित की परिणति थी। यदि तटस्थ रूप से इस जनादेश का विश्लेषण किया जाये तो हम पायेंगे कि अलग–अलग राज्य में वर्ष 2004 के जनादेश का अलग–अलग संदेश है। अब इन अलग–अलग खण्डों का योग जिसके पक्ष में उभरा वह इसे अपने पक्ष में आने वाले जनादेश का भ्रम पाल सकता है। कुल मिलाकर चुनाव परिणामों से जो तस्वीर उभर कर सामने आयी उससे इतना तो स्पष्ट था कि राजग सरकार बनाने की स्थिति में नहीं है। दूसरा विकल्प काँग्रेस नीत गठबंधन का था जो बिना वामपंथियों की मद्द के सरकार का गठन नहीं कर सकती थी। तीसरे मोर्चे के खड़े होने की कोई संभावना नहीं थी। अतः दूसरा विकल्प, वामपंथी सहयोग से काँग्रेस नीत गठबंधन की सरकार सरकार गठन के लिये अधिक उपयुक्त था।

सरकार का गठन

त्रिशंकु लोकसभा की स्थिति में मंत्रिमण्डल का गठन कठिन होता है। यह कार्य तब और कठिन हो जाता है जब भिन्न–भिन्न विचारों और आकांक्षाओं वाले सहयोगियों की साझा सरकार बननी हो और नेतृत्व की स्थिति स्पष्ट न हो। ऐसे में अधिक से अधिक लाभ की स्थिति प्राप्त करने के लिये दबाव और सौदेबाजी की राजनीति कभी परोक्ष तो कभी अपरोक्ष रूप से उभर कर सामने आती है। हर घटक अपने–अपने राजनीतिक हितों को ध्यान मे रखकर सरकार में शामिल होता है या समर्थन देता है। वर्ष 2004 का परिदृश्य इससे कुछ अलग नहीं था। जहां तक बहुमत का प्रश्न है किसी भी गठबन्धन को बहुमत नहीं मिला था। काँग्रेस नीत गठबन्धन सबसे बड़ा गठबन्धन था किन्तु वह भी

बहुमत की जादूई रेखा से दूर था, किन्तु उसे वामपंथी व कुछ अन्य दलों के समर्थन की उम्मीद थी। वैसे भी चुनाव परिणाम आने से पूर्व वामपंथी भरसक तीसरे मोर्चे के सरकार की संभावनयें तलाशते रहे किन्तु उन्होंने यह भी घोषित कर रखा था कि आवश्यकता पड़ने पर[21] वे काँग्रेस को भी समर्थन दे सकते है या काँग्रेसी नेतृत्व वाली सरकार में शामिल भी हो सकते हैं।[22] काँग्रेस से गठबंधन न हो पाने के बावजूद बसपा अध्यक्ष मायावती ने भी काँग्रेस के समर्थन की घोषणा कर दी।[23] समाजवादी पार्टी, जो उत्तर प्रदेश में बससे बड़े दल के रूप में उभरी थी, उसने अपने विकल्प खुले रखे थे किन्तु 14 मई को माकपा नेता सुरजीत सिंह ने यह स्पष्ट किया कि काँग्रेस नीत सरकार में मुलायम शामिल होंगे।[24] इस प्रकार नये गठबन्धन के लिये बहुमत की समस्या नहीं रही। चूँकि वापमपंथियों के पास 61 सांसद थे इसलिए केवल उनके काँग्रेस के पक्ष में आ जाने से बहुमत का आँकड़ा पूरा हो जाता था इसलिए काँग्रेस ने उत्तर प्रदेश की दो बड़ी पार्टियों सपा और बसपा को कोई विशेष महत्व नहीं दिया।

यद्यपि काँग्रेस गठबन्धन ने सरकार के नेतृत्व अर्थात भावी प्रधानमंत्री के प्रश्न पर चुनाव के अन्त तक मौन कायम रखा था किन्तु परिणाम आ जाने के बाद इतना तो स्पष्ट हो गया था कि गठबन्धन का सबसे बड़ा दल होने के नाते नेतृत्व काँग्रेस के हाथ में होगा और काँग्रेस किसी भी कीमत पर सोनिया गाँधी, जो पार्टी अध्यक्षा भी थी, को ही प्रधानमंत्री बनाना चाहेगी। किन्तु सोनिया गाँधी के विदेशी मूल का मुद्दा उनके लिये बाधक था।

किन्तु विदेशी मूल की आशंका निर्मूल साबित हुई। वामपंथी दलों ने स्पष्ट कर दिया कि सोनिया गाँधी के प्रधानमंत्री बनाये जाने पर कोई आपत्ति नहीं है। इसी मुद्दे के आधार पर काँग्रेस से अलग हुए राकांपा नेता शरद पवार ने भी इस मुद्दे पर कोई आपत्ति नहीं की। अन्य सहयोगियों ने पहले भी इस प्रश्न पर असहमति नहीं व्यक्त की थी इसलिए काँग्रेस के लिए सोनिया को अपना नेता चुनने में कोई विशेष असमंजस की स्थिति नहीं थी। इसी क्रम में 15 मई को हुई एक बैठक में काँग्रेस संसदीय दल ने सोनिया गाँधी को अपने संसदीय दल का नेता चुन लिया। इसके साथ ही उनके प्रधानमंत्री बनने का रास्ता अब लगभग साफ हो चुका था।[25] इस समय तक कुछ

---

21 *दैनिक जागरण (वाराणसी) 11 मई 2004*
22 *वही, 14 मई 2004*
23 *वही*
24 *वही, 15 मई 2004*
25 *द हिन्दू (दिल्ली) 16 मई, 2004*

सहयोगियों को छोड़ कर अधिकाँश दलों के समर्थन पत्र काँग्रेस नेतृत्व को प्राप्त हो चुके थे। अन्य दलों से बराबर सम्पर्क बनाये रखते हुए उनके समर्थन पत्र प्राप्त करने के प्रयास जारी थे। इसी प्रकार 16 मई 2004 को गठबन्धन दलों की एक बैठक में सर्वसम्मति से सोनिया गाँधी को गठबन्धन का नेता चुन लिया गया। सोनिया गाँधी के नाम का प्रस्ताव द्रमुक अध्यक्ष करूणानिधि ने किया और उसका समर्थन राकांपा नेता शरद पवार, राजद नेता लालू प्रसाद यादव तथा अन्य ने किया।[26] इस प्रकार काँग्रेस नीत गठबन्धन के नेतृत्व की समस्या भी समस्या न रही। लगभग सभी सहयोगी दलों के समर्थन पत्र प्राप्त हो चुके थे।

नाटकीय परिवर्तन

जबकि यह लगभग सुनिश्चित हो चुका था कि सोनिया गाँधी भारत की अगली प्रधानमंत्री होंगी, उन्होंने यह घोषणा कर सबाके चौंका दिया कि वे प्रधानमंत्री पद धारण नहीं करने वाली। यद्यपि इस तरह की आशंका के बादल पहले ही मंडरा रहे थे और 17 मई 2004 को काँग्रेस के वरिष्ठ नेता प्रणव मुखर्जी ने इन आशंकाओं को महज अफवाह[27] कहा, किन्तु 18 मई 2004 को सुबह से ही स्थिति साफ होने लगी थी। इसी दिन शाम को संसद भवन के केन्द्रीय कक्ष में काँग्रेस के नवनिर्वाचित सांसदों की बैठक में सोनिया गाँधी ने अपने निर्णय की औपचारिक घोषणा की। उन्होंने कहा *"वे अपनी अन्तरात्मा की आवाज पर फैसला कर रही हैं.....मै आपसे अपील करती हूँ कि आप मेरा फैसला समझें। मैं यह फैसला बदलने वाली नहीं हूँ............आपने मुझ में जो विश्वास जताया उसके लिये मैं आभारी हूँ लेकिन मेरा पहला लक्ष्य देश में धर्मनिरपेक्ष राजनीति की बहाली है, जिसमें हमने एक लड़ाई जीती है, लेकिन युद्ध नहीं। मेरा लक्ष्य एक धर्मनिरपेक्ष और मजबूत सरकार देना है।*[28] काँग्रेस के नेताओं और सहयोगी दल के नेताओं के भारी दबाव के बाबजूद सोनिया गाँधी ने अपना फैसला नहीं बदला।

सोनिया गाँधी के प्रधानमंत्री बनने से इन्कार करने के बाद काँग्रेस को एक ऐसे नेतृत्व को सामने लाना था जो सोनिया गाँधी, काँग्रेस पार्टी और गठबन्धन के सहयोगियों को समान रूप से स्वीकार्य हो। इस सम्बन्ध में काँग्रेस संसदीय दल की नेता चुनी गई श्रीमती गाँधी ने पहल करते हुए डॉ0 मनमोहन सिंह को "सरकार बनाने के लिए संसद में

---

26 द हिन्दू, (दिल्ली) 17 मई, 2004
27 वही 18 मई 2004
28 दैनिक जागरण 19 मई 2004

काँग्रेस पार्टी का नेता मनोनीत किया।"[29] नये नेता के मनोनय के बाद गठबन्धन के सहयोगी दलों से नये सिरे से समर्थन पत्र प्राप्त करने की आवश्यकता थी क्योंकि पहले दिये गये समर्थन पत्र सोनिया गाँधी के नेतृत्व में बनने वाली सरकार के लिये थे। बदली हुई परिस्थितियों में सहयोगी दलों से मनमोहन सरकार के लिए भी समर्थन पत्र हासिल कर लिये गये।[30]

इसी क्रम में 19 मई 2004 को काँग्रेस संसदीय दल लगातार दूसरी, बैठक में काँग्रेस संसदीय दल के संविधान में संशोधन किया गया। ऐसा करना इसलिए आवश्यक हो गया था कि सोनिया गाँधी काँग्रेस संसदीय दल की नेता चुनी गई थी ओर संविधान तथा परम्परानुसार संसदीय दल का नेता ही प्रधानमंत्री होता है। किन्तु उन्होंने प्रधानमंत्री बनने से स्पष्टतः इन्कार कर दिया पर संसदीय दल की नेता वे अब भी थीं। काँग्रेस उनके नेतृत्व की केन्द्रीय स्थिति बनाये रखना चाहती थीं। इसलिए संसदीय दल के संविधान में संशोधन करके संसदीय दल के अध्यक्ष पद की व्यवस्था की गई। सोनिया गाँधी को पुनः संसदीय दल का अध्यक्ष चुना गया। तथा संसदीय दल संविधान के उपबन्ध 5 में सशोधन करते हुए यह प्रस्तावित किया गया कि दल के अध्यक्ष को दोनों सदनों में दल के नेता, उपनेता और सचेतक नामित करने का अधिकार होगा। संसदीय दल अध्यक्ष को यह भी अधिकार होगा कि वे सरकार के नेतृत्व के उद्देश्य से ससंदीय दल का नेता नामित कर सकें। ये प्रस्ताव ए0आर0 अन्तुले द्वारा प्रस्तुत किये गये और इसका समर्थन के0 करूनाकरन द्वारा किया गया।[31]

अपनी इस नयी हैसियत से ही सोनिया गाँधी ने मनमोहन सिंह को सरकार बनाने के लिए काँग्रेस संसदीय दल का नेता नामित किया। मनमोहन सिंह द्वारा, सहयागी दलों के समर्थन पत्र के साथ राष्ट्रपति के समक्ष सरकार बनाने का दावा प्रस्तुत करने के बाद राष्ट्रपति ने उन्हें प्रधानमंत्री नियुक्त किया।

दबाव दुविधा या भावी रणनीति

भावी सरकार का नेतृत्व, स्वरूप और गठन सुनिश्चित हो जाने के बाद भी कुछ प्रमुख सहयोगियों के सरकार के समर्थन का स्वरूप निश्चित नहीं हो पा रहा था। इस सम्बन्ध में अधिकांश सहयोगियों ने सरकार में शामिल होने का निर्णय कर लिया था किन्तु द्रमुक और वाम मोर्चे का रूख स्पष्ट नहीं था। जहां तक द्रमुक का सवाल है,

---

29 द हिन्दू (दिल्ली) 20 मई 2004
30 वही, पृ0 12
31 द हिन्दू (दिल्ली) 20 मई 2004

उसने पहले तो काँग्रेस के नेतृत्व में बनने वाली गठबन्धन सरकार में शामिल न होने का निर्णय लिया। पार्टी ने प्रतीक्षा करो और देखो की नीति अपनाते हुए कोई निर्णय लेने के लिए पार्टी अध्यक्ष करूणानिधि को अधिकृत किया।[32] समवतः यह सरकार में अधिक और सबल हिस्सा तथा अधिक लाभ प्राप्ति के लिए दबाव बनाने की रणनीति थी। काँग्रेस ने करूणानिधि पर सरकार में शामिल होने हेतु राजी करने के लिये वी०पी० सिंह व राम विलास पासवान को लगाया[33] जिससे द्रमुक के रूख में बदलाव आया और पार्टी अन्ततः सरकार में शामिल होने के लिए राजी हो गई।[34]

इसी प्रकार सरकार में शामिल होने के मुद्दे पर वामपंथी खेमे में भी मतभेद था। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और फारवई ब्लाक के नेता सरकार में शामिल होने के पक्षधर थे। इतना ही नहीं माकपा भी इस मुद्दे पर बँटी हुई थी। सरकार में शामिल होने का समर्थन जहां सुरजीत सिंह, ज्योति बसु, सोमनाथ चटर्जी और सीताराम यचुरी कर रहे थे वहीं बंगाल के अधिकाँश व केरल के लगभग सभी नेता सरकार में शामिल होने के विरोधी थे।[35] सरकार में सम्मिलन के पक्ष में में तर्क थे कि साम्प्रदायिकता के खिलाफ जनादेश के अनुरूप न सिर्फ सरकार बनाने बल्कि उसे टिकाऊ बनने की ताकत देने के लिए उसमें भागीदारी जरूरी है। साथ–साथ गरीबों की तरफदारी में आर्थिक नीतियों को प्रभावित करने और वैश्वीकरण के दौर में सम्पूर्ण पूँजीपरस्ती से बचाव के लिए भी सरकार में शामिल होने की जरूरत है।[36] सरकार में भागीदारी के खिलाफ एक तो वामपंथ का पारंपरिक तर्क था कि जिस गठबन्धन का नेतृत्व वामपंथ के हाथ में न हो उसकी नीतियों को भी एक सीमा से अधिक प्रभावित नहीं किया जा सकता। केरल और पं० बंगाल के सन्दर्भ में यह व्यावहारिक तर्क भी दिया गया कि दोनो राज्यों में कांग्रेस की नीतियों का विरोध कर ही वाम मोर्चे ने भारी विजय पाई है और उन नीतियों में भागीदार दिखना आगामी विधान सभा चुनावों में उसे भारी पड़ेगा।[37] अतः 17 मई 2004 को वामदलों की एक संयुक्त बैठक में काँग्रेस नीत गठबन्धन सरकार में सम्मिलित न होते हए सामान्य साझा कार्याक्रम के आधार पर उसे बाहर से समर्थन देने का फैसला किया।[38] वामपंथियों का यह निर्णय वास्तव में उनकी भावी रणनीति का हिस्सा है जिसके अन्तर्गत वे बिना किसी उत्तरदायित्व का वहन किये सत्ता पर मनोनुकूल नियंत्रण रखने का प्रयास करेंगे

32 द हिन्दू (दिल्ली)16 मई 2004
33 दैनिक जागरण, 17 मई 2004
34 द हिन्दू (दिल्ली) 20 मई 2004
35 आउट लुक, 31 मई 2004, पृ0–37
36 वही, पृ0 36
37 वही, पृ0 37
38 द हिन्दू (दिल्ली) 18 मई 2004

और केरल और पं0 बंगाल में होने वाले 2006 के विधानसभा चुनावों में अवसर अनुकूल मार्ग पकड़ने के लिये स्वतंत्र होंगे।

मंत्रिमण्डल का गठन

तमाम विघ्नं बाधाओं को पार करते हुए नाटकीय परिवर्तनों, दुविधाओं और दबावों को झेलते हुए मनमोहन सिंह के नेतृत्व में 68 सदस्यीय मंत्रिमंण्डल ने 22 मई 2004 को शपथ ग्रहण किया। इनमें 28 कैबिनेट मंत्री, 10 स्वतंत्र प्रभार राज्य मंत्री और 29 राज्य मंत्री थे।[39] नये मंत्रिमण्डल में शामिल 9 दलों को उनकी संख्यानुसार मिले पदों का विवरण निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है–

तालिका 6.3

क्रमांक	दला का नाम	दल के सांसदों की संख्या	कैबिनेट मंत्री	राज्यमंत्री	कुल मंत्री
1	2	3	4	5	6
1	काँग्रेस	145	18	25	43
2	राजद	21	02	06	08
3	द्रमुक	16	03	04	07
4	राकांपा	09	01	02	03
5	पी0एम0के0	06	01	01	02
6	टी0आर0एस0	05	01	01	02
7	झामुमो	05	01	–	01
8	लोक जनशक्ति	04	01	–	01
9.	मुस्लिम लीग	01	–	01	01

मंत्रियों का कोटा तय हो जाने और शपथ ग्रहण हो जाने के बाबजूद समस्यायें कम नहीं हुई थी। जैसा कि गठबन्धन की राजनीति में होना आम बात है, सहयोगी दलों ने बड़े–बड़े मंत्रालयों के लिए पैतरेबाजी और सौदेबाजी प्रारम्भ कर दी थीं। रामविलास पासवान स्वयं के लिए रेल मंत्रालय चाहते थे और सेना में "दलित के रेजीमेन्ट" बनाने की टेढ़ी माँग रखी। जबकि लालू प्रसाद यादव अपने लिये उपप्रधानमंत्री का पद और गृह

---

39 *दैनिक जारण, 23 मई 2004*

मंत्रालय की माँग कर रहे थे। साथ ही उनकी एक इच्छा यह भी थी कि रेल मंत्रालय पासवान को न मिले।[40] फिर भी किसी तरह से मंत्रालयों का मामला भी हल कर लिया गया। अधिकाँश महत्वपूर्ण विभाग काँग्रेस के हिस्से में गये। विभागों के बँटवारे के बाद मात्र एक समस्या आई–द्रमुक की नाराजगी। द्रमुक की शिकायत थी कि उसे पहले से तय विभाग नहीं मिले हैं इसलिए उसके सातों मंत्रियों ने अपने–अपने विभागों का कार्यभार तक नहीं संभाला। द्रमुक अध्यक्ष करूणानिधि ने कहा कि उनकी पार्टी का मौजूदा केन्द्र सरकार में बने रहना प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह द्वारा पहले से तय विभागों के मिलने पर निर्भर करेंगा।[41] इस समस्या के समाधान के लिये द्रमुक नेता दयानिधि मारन और काँग्रेस नेताओं में दो बार वार्ता हुई किन्तु समस्या के समाधान के लिए टी0आर0एस0 के चन्द्रशेखर राव सरकार के संकट मोचक के रूप में उभरे। उन्होने प्रधानमंत्री से स्वयं को मिले जहाज रानी मंत्रालय छोड़ने की पेशकश की। यह मंत्रालय सड़क परिवहन एवं राजमार्ग मंत्री टी0आर0 बालू को अतिरिक्त प्रभार के रूप में दिया गया। इसकी सूचना राष्ट्रपति को दी गई जिसे उनकी स्वीकृति भी मिल गई। इसके अतिरिक्त द्रमुक की माँग के अनुसार एस0एस0 पलानीमणि सिक्कम को वाणिज्य एवं उद्योग मंत्रालय से हटाकर वित्त मंत्रालय में राज्य मंत्री बना दिया गया। राजद के तसलीमुद्दीन, जिन्हें पहले भारी उद्योग मंत्रालय में राज्यमंत्री बनाया गया था, अब कृषि, खाद्य एवं नागरिक आपूर्ति, उपभोक्ता मामले और सार्वजनिक वितरण मंत्रालय में राज्यमंत्री बनाये गये। काँग्रेस के ई0वी0के0 इलनगोवन को पेट्रोलियम एवं प्राकृति गैस मंत्रालय से हटाकर वाणिज्य एवं उद्योग मंत्रालय में राज्यमंत्री बनाया गया।[42] इस प्रकार संकट बढ़ने से पूर्व ही इसका समाधान कर लिया गया अन्यथा नई गठबन्धन सरकार के लिए सिर मुंडाते ही ओले पड़ने जैसी बात साबित होती।

न्यूनतम साझा कार्यक्रम

गठबन्धन सरकार को सम्यक रूप से बिना किसी अड़चन के चलाया जा सके इसके लिए गठबन्धन के एक संयोजक नेता ओर एक न्यूनतम साझा कार्यक्रम की आवश्यकता होती है जिस पर सभी घटक एक मत हों। इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए सर्व प्रथम तो संप्रग ने सोनिया गाँधी को गठबन्धन का अध्यक्ष चुना और उन्हें गठबन्धन के संयोजक व प्रवक्ता की नियुक्ति के लिए अधिकृत किया। साथ ही कई

---

40 *दैनिक जागरण, 20 मई 2004*
41 *दैनिक जागरण, 25 मई 2004*
42 *वही, 26 मई 2004*

दिनों के विचार विमर्श और सभी सहयोगियों के परामर्श से तैयार न्यूनतम साझा कार्यक्रम की आवश्यकता होती है जिस पर सभी घटक एक मत हों। इस आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए सर्वप्रथम तो संप्रग ने सोनिया गाँधी को गठबन्धन का अध्यक्ष चुना और उन्हें गठबन्धन के संयोजक व प्रवक्ता की नियुक्ति के लिए अधिकृत किया। साथ ही कई दिनों के विचार विमर्श और सभी सहयोगियों के परामर्श से तैयार न्यूनतम साझा कार्यक्रम 27 मई 2004 को जारी किया गया। 24 पृष्ठों वाले इस साझा कार्यक्रम में सरकार चलाने के छः आधारभूत सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है। इस न्यूनतम साझा कार्यक्रम की महत्वपूर्ण बातें निम्न हैं।[43]

1. नौकरियों में ठेका प्रथा समाप्त होगा तथा बेरोगारों को साल में कम से कम 100 दिन के रोजगार की गारंटी सुनिश्चित की जायेगी। इस संबंध में एक कानून बनाया जायेगा जिसे राष्ट्रीय रोजगार गारंटी कानून कहेंगे, जिसके अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र की निर्माण परियोजनाओं में गाँवों के हर परिवार और शहर के गरीब व निम्न मध्यम वर्ग के परिवार के कम से कम एक सदस्य को काम मिलेगा। सरकार ऐसे उद्योगों को बढ़ावा देगी जिनमें रोजगार के आवसर अधिक हैं।
2. कृषि अनुसंधान एवं विस्तार, ग्रामीण क्षेत्र के बुनियादी ढ़ाँचे और सिंचाई क्षेत्र में निवेश बढ़ाने की गारंटी देते हुए कार्यक्रम में कहा गया कि निवेश की दृष्टि से सिंचाई क्षेत्र को प्राथमिकता दी जायेगी और सभी मौजूदा सिंचाई परियोजनाओं को समय से पूरा किया जायेगा।
3. सहकारी संस्थाओं के स्वायत्त और व्यावसायिक तरीके से कार्य क़रने के लायक बनाने के लिए संविधान संशोधन।
4. किसानों के सभी देयों का समय से भुगतान सुनिश्चित किया जाना।
5. मजदूरों की न्यूनतम निर्धारित मजदूरी का भुगतान सुनिश्चित करना।
6. शिक्षा क्षेत्र में सकल घरेल उत्पाद के छः प्रतिशत के बराबर खर्च करने के लिऐ सभी केन्द्रीय करों पर उपकर लगाना।
7. विधान मण्डलों तथा लोकसभा में महिलाओं के लिए एक तिहाई आरक्षण की व्यवस्था।
8. बच्चों के लिए सुविधाओं में वृद्धि तथा बाल श्रम निषेध के लिए कार्य करना।

---

43 *सी0एम0पी0 के मूल पाठ से, 28 मई 2004 से द हिन्दू (दिल्ली) के पृ0 12 पर प्रकाशित हुआ था।*

9. पंचायती राज व्यवस्था को और सुदृढ़ करना तथा गरीबी उन्मूलन और ग्रामीण विकास योजनाओं को लागू करने के लिये राज्यों को दिये जाने वाले कोष में न तो विलम्ब हो और न ही उसे किसी अन्य मद में खर्च किया जाय।
10. जम्मू कश्मीर के सम्बन्ध में कहा गया कि उसे विशेष राज्य का दर्जा देने वाले संविधान के अनु0 370 का अक्षारशः पालन होगा।
11. विदेश नीति में पूर्व परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए स्वतंत्र विदेश नीति पर चलते हुए विश्व संबंधों में बहुध्रुवीय नीति को बढ़ावा दिया जायेगा। पाकिस्तान से रिश्ते सामान्य बनाने की प्रक्रिया आगे बढ़ाते हुए उसके साथ हर विषय पर व्यवस्थित और सत्त आधार पर वार्ता की जायेगी।
12. असंगठित क्षेत्र के मजदूरों के कल्याण के लिए विशेष प्रयास किये जायेगें।
13. गाँवों तक बिजली पहुंचाने का कार्यक्रम 5 वर्ष में पूरा कर लिया जायेगा।
14. अयोध्या के संबंध में अदालती फैसले का इन्तजार।
15. नदियों को जोड़ने के प्रस्ताव का विस्तृत आकलन करवाना।
16. दृढ़ एवं सक्षम सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति वचन बद्धता।
17. पोटा समाप्त किया जायेगा।

न्यूनतम साझा कार्यक्रम के अन्त में कहा गया था कि यह न्यूनतम साझा कार्यक्रम प्रारम्भ है जो मुख्य प्राथमिकताओं नीतियों और कार्यक्रमों को रेखांकित करती है। संप्रग इसके क्रियान्वयन के लिए वचन बद्ध है और यह सी0एम0पी0 अगले सी0एम0पी0 का आधार स्तम्भ होगा। अगला सी0एम0पी0 होगा–Collective Maximum Performace.

मनमोहन सरकार की चुनौतियाँ

डॉ0 मनमोहन सिंह के लिए सबसे बड़ी चुनौती उनकी स्वयं की स्थिति को लेकर है। काँग्रेसी कार्य संस्कृति ने संसदीय परम्पराओं में एक नूतन अध्याय की वृद्धि की। आम तौर पर संसदीय शासन की परम्परानुसार बहुमत प्राप्त दल अथवा गठबन्धन के संसदीय दल द्वारा निर्वाचित व्यक्ति को प्रधानमंत्री नियुक्त किया जाता है। चौदहवीं लोकसभा के बाद काँग्रेस नीत गठबन्धन को वाममोर्चे के समर्थन्न से बहुमत मिला। काँग्रेस संसदीय दल ने सोनिया गाँधी को नेता चुना। संप्रग ने भी सोनिया को गठबन्धन का नेता चुना किन्तु उन्होंने प्रधानमंत्री बनने से इन्कार कर दिया। तब काँग्रेस संसदीय दल संविधान में संशोधन करते हुए श्रीमती गाँधी को संसदीय दल का अध्यक्ष चुना और उन्हें सरकार

चलाने हेतु दल के नेता का मनोनयन करने के लिए अधिकृत किया। इस प्रकार अपनी इस नयी हैसियत से सोनिया गाँधी ने मनमोहन सिंह को सरकार बनाने हेतु कॉंग्रेस संसदीय दल का नेता मनोनीत किया। इस प्रकार डॉ0 मनमोहन सिंह संसदीय दल के निर्वाचित नहीं मनोनीत नेता हैं जो इस बात की ओर संकेत करता है कि सत्ता का वास्तविक केन्द्र उनके पास न होकर उन्हें मनोनीत करने वाली प्राधिकारी में होगा जो जब चोहे अपने मूल्योंकन व सुविधानुसार नेतृत्व में परिवर्तन कर सकता है। इस प्रकार डॉ0 मनमोहन सिंह सरकार के नीतिगत और संवैधानिक प्रधान होंगे, टीम के मुखिया और समकक्षों में प्रथम होंगे किन्तु वास्तविक सत्ता कहीं और होगी।

इस स्थिति में मनमोहन सिंह सरकार और गठबन्धन के नेतृत्व तथा उस पर नियंत्रण और उसके संयोजन तथा समन्वय के सम्बन्ध में भी सुखद और स्वतंत्र स्थिति में नहीं रहेंगे। डॉ0 सिंह की योग्यता पर कोई प्रश्न चिन्ह नहीं उठाया जा सकता क्योंकि उन्होंने एक अर्थशास्त्री के रूप में विभिन्न पदों पर रहते हुए अपनी अमिट छाप छोड़ी है। वित्त मंत्री के रूप में कार्य करते हुए भारतीय अर्थव्यवस्था को सजाया–संवारा और विकास का नया रास्ता दिखाया किन्तु राजनीतिक दॉव–पेंच, जोड़–तोड़ और राजनीतिक गणित की कुशलता के संदर्भ में वे सन्देह के घेरे में हैं। इस सम्बन्ध में न तो उनका कोई राजनीतिक क्षेत्र है, न स्वार्थ है, न हीं विशेष सिद्धान्त है और न ही व्यापक जनाधार। ऐसे में उन्हें सबसे बड़ा संकट अपने दल से ही झेलना पड़ सकता है, जिसने उन्हें प्रधानमंत्री बनाया है। कॉंग्रेस में अनेक ऐसे नेता हैं जो राजनीति की संस्कृति में पल कर बड़े हुए हैं। उनकी अपनी–अपनी महात्वाकांक्षायें हैं और जोड़–तोड़ के जुगत की क्षमतायें भी। मनमोहन सिंह उनके लिये बाहरी घुसपैठिये के समान हैं। प्रधानमंत्री पद पर टकटकी लगाये बैठे इन नेताओं की तरफ से मनमोहन के विरूद्ध खतरनाक जाल बिछाये जा सकते हैं। इस सम्बंध में इतना ही कहा जा सकता है कि डॉ0 सिंह तभी तक निर्विघ्नं कार्य कर सकते हैं जब तक कि सोनिया गाँधी का आशीर्वाद उन्हें प्राप्त है, क्योंकि कॉंग्रेस पर नेहरू गाँधी वंश का दबदबा पूरी तरह से छाया हुआ है और फिलहाल उसे चुनौती देने की जुर्रत किसी भी कॉंग्रेसी नेता में नहीं है।

इस प्रकार डॉ0 मनमोहन सिंह सरकार के सूत्रों की असली बागडोर 10 जनपथ में होगी, जहाँ कॉंग्रेस अध्यक्ष और कॉंग्रेस संसदीय दल की निर्वाचित अध्यक्षा सोनिया गाँधी रहती हैं। मनमोहन सिंह को मिली सत्ता एक प्रकार से उधार और उपकार में मिली सत्ता है। जिसे उन्हें तब तक ढोना है जब तक श्रीमती गाँधी की रणनीतिक गणित की

आवश्यकतायें उन्हें इस बात की अनुमति दें। ऐसे में डॉ0 सिंह की स्थिति पूर्व सोवियत संघ के प्रधानमंत्री जैसी होगी, जो पार्टी महासचवि की नीतियों को क्रियान्वित करने का एक माध्यम मात्र होता था। निश्चय ही डॉ0 सिंह के प्रधानमंत्री बनने से लोगों में आशा की नयी स्फूर्ति का संचार हुआ है, और यदि उन्हें स्वतंत्रता पूर्वक कार्य करने दिया जाय तो वे अपनी योग्यता और क्षमता का प्रदर्शन करते हुए इन उम्मीदों को साकार भी कर सकते हैं। किन्तु परिस्थितियों ने उन पर बेड़ियाँ जकड़ रखी हैं। ऐसी स्थिति में काँग्रेसी कार्य संस्कृति के अनुरूप सरकार संचालन के दौरान मिलने वाले अपयश के तो वे भागी होंगे किन्तु यदि यश, सम्मान और पुरस्कार की वारिश होती है तो वह सत्ता के असली केन्द्र के हिस्से में जायेगी।

डॉ0 मनमोहन सिंह को संप्रग सरकार में शामिल घटक दलों से भी परेशानी हो सकती है। विशेष रूप से राजद, द्रमुक व राकांप से क्योंकि संप्रग के घटक वे दल हैं जो गैर–काँग्रेसवाद की खुराक पाकर पले–बढ़े हैं अपने–अपने क्षेत्र में अपनी–अपनी छोटी–बड़ी हैसियत व अस्तित्व की रक्षा इनके लिये सबसे बड़ी समस्या हैं। अपने इसी हैसियत अथवा अस्तित्व की रक्षा के लिए ये किसी गठबन्धन में शामिल होते हैं और इसी उद्देश्य से ये आवश्यकता पड़ने पर सरकार पर दबाव बनाने में भी नहीं चूकेंगे। राजद और द्रमुक ने विभागों के बँटवारे को लेकर जिस तरह से दबाव की राजनीति की भी वह इस बात का प्रत्यक्ष उदाहरण है। डॉ0 सिंह को इन घटक दलों के उचित अनुचित दबावों से निपटते हुए सरकार के स्थायित्व की चिन्ता करनी होगी।

संप्रग सरकार की सत्ता का दूसरा महत्वपूर्ण केन्द्र है–वाममोर्चा। वाम मोर्चा स्वतन्त्रता के बाद पहली बार 61 सदस्यों के साथ अपनी सबसे बड़ी भागीदारी लोकसभा में प्रदर्शित कर पाया है। वे सरकार में शामिल नहीं हैं किन्तु सरकार को बाहर से समर्थन दे रहे हैं। यदि यह कहा जाय कि यह वामपंथी समर्थन ही संप्रग सरकार की स्थिरता का आधार है तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। साम्यवादी राजनीति कुछ निहित सिद्धान्तों और आदशों से प्रेरित होती है। सत्ता से बाहर या सत्ता में रहते हुए वामवादी इन्हीं आदर्शों के अनुरूप आचारण करते हैं। अब तक भारतीय राजनीति में जहां–जहां और जब साम्यवादियों ने किसी अल्प मत सरकार को समर्थन दिया है, उनके कारण कभी सरकार नहीं गिरी है। यदि उनकी इस प्रतिबद्धता को ध्यान में रखते हुए विश्लेषण किया जाय तो एक नजर में साम्यवादियों से कोई खतरा नहीं नजर आता और वे जैसा कि उनके नेता

कहते हैं, सरकार के लिये परामशर्मदाता और चौकसी करने वाली एजेन्सी के रूप में कार्य करते रहेंगे।

किन्तु यहां समस्या का बिन्दु कुछ और ही है। यहां काँग्रेस और वाममोर्चे का सम्बन्ध दुविधा और दोहरे मानकों का शिकार है। सैद्धान्तिक रूप से वामदल संप्रग का हिस्सा नहीं है, किन्तु व्यवहार में उसके साथ है। सरकार में शामिल नहीं हैं किन्तु हर स्तर पर सरकार को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। वास्तव में काँग्रेस वाममोर्चा गठजोड–गठबन्धन की एक अनूठी अबूझ पहेली के दर्शन कराता है। पहली बात तो यह है कि वामपंथी कभी भी मनमोहन सिंह की आर्थिक नीतियों के समर्थक नहीं रहे हैं। उदारीकरण, भूमण्डलीकरण, विश्वबैंक, मुद्राकोष और विनिवेश के सम्बन्ध में उनके अपने दृष्टिकोंण हैं और इन्हीं के आधार पर वे राजग की नीतियों का विरोध करते रहे हैं। राजग की आर्थिक नीतियाँ कमोबेश वही थी, जो डॉ0 सिंह की वित्तमंत्री के रूप में रही है। अतः इन मुद्दों पर उनके साथ समन्वय बैठा पाना बहुत आसान नहीं होगा।

दूसरा तथ्य जो काँग्रेस और वाममोर्चे के गठबन्धन व्यवहार को रहस्यमय बना देता है वह अधिक महत्वपूर्ण है। काँग्रेस और वाममोर्चा जहां 2004 में कुछ राज्यों में सहयोगी के रूप में चुनाव लड़ रहे वहीं प0 बंगाल और केरल में एक दूसरे के विरूद्ध कट्टर प्रतिद्वन्दी के रूप में आमने–सामने थे।[44] इन दो राज्यों में दोनों ने न केवल एक दूसरे की नीतियों की कटु आलोचना की बल्कि एक दूसरे के विरूद्ध भीषण विष वमन करते हुए चुनाव प्रचार का संचालन भी किया और ध्यान रहे कि इन्हीं दोनो राज्यों से ही वाममोर्चे को अधिकांश सीटें मिली हैं। निश्चय ही इन दोनों राज्यों के मतदाताओं ने काँग्रेस व उसकी नीतियों को नकारते हुए वाममोर्चे के प्रति विश्वास व्यक्त किया। केरल में तो कांग्रेस का लगभग सफाया हो गया। ऐसे में केन्द्र में सरकार बनाने के प्रश्न पर दोनों का एक हो जाना मतदाता के साथ विश्वासघात नहीं होगा? निश्चय ही यह गठबन्धन की माया है, जिसमें *'कहीं धूप कहीं छाया है'*। राजनेताओं के पास अपने हर दृष्टिकोण हर कदम को सार्थक और जनहितकारी साबित करने के लिये आदर्शों की चाशनी है। वास्तव में सब कुछ सत्तागत स्वार्थों का खेल है।

वामदलों का सरकार में शामिल न होकर बाहर से समर्थन देना भी उनकी भावी रणनीति का हिस्सा हो सकता है। करेल और पं0 बंगाल में दो वर्ष बाद विधानसभा चुनाव होने वाले होंगे। यदि काँग्रेस का साथ देना चुनावों में उने लिए हितकर होगा तो वे

---

44 आन्ध्र प्रदेश, तमिलननाडू, उ0प्र0, बिहार आदि राज्यों में काँग्रेस–वाम मोर्चा साथ–साथ है।

सरकार को पूरी स्थिरता दे सकेंगे अन्यथा नकारात्मक स्थिति में वे बाहरी समर्थन का ताना–बाना समेटते हुए चुनावों में फिर काँग्रेस के विरूद्ध ताल ठोंकते नजर आयेंगे, जैसा कि द्रमुक ने ठीक चौदहवीं लोकसभा चुनावों से पूर्व राजग से सम्बन्ध तोड़ कर किया। कुल मिलाकर सरकार को वामपंथी समर्थन और सरकार की स्थिरता वामदलों के क्षेत्रीय राजनीतिक हितों की स्थिति पर निर्भर करेगा।

अब तक भारतीय राजनीति में गठबन्धन के निर्माण हेतु अनुकूलन के दो आधार रहे हैं–गैर–कांग्रेसवाद और गैर–भाजपावाद। और ये दोनों ही आधार गठबन्धन का निर्माण करने वाले घटकों के राजनीतिक स्वार्थो और अपने अस्तित्व के प्रश्न से निर्धारित होते रहे हैं। जब तक पूरे भारत में काँग्रेस का वर्चस्व था और अस्तित्व के लिए खतरा केवल काँग्रेस से था तब तक गैर काँग्रेसवाद के नाम पर विपक्षी दल मिलते–बिरखते रहे। नब्बे के दशक में भारतीय राजनीति में भाजपा के रूप में दूसरा सशक्त ध्रुव उभरा। अब दलों को काँग्रेस के साथ–साथ भाजपा के खतरे से भी जूझना था ऐसे में जिसके लिये कांग्रेस अनुकूल जान पड़ा। वह काँग्रेस के साथ हो लिया ओर जिसके लिये भाजपा ज़्यादा उपयोगी लगी वह भाजपा के साथ आ गया और इसी आधार पर दो गठबन्धनों का ध्रुवीकरण हुआ संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन और राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबन्धन। ऐसा नहीं कि दोनों ही गठबंधनों के सहयोगियों के बीच परस्पर सहज और सुखद स्थिति बनी रहती है। वास्तविकता तो यह है कि काँग्रेस के साथ आये दलों में गैर–काँग्रेसवाद की समानान्तर धारा विद्यमान है। इसी तहर भाजपा के साथियों में धर्म निरपेक्षता के आदर्श पर आधारित गैर–भाजपावादी करेन्ट मौजूद है। ऐसी स्थिति में छोटे शत्रु की तुलना में बड़े शत्रु से अपने अस्तित्व के लिये खतरा गठबन्धन के लिए "एडहेसिव" का काम करता है। ऐसे में संप्रग के घटकों के लिए भाजपा जब तक बड़ा खतरा रहेगी तब संप्रग की दृढ़ता बनी रहेगी। भाजपायी खतरा कम होने की स्थिति में गैर काँग्रेसी–धारा उभर सकती है, जो संप्रग के लिए खतरनाक हो सकता है।

भाजपा ने जिस तरह से अपने हार के कारणों का विश्लेषण करते हुए अपने पुराने "हिन्दूवादी" एजेन्डे पर लौटने के संकेत दिये हैं, उससे राजग के लिये भी खतरा बढ़ गया है।यदि भाजपा ऐसा करती है तो उसके सहयोगी उससे दूर हो सकते हैं और ऐसे में भाजपा अकेले पुनः कमजोर हो सकती है क्योंकि बदली हुई परिस्थितियों में किसी भी कट्टरवादी ऐजेण्डे को भारतीय राजनीति में लोकप्रियता नहीं मिल सकती। बिजली, पानी, बेरोजगारी, मंहगाई से त्रस्त जनता के लिए इन समस्याओं पर बात करने वाला

दल चाहिए न कि धर्म जाति की बात करने वाला यदि ऐसा होता है तो पुनः तीसरे मोर्चे के पुर्नजीवित होने की संभावना बढ़ सकती है।

संप्रग के लिए प्रेरणा का एक स्रोत जहां धर्मनिरपेक्षता है वहीं दूसरा स्रोत गरीबी, अभाव से जूझना व किसानो, मजदूरों व कमजोर वर्गों की बेहतरी के लिए कार्य करते हुए देश का तीव्र विकास करना है। न्यूनतम साझा कार्यक्रम में इन सभी आवश्यकताओं के सन्दर्भ में बुनियादी सिद्धान्तों और कार्यक्रमों के सम्बन्ध में गठबन्धन के घटकों के बीच आपसी सहमति बनी है। इस सम्बन्ध में एक शुभ संकेत यह है कि इन कार्यक्रमों को सरकार को बाहर से समर्थन दे रहे वामदलों का समर्थन भी प्राप्त है।

जहां तक नेतृत्व का प्रश्न है, सरकार के मुखिया डॉ0 मनमोहन सिंह विधितः व संवैधानिक नेता ही होंगे। गठबन्धन का नेतृत्व वस्तुतः सोनिया गाँधी के हाथ में होगा जिनके नेतृत्व क्षमता का आगामी वर्षों में परीक्षण होगा। अब तक की स्थिति के अनुसार सोनिया गाँधी संप्रग के घटक दलों व समर्थक वामदलों को समान रूप से स्वीकार्य है और उन्होंने अपनी नेतृत्व क्षमता व कुशलता का कुछेक अवसरों पर बेहतर परिचय भी दिया है।

अध्याय—सात

भारतीय राज व्यवस्था पर प्रभाव

अध्याय–सात

भारतीय राज व्यवस्था पर प्रभाव

राजनीति में घटने वाली नई घटनायें और नूतन प्रवृत्तियाँ सम्पूर्ण राज व्यवस्था व राजनीतिक संस्कृति को किसी न किसी रूप में प्रभावित करती हैं। इन प्रभावों की दिशा सकारात्मक भी हो सकती है और नकारात्मक भी। यहाँ राज विज्ञान के विद्यार्थी का नैतिक दायित्व हो जाता है कि वह इन दोनों ही पक्षों को बारीकी से विश्लेषण कर इनकी पहचान सुनिश्चित करें। राजनीति का लक्ष्य ही है शुभ का स्थापित करना और अशुभ को तिरोहित करना, धर्म की स्थापना और अधर्म का नाश। ऐसा करके हम न केवल व्यवस्था के विकारों को दूर कर सकेंगे बल्कि इसके समक्ष आने वाली चुनौतियों का भी सम्यक समाधान ढूँढ सकेंगे। इस सन्दर्भ में भारत की भावी पीढ़ियाँ 1998 के चुनाव को ऐसे चुनाव के रूप में याद करेंगी जिसके दौरान भारतीय राजनीति में संठबंधनों और साझा सरकारों की अपरिहार्यता अन्ततः स्वीकार कर ली गई है। पहली बार सभी राजनीतिक दलों ने गठजोड़ों को चुनावी सफलता की कुँजी के रूप में स्वीकार किया। अक्सर तिरस्कार झेलने वाली खिचड़ी ही आज की राजनीति का प्रमुख चरित्र बन गई है। देश की विशालता और विविधता के मद्देनजर गठबंधन की राजनीति आज की जरूरत भी बन गई है। यह लगभग स्पष्ट सा हो गया है कि फिलहाल गठबंधन का दौर जारी रहेगा। ऐसे में गठबंधन राजनीति के पिछले अनुभवों का मूल्याँकन भारतीय राज व्यवस्था पर प्रभावों के सन्दर्भ में अनिवार्य सा हो गया है। यहाँ हमारा लक्ष्य सकारात्मक प्रभावों को जहाँ प्रोत्साहित कर गठबंधन संस्कृति को स्वस्थ व सकारात्मक दिशा देना है वहीं नकारात्मक प्रभावों को पहचान कर इन्हें हतोत्साहित भी करना है। इस अध्याय में इन दोनों ही प्रभावों का अलग–अलग विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। विश्लेषण में आधारभूत तथ्यों के साथ साथ भारत के प्रमुख महानगरों, दिल्ली, कलकत्ता, चेन्नई व मुम्बई के साथ–साथ कुछ अन्य राज्यों के प्रमुख नगरों जैसे कानपुर, हमीरपुर, वाराणसी, लखनऊ, भोपाल, पटना, जमशेदपुर, चण्डीगढ़, नैनीताल, जयपुर के लगभग 1000 बुद्धिजीवियों से साक्षात्कार अनुसूची पद्धति के आधार पर लिये गये साक्षात्कार के निष्कर्षों को भी आधार बनाया गया है। साक्षात्कार लेते वक्त इस बात का ध्यान रखा गया है कि

विषय किसी दल विशेष से सम्बद्ध न हो जिससे अधिक तटस्थ निष्कर्ष प्रक्त किये जा सके।

नकारात्मक प्रभाव

गठबन्धन राजनीति के नकारात्मक प्रभावों का अध्याय के प्रारम्भ में उल्लेख एक निहितार्थ रखता है। यदि किसी की भी प्रारम्भ से ही प्रशंसा की जाय तो उसका ध्यान अपने दोषों की ओर नहीं जाता, परिणामस्वरूप त्रुटियों के निराकरण की संभावनायें क्षीण हो जाती है और एक सुगठित पूर्ण का निर्माण नहीं हो पाता। किन्तु अगर कमियों को ढूँढ–ढूँढ कर इंगित किया जाय और उन्हें दूर किया जाय तो समग्र और सुन्दर व्यक्तित्व का निर्माण होता है। इसी उद्देश्य से यहाँ पहले गठबंधिन राजनीति की कमियों की ओर संकेत किया गया है।

1. दलीय विखण्डन एवं दल बदल– दल–बदल ओर दलीय विखण्डन भारतीय राजनीति की एक प्रमुख समस्या रही हैं। भारत की बहुदलीय व्यवस्था में सैंकड़ों दलों की उपस्थिति बहुत कुछ इसी प्रक्रिया का परिणाम है। दल–बदल या एक दल तोड़कर दूसरा दल बनाने के पीछे अनेक कारण उत्तरदायी होते हैं जिसमें व्यक्तिगत महात्वाकाँक्षा और सत्ता लोलुपता प्रमुख है। सत्तागत स्वार्थ के चलते गठबंधन के युग में साझा सरकारों के लिये बहुमत जुटाना और उसे बनाये रखना अपने आप में एक विकट समस्या होती है और इस समस्या के समाधान की आवश्यकता ने दल–बदल और दलों में टूट को बढ़ावा दिया है। इस प्रक्रिया के लिये बहुत कुछ दसवीं अनुसूची में उल्लिखित दल बदल कानून भी जिम्मेदार है जिसमें एक तिहाई विधायकों या सांसदों के अपने मूल दल से अलग होकर पृथक गुट बनाने पर दल बदल संबंधी अयोग्यता से मुक्त बने रहने का उल्लेख किया गया है। ऐसे में सरकार बनाने और बनाये रखने के उद्देश्य से दलों के तिहाई सांसद या विधायक टूटते हैं, पहले नया गुट फिर नया दल बना लेते हैं। यह वास्तव में मतदाताओं के साथ राजनेताओं का सीधा कपटपूर्ण छल होता है जिसे प्रायः किसी न किसी आदर्शजन्य सिद्धान्त की चाशनी में लपेट कर उचित ठहराने का भी प्रयास किया जाता है।

यद्यपि राष्ट्रीय दलों में इस प्रकार का विखण्डन कम हुआ है तथापि क्षेत्रीय स्तर पर दल बहुतायत टूटे है और नये–नये दलों का अविर्भाव हुआ है। जनता दल (यू), जनता दल (एस), राजद, सपा, सजपा, जनबसपा, किमबपा, अपना दल, लोक जनशक्ति, तृणमूल कांग्रेस, तमिल मनीला कांग्रेस, लोकतांत्रिक कांग्रेस, जनतादल (राजाराम), आदि

दल इसी प्रक्रिया की उपज हैं। इस स्थिति में छोटे से छोटा दल, चाहे उसके पास एक ही विधायक या सांसद क्यों न हो, गठबंधंन के लिये अपरिहार्य व महत्वपूर्ण हो जाता है तथा बड़े व शक्ति सम्पन्न दलों के समक्ष राजनीतिक सौदेबाजी करने की स्थिति में होता है। देश में छोटे–छोटे दलों की संख्या लगातार बढ़ती जा रही है जिसके चलते राष्ट्रीय राजनीति की उन पर निर्भरता भी बढ़ती जा रही है।

इतना ही नहीं गठबंधन की इस नयी संस्कृति में एक नई परिपाटी जुड़ गई है–गठबंधन बदल वास्तव में वर्तमान समय में भारतीय राजनीति में राजनीतिक दलों का दो या तीन ध्रुवों में ध्रुवीकरण हो रहा है। ध्रुवीकरण का कोई वैचारिक–सैद्धान्तिक आधार न होने से सत्तागत स्वार्थ इसका प्रबल आधार हो गया है। वैसे तो दिखावे के लिये सम्प्रदायिकता या धर्म निरपेक्षता इसके लिये एक आधार दर्शाया जाता है किन्तु अवसर अनुकूल इसकी व्याख्या करते हुए दल किसी भी खेमें में जाने के लिये स्वतंत्र दिखायी देते हैं। इनमें से कुछ दल, अथवा व्यक्ति तो ऐसे हैं जो हर गठबंधन में दिखायी देते हैं। जैसे राम विलास पासवान और द्रमुक संयुक्त मोर्चा, राजग और संप्रग तीनों गठबंधन सरकारों में अपनी उपस्थिति दर्ज करा चुके हैं। शोधार्थी द्वारा किये गये सर्वेक्षण से भी इस बात की पुष्टि हुई है कि पिछले वर्षों में दल बदल की वृद्धि का एक कारण गठबन्धन सरकार के बहुमत अथवा स्थिरता की आवश्यकता भी है। इस सम्बन्ध में 95 प्रतिशत लोगों ने इस तथ्य को स्वीकार किया[1]।

2. सिद्धान्त शून्य राजनीतिक संस्कृति का विकास– गठबन्धन सरकारों के दौर में सिद्धान्त शून्यता, विचारहीनता और बढ़ती हुई अवसरवादिता भारतीय राजनीतिक संस्कृति का हिस्सा बनती जा रही है। आज के इस दौर में सभी राजनीतिक दल यह स्वीकार करते हैं कि वर्तमान समय गठबंधन राजनीति का है, किन्तु यह विचित्र ही है कि वे यह भी करते हैं कि गठबंधन राजनीति के इस दौर में कोई भी दल अछूते नहीं है। इसका सीधा सा अर्थ है कि चुनाव बाद अथवा अवसर अनुकूल राजनीतिक दलो की निष्ठायें बदल सकती हैं, या यूँ कहें कि बदल जाती हैं। अवसर अनुकूल राजनीतिक दलों की निष्ठायें और साथ ही उनके आदर्श तथा सिद्धान्त इसके पहले भी सिर के बल खड़े होते रहे हैं। एक दूसरे के विरूद्ध चुनाव लड़ने वाले राजनीतिक दलों ने चुनाव बाद सत्ता प्राप्त करने के लिये बड़ी सहजता से आपस में हाथ मिलाया है और सबसे बड़ी हास्यास्पद बात यह है कि ये दल अपने इस कृत्य को राष्ट्रहित में करार देते हैं, अपने

1 साक्षत्कार अनुसूची पद्धति से किये गये सर्वेक्षण के आधार पर।

किसी न किसी आदर्शजन्य लक्ष्य की पूर्ति के लिये आवश्यक घोषित करते हैं। ऐसा कभी साम्प्रदायिकता से लड़ने के लिये किया जाता है तो कभी देश या प्रदेश को स्थिर सरकार देने के नाम पर किया जाता है। तर्क जो भी हो लक्ष्य महज सत्ता प्राप्त करना होता है।

इस स्थिति के एक नहीं अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जहाँ सिद्धान्त विहीन अवसरवादी गठबंधन बने हैं। उत्तर प्रदेश में भाजपा बसपा गठबन्धन, सपा, कांग्रेस, रालोद व राकांपा गठबंधन, महाराष्ट्र में कांग्रेस व राष्ट्रवादी कांग्रेस गठबन्धन, बिहार में राजद व कांग्रेस गठबंधन आदि। यहां ध्यान देने योग्य तथ्य है कि महाराष्ट्र में शरद पवार के नेतृत्व वाली राष्ट्रीय काग्रेस पार्टी का उदय ही कांग्रेस में सोनियाँ गाँधी के नेतृत्व के विरोध में हुआ किन्तु पहले महाराष्ट्र में सरकार बनाने के लिये फिर 2004 में चौदहवीं लोकसभा चुनाव के लिये दोनों के बीच गठबंधन हो गया। इतना ही नहीं जिस द्रमुक के सत्ता में भागीदारी के प्रश्न पर कांग्रेस ने यह कहते हुए गुजराल सरकार गिरायी कि द्रमुक नेतृत्व राजीव गाँधी के हत्यारों का शरणदाता है, 2004 के लोकसभा चुनावों के लिये कांग्रेस ने उसके साथ भी चुनाव पूर्व गठबंधन कर लिया। इसी प्रकार जिस जयललिता के कारण बाजपेयी सरकार अपने 13 माह के कार्यकाल में हमेशा परेशान रही और अन्ततः उनके कारण ही सरकार गिरी, चौदहवीं लोकसभा चुनाव के लिये उन्हें भी राजग में सम्मिलित कर लिया गया। यदि यह कहा जाय कि सम्पूर्ण राजग के निर्माण का ही यही आधार है तो कोई अतिशयोक्ति न होगी क्योंकि शिवसेना व अकाली दल को छोड़कर, जो कि भाजपा के स्वाभाविक सहयोगी हैं, राजग के अधिकांश घटक साम्प्रदायकिता के नाम पर भाजपा को रोकते रहे हैं और तथाकथित पंथनिरपेक्षता का झण्डा ऊँचा करते रहे हैं।

वास्तव में इन स्वार्थ परक प्रवृत्तियों के चलते भारतीय राजनीति अपनी दिशा ही भटक गई, अपने लक्ष्य आदर्श ओर कर्त्तव्य से दूर होती चली गई है। भारतीय राष्ट्र का मूल आधार एक जन, एक संस्कृति और एक राष्ट्र है। वहीं भारतीय राजनीति का मूल आधार जाति, क्षेत्र, पंथ, महजव और सत्ताकामी व्यक्ति है।[2] वहीं दूसरी ओर भारत की राजनीतिक संस्कृति ओर देश की सनातन संस्कृति के बीच 36 के रिश्ते कायम हो गये हैं। यही कारण है कि सम्पूर्ण भारतीय राजनीति का कोई केन्द्रीय आदर्श नहीं रह गया है। यहां राष्ट्र सर्वोपरिता का अधिष्ठान भी नहीं है। दलहित व सत्ता सर्वोपरि है, कहीं जाति सर्वोपरि है कहीं क्षेत्र तो कहीं भाषा। किसी के लिये मजहब महत्वपूर्ण है तो किसी

---

2 दीक्षित हृदय नारायण, गठबंधंन की राजनीति काम भविष्य विज्य, दौनिक जागरण, 6 सितम्बर 2003, पृ0 6

राजनीतिक दल में व्यक्ति विशेष का महत्व सर्वोपरि है। व्यक्ति आधारित दलों में आन्तरिक लोकतंत्र का अभाव है। यहां राष्ट्रीय अध्यक्ष, आजीवन अपने पद पर विराजमान रहते हैं। ऐसी राजनीति का मूल लक्ष्य मात्र सत्ता प्राप्त करना है। इसलिए दलों की संख्या बढ़ी है। ये परस्पर अविश्वास और शत्रुता की भावना से ग्रस्त है और अवसर आने पर शत्रुता त्याग कर एक हो जाते हैं।

डॉ0 राम मनोहर लोहिया ने राजनीति को धर्म की संज्ञा दी थी। लोहिया के अनुसार दीर्घकालीन राजनीति धर्म हैं और अल्पकालिक धर्म राजनीति है। धर्म शुभ का संस्थापक और मार्गदर्शक है। राजनीति बुराई से लड़ती है। राजनीति भारत में धर्म का हिस्सा थीं। कांग्रेस की दीर्घकालिक सत्ता के दौरान भारतीय जनसंध और डॉ लोहिया की सोशलिस्ट पार्टी के लोग विचार आधारित राजनीति किया करते थे। वे संख्या शक्ति में कम थे किन्तु सत्ता पक्ष को प्रभावित कर सकने की क्षमता से युक्त थे। वास्तव में संसदीय जनतंत्र एक आदर्श जीवन प्रणाली है। आदर्श जीवन प्रणाली में शुभ और अशुभ के निर्णय बहुमत से नहीं होते। सत्य–असत्य का विवेक संख्या पर भारी पड़ता है, किन्तु आज की राजनीतिक व्यवस्था और संसदीय संस्कृति में सत्तालोलुप अस्थायी संख्या बल ही सत्य और असत्य का निर्णायक हैं। यह संख्या बल विचारहीन हैं। इसकी पक्षधरता अस्थायी है। इसकी निष्ठा जल्दी–जल्दी बदलती है।

वास्वतव में देखा जाये तो भारतीय समाज बुरी तरह से खंडित है। राजनीति ने खंडित समाज को जोड़ने का काम कभी किया ही नहीं आज खंडों की ही राजनीति है और खण्डों का ही नेतृत्व। इसी का परिणाम है खण्डित जनादेश। इस खण्डित जनादेश से निपटने के दो उपाय हो सकते हैं–एक, राजनीति को वैचारिकता का जामा पहनाना और दूसरे राजनीतिक दलों के बीच परस्पर विश्वास भाव उत्पन्न कर गठबंधन राजनीति के लिये एक नयी राजनीतिक संस्कृति का विकार करना। राजनीतिक दलों के बीच परस्पर विश्वास उत्पन्न करना सहज नहीं हैं। चरित्रहीन राजनीति द्वारा दिये गये नारे और गढ़े गये मुहावरे साँप बनकर सामने खड़े हैं फिर भी अपने दलीय कार्यक्रमा को एक किनारे कर 24 दलों को साथ लेकर चलने का एक अनूठा प्रयोग अटल बिहारी बाजपेयी के नेतृत्व में राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के नाम से सफल रहा है। इस स्थिति का ही परिणाम है कि अब कांग्रेस ने भी पंचमढ़ी का सिद्धान्त उलट कर शिमला में गठबंधन युग की वास्तविकताओं को स्वीकार कर लिया है। इस पृष्ठभूमि में गठबंधन राजनीति के लिये एक नये आचार शास्त्र और एक नयी राजनीतिक संस्कृति की आवश्यकता है।

3. भ्रष्टाचार एवं राजनीतिक सौदेबाजी—गठबंधन की राजनीति का एक नकारात्मक पक्ष उभर कर सामने आया है—शीर्ष स्तर पर तेजी से बढ़ता भ्रष्टाचार, ऐसा नहीं कहा जा सकता कि राजनीति में शीर्ष पर पहले भ्रष्टाचार नहीं था किन्तु गठजोड़ के दौर में यह प्रवृत्ति तीव्र व सघन हुई है। गठबंधंन की स्थिति में भ्रष्टाचार में वृद्धि का प्रमुख कारण तो एक ही है—बहुमत बनाये रखने की आवश्यकता। किन्तु इसके दो पहलू हैं प्रथम तो यह कि अधिकांशतया बहुमत जुटाने की आवश्यकता के चलते आँख, मूँद कर नये—नये सहयोगी दलों एवं निर्दलीय सांसदों का समर्थन जुटाने का प्रयास किया जाता है। इस स्थिति में प्रायः किसी दल के नेता अथवा सांसद की अपराधिक अथवा भ्रष्ट पृष्ठभूमि को नजर अन्दाज कर दिया जाता है और ऐसे लोगों का समर्थन प्राप्त कर उन्हें मंत्री तक बना दिया जाता हैं। केन्द्र में बनी अधिकांश गठबंधन सरकारों के संदर्भ में यह बात सही उतरती है। 1996 में संयुक्त मोर्चा सरकार ने अनेक घोटालों में फंसे लालू प्रसाद यादव के राजद का समर्थन लिया व उनके दल के अपराधिक पृष्ठभूमि वाले तसलीमुद्दीन को मंत्री बनाया। 1998 में भाजपा के नेतृत्व वाली राजग सरकार ने भ्रष्टाचार की आरोपित अन्नाद्रमुक प्रमुख जयललिता से हाथ मिलाया और भ्रष्टाचार में आरोंपित निर्दलीय बूटा सिंह को मंत्री बनाया। 2004 संप्रग सरकार में पुनश्चः आरोपित व्यक्ति लालू प्रसाद, तसलीमुद्दीन व शिबू सोरेन आदि मंत्री बनाये गये।

इसका दूसरा पक्ष यह है कि बहुमत प्राप्त करने अथवा इसे बनाये रखने के उद्देश्य से सांसदों को प्रलोभन व रिश्वत दकर अपने पक्ष में करने की प्रवृत्ति उभरी है। यद्यपि यह स्थिति केन्द्र में सीमित स्तर पर ही दिखायी दी है किन्तु इसका आभास होने लगा है। झामुमों रिश्वत काण्ड इसका प्रबल उदाहरण है, जबकि यह काण्ड एकदलीय सरकार को बचाने के लिये हुआ था। जहाँ तक राज्यों का प्रश्न है, राज्य स्तरीय राजनीति में तो यह अब स्पष्ट रूप से प्रकट होने लगा है। ऐसी स्थिति में लोकतंत्र के मायने ही बदल गये हैं और जनता का चुना हुआ प्रतिनिधि अपने स्वार्थ पूर्ति के लिये किसी न किसी सिद्धान्त या आदर्श को उछाल कर किसी एक पक्ष के समर्थन में बिक जाता है और अपने मतदाताओं के साथ विश्वासघात करता है।

इतना ही नहीं गठबंधंन की राजनीति में सरकार बनाने, सरकार बचाने या बहुमत जुटाने के नाम पर राजनीतिक सौदेबाजी की प्रवृत्ति भी प्रबल हुई है। जहाँ सिद्धांतों या विचारों की एकता पर गठबंधन बनते हैं, वहां वैचारिक उद्देश्य की पूर्ति लक्ष्य होता है और सभी घटक उद्देश्य की पूर्ति के प्रेरणा से संगठित होते है। जहाँ किसी विशेष कार्यक्रम

की पूर्ति के उद्देश्य से गठबंधन बनते हैं, वहॉं वे विशेष कार्यक्रम प्रेरक होते हैं। किन्तु जहॉं, न तो सिद्धांतों की एकता हो, न कार्यक्रमों की एकता हो वहां सत्ता लोलुपता और दलगत या निजी स्वार्थ ही एक मात्र प्रेरक होता है। ऐसे में गठबधंन निर्माण की प्रक्रिया से लेकर सरकार प्रक्रिया तक व उसके आगे भी सरकार निर्माण चलाने तक गठबधंन का नेतृत्व कर रहे दल से घटक जम कर सौदेबाजी करते हैं। यह सौदेबाजी दल के लिये अधिक से अधिक मंत्री पद खास–खास मंत्रालयों की मांग क्षेत्र विशेष के लिये, विशेष पैकेज की मांग विशेष रियायतों और कभी–कभी तो अपने विरूद्ध न्यायिक कार्यवाही समाप्त करवाने के उद्देश्य से भी सौदेबाजी की जाती है। भारत में ऐसा किसी एक गठबघंन में नहीं हुआ बल्कि सभी गठबघंन सरकारों के सन्दर्भ में यह प्रवृत्ति देखने को मिली है। किये गये सर्वेक्षण में लगभग 95 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि गठबघंन सरकार में शामिल दलों में राजनीतिक सौदेबाजी की प्रवृत्ति होती है।[3]

मंत्रि परिषद का बढ़ता आकार

गंठबंधन की राजनीति की एक अपरिहार्य आवश्यकता के रूप में मंत्रिपरिषदों का आकार निरन्तर बढ़ता जा रहा है जिससे मंत्रियों पर होने वाले व्यय में अनावश्यक रूप से वृद्धि हो रही है। वास्तव में जब अनेक दलों की मिलीजुली सरकार बनाने का अवसर आता है तो हर दल, हर गुट मंत्रिमण्डल में अपनी अपेक्षित हिस्सेदारी चाहता है और उसके लिये भरपूर सौदेबाजी भी की जाती है। ऐसे में प्रधानमंत्री के लिये अपने सहयोगी मंत्रियों का चयन अपने आप में एक समस्या बन जाती है। नेतृत्व को अपने दल के सभी गुटों को ध्यान में रखते हुए अन्य दलों, क्षेत्रों व हितों का मंत्रिपरिषद में इस प्रकार का प्रतिनिधित्व निश्चित करना होता है कि सबको सरकार में समुचित हिस्सेदारी मिले, सभी संतुष्ट रहें और सरकार स्थायी भाव से चलती रहे। इस प्रयास में निश्चय ही चुने जाने वाले मंत्रियों की संख्या अधिक हो जाती है।

साठ के दशक में एक अध्ययन कराया गया था कि एक केन्द्रीय मंत्री पर जनता कितनी रकम खर्च करती है। अध्ययन गोपनीय था किन्तु बाद में लोकसभा की बहस में प्रकट हो गया था। उस समय मोटे तौर पर यह जानकारी मिली थी कि एक मंत्री पर

3. साक्षात्कार अनुसूची पद्धति से किये गये सर्वेक्षण के आधार पर।

प्रतिमाह करीब दो लाख रु0 व्यय होता है।[4] लेकिन इस दो लाख की रकम में वह धनराशि शामिल नहीं है जो उस मंत्री को उसके मंत्रालय से सुविधाओं के रूप में स्वतः प्राप्त हो जाती है। संसद के शोध प्रभाग में मंत्रियों पर होने वाले व्यय का लगातार लेखा–जेखा चलता रहता है। किन्तु उसे पूरी तरह गोपनीय रखा जाता है संसदीय शोध प्रभाग के एक मोटे अनुमान के अनुसार साठ के दशक में यदि एक मंत्री पर दो लाख का खर्च आता था तो वह नब्बे के दशक में बढ़कर 45 से 50 लाख तक पहुंच गया है।[5] ऐसे में आज एक मंत्री पर प्रतिमाह 50 लाख के लगभग खर्च आता है।

ऐसे में 13 अक्टूबर 1999 को कार्यभार संभालने वाले राजग मंत्रिपरिषद की संख्या जब प्रथम विस्तार के बाद ही 74 पहुंच गई तो यह अब तक का सबसे बड़ा मंत्रिपरिषद था जिस पर प्रतिमाह 37 करोड़ रु0 के खर्च का अनुमान किया गया। इस स्थिति में विविध आर्थिक समस्याओं से जूझ रहे देश के लिये मंत्रियों के खर्च का भारी बोझ उठाना भी अपने आप में एक समस्या है। यदि गठबंधन के राजनीति की यह विसंगति बनी रही तो उत्तर प्रदेश की ही भांति केन्द्र में भी मंत्रियां की संख्या 100 के आस–पास पहुंच जायेगी जो कुल मिलाकर वित्तीय हिसाब से सुखद नहीं होगा।

यहां यह ध्यान देने योग्य बात है कि 91वें संविधान संशोधन से पूर्व मंत्रिपरिषद की संख्या के संबंध में कोई कानून तो नहीं था, किन्तु एक परम्परा अवश्य थी। संसदीय लोकतंत्र में परम्पराओं का वही महत्व होता है, जो लिखित विधियों का और भारत में इस संबंध में सामान्य परम्परा यह रही है कि चुने हुए सांसदों में से मात्र दस प्रतिशत लोगों को ही मंत्री बनाया जातारहा है। 91वॉ संशोधन इस परम्परा को वैधानिक मान्यता देते हुए सुनिश्चित करता है कि चुने गये प्रतिनिधियों की केवल 15 प्रतिशत संख्या ही मंत्री पद प्राप्त कर सकती है। इस प्रकार यह कानून प्रचलित परम्परा से 5 प्रतिशत अधिक मंत्री बनाने की छूट तो देता है किन्तु एक अनिवार्य बाध्यता अवश्य आरोपित कर देता है कि 15 प्रतिशत से अधिक व्यक्ति मंत्री नहीं हो सकते। इस प्रकार निकट भविष्य में गठबंधन राजनीति की आवश्यकताओं के चलते भी मंत्रियों की संख्या केन्द्र अथवा राज्य कहीं भी एक निर्धारित संख्या नहीं पार कर सकेगी।

मंत्रियों की संख्या के सम्बन्ध में संवैधानिक प्रतिबन्ध के चलते अब केवल तुष्टीकरण के उद्देश्य से मंत्री पद उपहार में नहीं बॉटे जा सकेंगे और बड़े मंत्रिपरिषद के व्यय का बोझ देश को नहीं ढोना होगा। ऐसे में गठबंधन की राजनीति में घटकों को

---

4. माया, 15 दिसंम्बर 1999, पृ. 15
5 वही

संतुष्ट रखने में नेतृत्व दल को थोड़ी असुविधा अवश्य होगी किन्तु दोनों ही पक्षों को अपनी–अपनी संवैधानिक सीमा का आभास रहेगा जिससे आनावश्यक दबाव व सौदेबाजी में कमी आने की भी संभावना होगी।

5. क्षेत्रीय दलों का उभार और राष्ट्रीय दलों की दयनीय दशा–पिछले दो दशकों में भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय/राज्य स्तरीय दलों का वर्चस्व व प्रभाव बढ़ा है। यहां यह कहना कठिन है कि क्षेत्रीय दलों का उभार गठबंधन की राजनीति के लिये उत्तरदायी है अथवा गठबंधन की राजनीति क्षेत्रीय दलों के बढ़ते प्रभावों के लिये जिम्मेदार है, कुल मिलाकर इन दो में से किसी भी एक तथ्य को स्वीकार करें वास्तविकता तो यह है कि इस समूची प्रक्रिया में राष्ट्रीय राजनीतिक दलों की दशा दयनीय हुई है। 1991 से अब तक हुए पांच लोकसभा चुनावों में कोई भी राष्ट्रीय दल बहुमत के आंकड़े को नहीं छू सका है। यहां यदि ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट होगा कि इस स्थिति के लिये दोनों ही धारायें उत्तरदायी हैं,–अर्थात राज्यों में राज्य स्तरीय दलों के उभार के कारण राष्ट्रीय दल कुछ विशेष क्षेत्रों में प्रभावी नहीं रह गये और दूसरे राष्ट्रीय दलों की कुद नीतियों व कमियों के चलते क्षेत्रीय दल पनपे हैं। और राष्ट्रीय दलों को केन्द्र में एक सरकार बनाने के लिए गठबंधन हेतु क्षेत्रीय दलों पर निर्भरता बढ़ी है।

भारत में क्षेत्रीय दल जाति, क्षेत्र, भाषा अथवा किसी क्षेत्र विशेष की विशिष्ट समस्या की उपज है। कुछ दल तो मात्र व्यक्तिगत महात्वकांक्षाओं की देन हैं। इन दलों के नेताओं का कार्य विस्तार सीमित मुद्‌दों पर सीमित क्षेत्र में रहा है जिस कारण ये क्षेत्र विशेष की जनता के बीच लोकलुभावन नारों व कार्यक्रमों को आधार बनाते हुए लोकप्रिय होते गये। इनका जनसम्पर्क राष्ट्रीय दलों की तुलना में अधिक सघन व प्रभावशाली था जिस कारण इनका राजनीतिक प्रभाव निरन्तर बढ़ता गया और एक स्थिति ऐसी आयी कि इन्होंने अपने–अपने क्षेत्र से राष्ट्रीय दलों को लगभग अस्तित्वहीन सा बना दिया। अब इन राज्यों में राष्ट्रीय दलों की उपस्थिति का लेखा–जोखा क्षेत्रीय दलों की कृपा पर निर्भर हैं। अब क्षेत्रीय दल यह निर्णय करते हैं कि राज्य विशेष में वे अपने साथ गठबंधन करने वाले राष्ट्रीय दल को कितनी संख्या में सीटें देंगे।

जहाँ तक राष्ट्रीय दलों का प्रश्न है सही मायने में दो ही दलों को राष्ट्रीय दल कहा जा सकता है–कांग्रेस और भाजपा। भाजपा की पहले भी देशव्यापी राजनीतिक उपस्थिति नहीं रही। वह हिन्दी भाषी क्षेत्रों में ही प्रभावी रही हैं। अतः क्षेत्रीय दलों के उभार का सबसे ज्यादा प्रभाव कांग्रेस पर पड़ा है। जो दल कभी केन्द्र और लगभग सभी

राज्यों में शासन करता रहा हो वह पिछलें 4 लोकसभा चुनावों में 200 के अंक तक नहीं पहुंच सका। बिहार, उत्तर प्रदेश, त्रिपुरा, पं0 बंगाल और तमिलनाडु जैसे राज्यो में उसका राजनीतिक भविष्य अभी भी अनिश्चित सा है और उसे भी देर–सबेर गठबंधन की राजनीति में उतारना पड़ा। वामपंथी दल भी राष्ट्रीय दलों की श्रेणी में हैं किन्तु इनका विस्तार पं0 बंगाल, केरल और त्रिपुरा जैसे राज्यों तक ही सीमित है। इसलिये राष्ट्रीय दल के रूप में सर्वाधिक क्षति कांग्रेस को हुई है।

अपनी इस दयनीय दशा के लिये राष्ट्रीय दल बहुत कुछ स्वयं ही उत्तरदायी हैं। प्रायः यह देखा गया है कि इन राष्ट्रीय दलों की उपस्थिति और सक्रियता चुनवों से कुछ महीनों पहले प्रारम्भ होती है। तब ये धुआँधार रैलियाँ करते हैं, रोड शो से अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हैं, रथयात्रा से अपनी लोकप्रियता का आकलन करते हैं और चुनाव बाद, जनता, जनसम्पर्क और जन समस्याओं को विस्मृत कर देते हैं। इनके संगठनात्मक ढाँचे में लोकतंत्रीय पद्धति को भुला दिया गया है। प्रत्येक विषय पर निर्णय शीर्ष द्वारा लिया जाता है। सब कुछ हाई कमान द्वारा तय किया जाता है। दल के गतिविधियों में निचले क्रम के कार्यकर्ताओं व नेताओं की कोई भूमिका नहीं होती जिस कारण अलग–अलग क्षेत्रों की समस्यायें व जन आकांक्षायें में शीर्ष तक संचारित नहीं हो पाती, उनका समाधान नहीं हो पाता परिणाम स्वरूप जनता क्षेत्रीय दलों की ओर झुक जाती है, जो कि उसके अधिक सम्पर्क में होते हैं।

यह स्थिति और छोटे–छोटे दलों की प्रभावी राजनीतिक उपस्थिति अनेक चिंतनीय प्रवृत्तियों को जन्म दे रही हैं। बड़े और राष्ट्रीय दलों में आन्तरिक बिखराव टूटन, गुटबंदी और छोटे–छोटे व्यक्तिगत लाभ के लिये राजनीतिक खेमेबाजी प्रबल होती जा रही हैं बड़े और राष्ट्रीय दल राष्ट्रीय संयोज़न की जगह विभिन्न मुद्दों पर राष्ट्रीय विभाजन की राजनीति करने लगे हैं। मंडल–कमंडल या धर्मनिरपेक्षता–साम्प्रदायिकता की राजनीति कोई आकस्मिकता नहीं है। परिणामस्वरूप बड़े और राष्ट्रीय दल अपने ढकोसलो और नकाबो के बावजूद बड़ी तेजी से क्षेत्रीय दलों में तब्दील होते जा रहे हैं। दिख़ावे के लिए राष्ट्रीय दल चुनावों के समय प्रत्याशियों का एक राष्ट्रीय पैनल तो तैयार करते हैं, मगर चुनाव दर चुनाव उनका सिमटाव बढ़ता जा रहा है। वे अलग–अलग क्षेत्रों में छोटे–छोटे दलों पर निर्भर होता जा रहे हैं। बड़े राष्ट्रीय दलों की क्षेत्रीय दलों के सहयोग पर निर्भरता के कारण विकास तो कुंठित हो ही रही है, सैद्धान्तिक लचीलेपन की जरूरत और मजबूरी की वजह से उनकी राजनीतिक पहचान भी धूमिल होती जा रही है।

वास्तव में आज भाजपा, माकपा, भाकपा, जद, तेदेपा, अगप आदि के बीच छाती पर लगे नेम प्लेट के सिवा विभेद का कोई दूसरा आधार नहीं रह गया है। माकपा, भाकपा और कांग्रेस जैसे दल संसद में तहलका के भण्डा फोड़ पर हंगामा करते हैं मगर चुनाव में क्षेत्रीय दलों पर निर्भरता के कारण सजायाफ्ता होने के बाबजूद तमिलनाडु में जयललिता के मुख्यमंत्री पद की प्रत्याशा का समर्थन करते हैं व सरकार बनाने की स्थिति में लालू प्रसाद यादव, शिबु सोरेन व तसलीमुद्दीन जैसे भ्रष्टाचार अथवा अपराधिक मामलों में आरोपित लोगों को मंत्री बनाते हैं। विपक्ष में होने पर भाजपा संप्रग के दागी मंत्रियों का सवाल उठाती है और स्वयं सत्ता की दहलीज तक पहुंचते ही जयललिता जैसे भ्रष्टाचार के आरोपित लोगों से पींगे बढ़ाने लगती हैं और बूटा सिंह जैसे आरोपित व्यक्ति को मंत्री बना देती हैं।

कुल मिला कर राष्ट्रीय दल इस संदर्भ में "अल्पकालिक राजनीतिक गतिविधि" वाले राजनीतिक दल बनते जा रहे हैं और उनका संगठनात्मक आधार और स्वरूप नष्ट होता जा रहा है। इनका कोई सैद्धान्तिक राजनीतिक कार्यक्रम नहीं रह गया है। अतः इनकी संगठनाात्मक संरचना की जरूरतें भी खत्म हो गई हैं। वे सत्ता में आने के लिये समझौते दर समझौते के लिये उद्यत हैं और इस प्रयास में ऐसे लोगों और दलों से भी हाथ मिलाने से नही चूकते जो किसी भी उपाय से चुनाव जीतने में विश्वास रखते हैं, जिनकी कार्यप्रणाली व अतीत संदेहास्पद हैं। यही स्थति चलती रही तो भारतीय़ राजनीति में कोई मानक, कोई सिद्धान्त कोई मूल्य या कोई आदर्श नहीं रह जायेगा। सत्ता तक छलांग लगाने का उद्देश्य ही प्रबल होगा और समस्त राजनीतिक तंत्र एक सुनियोजित लूटतंत्र में परिवर्तित हो जायेगा जिसमें जन लुटता, पिसता और बर्बाद होता रहेगा।

इन स्थितियो से उबरने के लिये राजनीतिक दलों को अल्पकालिक लाभ के निहितार्थ त्याग दीर्घकालिक रणनीति अपनानी होगी। दल में आंतरिक लोकतंत्र की स्थापना हो, संगठनात्मक ढ़ाँचे का आधार लोकतांत्रिक हो ओर समूची व्यवस्था का अक्षरशः पालन हो। आवश्यकता पड़ने पर निर्वाचन आयोग के माध्यम से अथवा संवैधानिक प्रावधान करके राजनीतिक दलों को इस बात के लिये विवश किया जाना चाहिये। दल के संविधान में अवसर अनुकूल स्वेच्छाचारी परिवर्तन की छूट नहीं होनी चाहिये जैसा कि कांग्रेस ने सोनिया गाँधी को कांग्रेस संसदीय दल का नेता व अध्यक्ष बनाने के लिये किया गया। इससे गलत परम्परायें पड़ती हैं जिनके दूरगामी घातक परिणाम हो सकते है। साथ ही राजनीतिक दलों के निर्माण व निर्वाचन में भागीदारी के

लिये कुछ निर्णायक आधार तय किये जाने चाहिये जिससे नित नये उगने वाले दलों पर अंकुश लगाया जा सके।

सकारात्मक प्रभाव—भारत में गठबंधन सरकारों को कभी भी स्वभावतः प्रोत्साहित नहीं किया गया। भारत ही क्या किसी भी संसदीय शासन में गठजोड़ सरकार एक अवांछित स्थिति मानी जाती है क्योंकि संसदीय शासन की एक स्वाभाविक मांग होती है सत्तारूढ़ दल का पूर्ण बहुमत में होना और मंत्रिपरिषद के सदस्यों की राजनीतिक सजातीयता। गठबंधन सरकार में इन दो स्थितियों के न होने के कारण सहयोगी दलों में परस्पर खींचतान मतभेद व विरोध की स्थिति में सरकार का सम्यक रूप से कार्य संचालन बाधित होता है और इन्हीं स्थितियों के चलते मंत्रिपरिषद की आयु प्रायः अल्पकालिक होती है। इसलिये संसदीय शासन गठबंधन की स्थिति से परहेज की अपेक्षा करता है। किन्तु जहाँ एक दलीय बहुमत के शासन, की संभावनायें समाप्त प्राय हो जाय वहां गठबंधन की राजनीति ही एक मात्र विकल्प बचता है।

भारतीय राजनीति के संदर्भ में यदि देखा जाये तो हम पायेंगे कि 1984 में हुए लोकसभा चुनावों के बाद से आज 2004 तक के 10 वर्षों में छः बार लोकसभा चुनाव हुए। किन्तु इन चुनावों में कभी भी किसी एक दल को पूर्ण बहुमत नहीं मिला। 1991 में कांग्रस की एकदलीय सरकार अवश्य बनी किन्तु वह भी अल्पमत की सरकार थी और उसे विभिन्न मुद्दों पर बहुमत के लिये दूसरे दलों अथवा निर्दलयी सांसदों पर निर्भर रहना पड़ा। 1996 से 1999 के चार वर्षों के काल में तीन बार लोकसभा चुनाव हुए किन्तु किसी दल को पूर्ण बहुमत नहीं मिला। अस्थिरता और अनिश्चितता के बीच भारतीय लोकतंत्र ने प्रयोग दर प्रयोग गठबंधन सरकार चलाने का मार्ग तलाश देश को एक निश्चित दिशा देकर उसके तस्वीर की दशा बदलने का प्रयास किया और 13 अक्टूबर 1999 को पदारूढ़ होने वाली गठबंधन सरकार ने पहली बार अपना कार्यकाल पूरा कर इस बात का जयघोष किया कि गठबंधन सरकारें भी स्थिरता और पूर्ण कुशलता व क्षमता से चल सकती हैं। यह सही है कि गठबंधन सरकार की अपनी सीमायें हैं जिनके चलते उसका कार्यकरण प्रभावित होता है और आलोचना के दंश झेलने पड़ते हैं किन्तु गठबंधन सरकार में कमियाँ ही कमियाँ हो ऐसा भी नहीं हैं। भारत जैसे विशाल और विविधताओं वाले देश में जहाँ निरक्षरता और निर्धनता का आज भी बोलबाला है, अधिसंख्य जन में राजनीतिक जागरूकता का अभाव है, मत पर जाति धर्म, क्षेत्र, भाषा, बुलेट और बाहुबल प्रभावी हो वहां गठबंधन की राजनीति के अपने सकारात्मक मायने होते हैं जिनसे मुंह

नहीं मोड़ा जा सकता है। अस्तु यहां गठबंधन की राजनीति के सकारात्मक पक्षों को उकेरने का प्रयास किया गया है, जो कि निम्न बिन्दुओं के अन्तर्गत स्पष्ट किये जा सकते हैं–

1. नूतन सत्ता सहभागिता संगठन का विकास–गठबंधन का निर्माण कर रहे राजनीतिक दलों में सैद्धान्तिक अथवा वैचारिक एकता हो तो गठबंधन के सफलता की दर बढ़ जाती है। किन्तु यदि विविध, बेमेल विचारों–सिद्धान्तों वाले दल गठबंधन का निर्माण कर रहे हों तो उनमें मतभेद तीव्र नहीं होने चाहिए। वास्तव में मत वैभिन्य के कारण ही राजनीति की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। किन्तु जब मतभेद इतने तीव्र हों कि उनका परस्पर बातचीत से समाधान न ढूँढा जा सके तो यह स्थिति राजनीति की सीमा लाँघ कर संघर्ष में बदल जाती हैं। अतः बेमेल विचारों वाले दल किसी कार्यक्रम अथवा कार्यक्रमों के आधार पर गठजोड़ कर रहे हों तो उनमें मतभेद न्यून होने चाहिए।

इस सम्बन्ध में यदि हम भारतीय राजनीति का संदर्भ लें तो पायेंगे कि यहां गठबंधन निर्माण के लिये दो प्रेरक कार्य कर रहें हैं–गैर–कांग्रेसवाद और गैर–भाजपावाद। इन दोनों ही प्रेरणाओं के आधार पर राजनीतिक दलों का ध्रुवीकरण दो गठबंधनों–राजग और संप्रग–के रूप में हुआ है। दोनो ही गठबंधनों में ऐसे राजनीतिक दल हैं जो परस्पर विरोधी विचारों वाले हैं और उनका परस्पर विरोध रहा है या एक सीमा तक है भी किन्तु उपुर्यक्त किसी न किसी प्रेरणा के चलते सत्ता में सहभागी होने के लिये विवश हैं। इससे एक ऐसे सत्ता सहभागी संगठन अथवा संस्कृति का विकास हुआ है जिसमें परस्पर विरोध रखने वाले दल एक सीमा तक अंपने मतभेद भुला कर किसी न्यूनतम साझा कार्यक्रम को आधार बनाकर सरकार संचालन हेतु एकजुट होते हैं। राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन और संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन दोनों के घटक दलों में इस प्रकार की प्रवृत्ति देखने को मिलती है।

वास्तव में यदि देखा जाय तो यह प्रवृत्ति सत्ता लोलुपता और स्वार्थ परक राजनीति का उत्कृष्ट नमूना कही जा सकती है, किन्तु यही वह प्रवृत्ति है जिसने भारतीय संसदीय लोकतंत्र को अनिश्चितता के भँवर से उबार कर एक नयी दिशा देने का प्रयास किया है। भारत में गठबंधन के राजनीति का यह प्रारम्भिक चरण हैं। कालान्तर में यदि गठबंधन की आवश्यकता बनी रही तो प्रयोग दर प्रयोग खामियों को दूर करते हुए इस दिशा में भी हम निश्चय ही एक सुदृढ़ व्यवस्था खोज सकेंगे।

उक्त प्रवृत्ति के उदाहरण वर्तमान भारतीय राजनीति में प्रभावी दोनों ही गठबंधन ध्रुवों में मिलेगी। वर्तमान सत्तारूढ़ गठबंधन संप्रग से यदि बात प्रारम्भ की जाये तो हम पायेंगे कि यह गठबंधन परस्पर विरोधाभासी तत्त्वों का समन्वय है। गैर–कांग्रेसवाद की पृष्ठभूमि से राजनीति में सक्रिय हुए लालू प्रसाद के लिये कालान्तर में अपने अस्तित्व के लिये कांग्रेस की तुलना में भाजपा अधिक बड़ा खतरा लगने लगा तो उन्होंने गैर भाजपावाद की पंक्ति में खड़े हो कांग्रेस से हाथ मिलाना बेहतर समझा। कांग्रेस को भी बिहार में अपना आधार बढ़ाने के लिये लालू और उनका राजद अधिक उपयुक्त लगे। वामपंथी विशेष रूप से मार्क्सवादी, घोर कांग्रेस विरोधी रहे किन्तु 1996 से 1998 तक संयुक्त मोर्चा सरकार के संचालन में बाहर से समर्थन देकर कमोबेश सैद्धान्तिक रूपसे विरोध की नीति अपनाते हुए भी सरकार के समर्थन में कांग्रेस के साथ थे और 2004 का चुनाव आते–आते तथा कथित धर्मनिरपेक्षता की रक्षा और भाजपा को सत्ता से दूर रखने के उद्देश्य से पं० बंगाल और केरल में एक दूसरे के विरूद्ध विषवमन करने और चुनाव लड़ने के बावजूद और कांग्रेस केन्द्र में सरकार बनाने के उद्देश्य से पूरी तरह एकमत दिखायी दिये व सरकार संचालन में साथ–साथ हैं।[6]

इसी प्रकार जैन आयोग की रिपोर्ट के आधार पर कांग्रेस द्रुमक नेतृत्व को पूर्व प्रधानमंत्री राजीव गाँधी की हत्या के षड़यंत्र में सहभागी मानती थी और इसी आधार और मुद्दे पर 1997 में उसने गुजराल के नेतृत्व वाली संयुक्त मोर्चा सरकार से समर्थन वापस ले लिया था और सरकार गिर गई थी। किन्तु 2004 के चौदहवें लोकसभा चुनावों में दोनों ही दल एक साथ आये और गठबंधन कर चुनाव लड़ा तथा अब सत्ता में सहभागी हैं।

लगभग यही स्थिति राजग की भी है। भाजपा इस गठबंधन का नेतृत्व दल है और मात्र शिवसेना व अकाली दल इसके स्वाभाविक सहयोगी रहे हैं। शेष अन्य दल जैसे जद (यू), समता, तृणमूल, तेदेपा, बीजद आदि सभी जो साथ हैं अथवा साथ रहे हैं एक समय में कांग्रेस के साथ–साथ भाजपा विरोध की भी राजनीति करते रहे हैं। किन्तु परिस्थितियों, विवशताओं और आवश्यकताओं ने इन्हें मात्र कांग्रेस विरोध तक सीमित होने और एक गठजोड़ के रूप में संगठित होने के लिये प्रेरित किया। इसके लिये सर्वप्रथम भाजपा ने पहल करते हुए अपने उन विवादास्पद मुद्दों को अपने एजेण्डे से स्थगित अथवा अलग किया जो उसकी अपनी अलग पहचान के आधार थे और जिनसे अन्य

---

6. संयुक्त मोर्चा सरकार में भाकपा शामिल थी जबकि माकपा ने बाहर से समर्थन दिया था। संप्रग सरकार में सभी वामपंथी दलों ने बाहर से समर्थन दिया है, वे गठबंधन व सरकार में सम्मिलित नहीं है।

सहयोगी दलों को परहेज हो सकता था। ये मुद्दे थे राम मन्दिर, धारा 370 व समान नागरिक संहिता। इसके बाद अन्य दलों के लिये भाजपा से हाथ मिलाना सहज था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संक्रमण की स्थिति में राजनीतिक दलों ने अपने अपने मतभेदों व विवादास्पद मुद्दों को ताक पर रखकर परस्पर सहमति का विकास करते हुए सरकार संचालन के उद्देश्य से एक जुटता दिखायी। इससे भारत की बहुदलीय व्यवस्था में सैकड़ों की संख्या में विद्यमान दलों का दो ध्रुवों में ध्रुवीकरण प्रारम्भ हुआ जिसे ब्रिटेन की द्विदलीय व्यवस्था का नया भारतीय प्रतिरूप कहा जा सकता है। वर्ष 2004 के लोकसभा चुनाव मूलतः राजग और सप्रंग दो गठबन्धनों के बीच हुए। यदि यह प्रक्रिया या यह स्थिति न विकसित हुई होती तो लोकसभा में किसी एक दल के बहुमत न प्राप्त हो पाने की स्थिति में सरकार बनाना व चलाना दुष्कर होता और राष्ट्र अस्थिरता अनिश्चितता के भँवर में डूबता–उतरता रहता और राष्ट्र को जो अप्रतिम क्षति होती उसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इस तरह के विकसित नये सत्ता समझ से नया सत्ता संगठन विकसित हुआ और देश व शासन को नयी दिशा मिली। एक हद तक हमने अस्थिरता और अनिश्चितता पर भी विजय प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की। इसे गठबंधन राजनीति की एक उल्लेखनीय सफलता माना जा सकता है।

2. विपक्ष का एक नया रूप–सत्तारूढ़ विपक्ष--गठबंधन सरकारों के दौर में एक नयी प्रवृत्ति उभर कर सामने आयी है–सत्तारूढ़ सहयोगियों द्वारा विरोध। यद्यपि यह संसदीय सिद्धान्तों के प्रतिकूल है किन्तु यदि लोकतांत्रिक चश्में से देखा जाये तो अधिक लोकतांत्रिक प्रक्रिया नजर आती है। सामान्य रूप से संसदीय शासन में मंत्रिमण्डल "सामूहिक उत्तरदायित्व" की अधारण पर कार्य करता है। एक दल का बहुमत होने पर सामूहिक उत्तरदायित्व का कारक प्रभावी रहता है और दलीय अनुशासन के चलते इसमें दरार की संभावना कम होती है। किन्तु संयुक्त सरकारों में जहाँ अनेक दलों की मिली जुली सरकार होती है, वहां सामूहिक उत्तरदायित्व का तत्व एक सीमा तक ही प्रभावी होता है। प्रत्येक दल का अपने–अपने दल के सांसदों पर तो नियंत्रण होता है किन्तु किसी एक नेता अथवा दल का सभी दलों के सांसदों पर नियंत्रण नहीं हो पाता। परिणाम स्वरूप प्रत्येक दल अपने–अपने राजनीतिक मूल्यों व स्वार्थों के आधार पर शासन की नीतियों का विरोध अथवा समर्थन करता है। कोई भी एक दल सरकार चलाने की

विवशता के चलते, किसी ऐसी नीति को निर्धारित अथवा लागू नहीं क़र सकता जिसका अन्य दल विरोध कर रहे हों।

वस्तुतः एक सशक्त विपक्ष लोकतंत्र की सफल अभिव्यक्ति के लिये अपरिहार्य हैं। किन्तु गठबंधन सरकारों में सरकार को विपक्ष के प्रहारों के साथ–साथ समय–समय पर सत्तारूढ़ सहयोगियों का विरोध भी झेलना पड़ता है। यह स्थिति अब तक बनी सभी गठबंधन सरकारों मे देखने को मिली है। संयुक्त मोर्चे की दोनों सरकारों को अपनी विविध नीतियों व कार्यों के सन्दर्भ में अपने समर्थकों कांग्रेस व मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी की निरन्तर घौंसपट्टी झेलनी पड़ी। इसी प्रकार राज़ग सरकार में भाजपा अपनी नीतियों को क्रियान्वित करने के लिये सहयोगियों के विरोध या समर्थन पर निर्भर रही। संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन सरकार को बाहर से समर्थन दे रहे वामपंथी दलों ने तो एक प्रकार से घोषित ही कर रखा है कि वे सरकार के नीतियों और कार्यों पर निगाह रखेंगे और उसके समीक्षक के रूप में कार्य करेंगे। चाहे प्रत्यक्ष विदेशी निवेश का मामला हो या तेल की कीमतों में वृद्धि का उन्होंने इसका विरोध किया है।

इस प्रवृत्ति के चलते किसी भी सरकार के लिये यह संभव न हो सकेगा कि वह एकतरफा स्वेच्छाचारी निर्णय ले सके। उसे घटक दलों की सहमति व सहयोग की अपेक्षा होगी। ऐसे में गलत निर्णय लिये जाने की संभावनायें कम हो जायेंगी। एक दलीय बहुमत वाली सरकार में दलीय अनुशासन के चलते कार्यपालिका को केवल विपक्ष के विरोध का सामना करना पड़ता है। और यदि बहुमत प्रबल हो तो सरकार के स्वेच्छाचारी होने की संभावना होती हैं किन्तु गठबंधन की स्थिति में सरकार के कार्यों एवं नीतियों पर विपक्ष के साथ–साथ के सहयोगियों की भी पैनी नजर होती है। इस स्थिति का एक नकारात्मक पक्ष भी है–सरकार के किसी अच्छे कार्य का विरोध सहयोगियों द्वारा अपने राजनीतिक लक्ष्य के आधार पर किया जा सकता है। उदारीकरण और वैश्वीकरण के इस युग में अर्थव्यवस्था के सुधार हेतु उठाये गये कदमों के सन्दर्भ में दोनों ही गठबंधन सरकारों के सम्बन्ध में इस तरह की स्थिति देखने को मिली है। किन्तु इस तरह के उदाहरण कम ही हैं। अतः इस प्रक्रिया को हम एक स्वस्थ लोकतांत्रिक परम्परा और जनहितकारी प्रवृत्ति के रूप में परिभाषित कर सकते हैं।

3. राष्ट्रीय एकता का सन्दर्भ–गठबंधन की राजनीति ने भारत में राष्ट्रीय एकता के तत्व को किस प्रकार प्रभावित किया है, यह विवाद का बिन्दु है। इस प्रश्न से

दो भावनायें सम्बद्ध हैं–क्षेत्रीयता की भावना और राष्ट्रीययता की भावना। इस सम्बन्ध में भारत के विविध क्षेत्रों के विविध वर्गों के प्रबुद्ध लोगों के विचार जानने हेतु शोधार्थी ने तैयार की गई साक्षात्कार अनुसूची में कई तरह से कई प्रश्न रखे।[7] इन प्रश्नों के उत्तरों का विश्लेषण करने पर जो निष्कर्ष निकलता है उसे मिश्रित नहीं माना जा सकता और यह स्पष्ट संकेत देता है कि गठबंधन की राजनीति राष्ट्रीय एकता के हित में नहीं है। जैसे यह पूछे जाने पर कि लगातार गठबंधन सरकार बनते रहने से लोगों की राष्ट्रीयता की भावना पर कैसा प्रभाव पड़ेगा? 50 प्रतिशत लोगों ने प्रतिकूल, 25 प्रतिशत लोगों ने अनुकूल और इतने ही लोगों ने इस सम्बन्ध में अनिश्चितता अथवा अनभिज्ञता की बात कहीं।[8] इसी प्रकार यह पूछे जाने पर कि क्या इससे लोगों में क्षेत्रीयता की भावना बढ़ेगी? 80 प्रतिशत लोगों ने इस तथ्य को स्वीकार किया। 20 प्रतिशत उत्तरदाता नही मानते कि गठबंधन की राजनीति से क्षेत्रीयता की भावना बढ़ेगी।[9] जब यह पूछा गया कि क्या गठबंधन की राजनीति आम लोगों में राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ावा देती है तो 35 प्रतिशत उत्तरदाताओं के उत्तर सकारात्मक थे जबकि 60 प्रतिशत ने इसे नकार दिया और 5 प्रतिशत लोग अनिश्चिय की स्थिति में नजर आये।[10] इस सन्दर्भ में 75 प्रतिशत लोगों ने राष्ट्रीय एकता के हित में बहुदलीय सरकार की तुलना में एक दल की सरकार का समर्थन किया है।[11] एक प्रश्न के जबाव में 15 प्रतिशत लोगों ने स्वीकार किया कि इससे राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ हुई है जबकि इसके विपरीत 50 प्रतिशत लोग यह मानते हैं कि गठबंधन की राजनीति से राष्ट्रीय एकता क्षीण हुई है और 35 प्रतिशत उत्तरदाता यह स्वीकार करते हैं कि इससे भारत की राष्ट्रीयता की भावना पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।[12]

वस्तुतः यदि सर्वेक्षण के इन निष्कर्षों पर विश्वास कर लिया जाये तो यह बात स्वीकार कर लेनी होगी कि गठबंधन की राजनीति राष्ट्रीय एकता के हित में नहीं हैं। ऐसी आशंका गठबंधन मे क्षेत्रीय दलों की उपस्थिति व उनकी क्षेत्रीय निष्ठा वाले राजनीतिक व्यवहार को ध्यान में रखकर ही जेहन में उभरती है। किन्तु जब किसी एक राष्ट्रीय दल को लोक सभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो, क्षेत्रीय दलों के सहयोग से सरकार

---

7. देखें परिशिष्ट एक–साक्षात्कार अनुसूची प्रश्न संया 12 से 17।
8 साक्षात्कार अनुसूची पद्धति से लिये गये साक्षात्कार के आधार पर।
9. वही।
10 वही।
11 वही।
12 वही।

बनाना अपरिहार्य हो तब? ऐसी स्थिति में उनकी राष्ट्रवादी निष्ठा पर संदेह करना गलत होगा। वास्तव में यह शोध सर्वेक्षण शोध कार्य के प्रारम्भ में वर्ष 2001–2002 के दौरान किया गया था, तब और यहां तक कि एक गठबंधन सरकार के सफल संचालन और दूसरे के सफलतापूर्वक सत्तारूढ होने के बाद भी भारतीय जन मानस में गठबंधन की राजनीति के विषय में स्थिति स्पष्ट नहीं है और अनेक भ्रान्तियां बनी हुई हैं। यदि हम गहन चिन्तन करें तो गठबंधन की राजनीति में राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय एकता के बीज छिपे मिलेंगे। इस स्थिति में मतदाताओं की क्षेत्रीय निष्ठायें गठबंधन के घटक दलों से हो सकेंगी, पर साथ ही साथ उनकी राष्ट्रीय निष्ठा पूरे गठबंधन ध्रुव से होंगी। इस प्रकार क्षेत्रीयता और राष्ट्रीयता का अदभुत समन्वय मतदान व्यवहार में दिखायी देता है। इससे राष्ट्रीय एकता को बल मिलेगा।

इसके साथ ही क्षेत्रीय/राज्य स्तरीय दलों की भूमिका क्षेत्रीय संकीर्णता से उबर कर राष्ट्रीय आयाम प्राप्त कर सकेगी और उनकी यह विस्तारित नई भूमिका राष्ट्रवाद को सुदृढ़ करेगी। इस व्यवस्था में कोई क्षेत्र, कोई दल, या कोई समूह स्वयं को उपेक्षित या राष्ट्र की मुख्यधारा से अलग–थलग नहीं पायेगा और निचय ही उनकी ऊर्जा, उनकी भावना, उनकी निष्ठा राष्ट्र के साथ संयुक्त हो एकता की नई परम्परा का सूत्रपात कर सकेगी।

4. लोकतंत्र एवं गठबंधन की राजनीति–भारत में गठबंधन की राजनीति ने न केवल संसदीय लोकतंत्र को संरक्षण प्रदान किया है बल्कि स्थायित्व प्रदान करते हुए भारतीय राजनीति को एक नवीन दिशा प्रदान की है। पहली सफल गठबंधन सरकार का नेतृत्व करने वाले पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी बाजपेयी ने इण्डिया टुडे को दिए एक साक्षात्कार में अपने सरकार की उपलब्धियों के सन्दर्भ में पूछे गये प्रश्न के उत्तर में स्वीकार किया कि "गठबंधन–सरकार खुद में एक उपलब्धि है। अलग–अलग पार्टियों के होते हुए भी हम देश में एकता मजबूत करने विकास को गति देने में सफल रहे और मिल कर काम करने की भावना बढ़ी।"[13] वास्तव में गठबंधन के इस सफल प्रयोग ने यह साबित कर दिया कि द्विदलीय व्यवस्था संसदीय लोकतंत्र की आवश्यकता नहीं रही। गठबंधन की राजनीति विविधतापूर्ण भारतीय समाज में संसदीय लोकतंत्र के संचालन का अपना एक सफल प्रयोग है और 2004 के लोकसभा चुनावों में दिखायी दिया गठबंधनों

13. इण्डिया टुडे, 12 जनवरी 2004, पृ. 36

का ध्रुवीकरण इंग्लैण्ड के द्विदलीय प्रणाली का भारतीय प्रत्युत्तर है। इससे न केवल भारतीय लोकतंत्र के उन्नत और ऊर्जावान होने के संकेत मिलते हैं बल्कि इसमें राष्ट्रवाद के बीज भी छिपे हुए हैं। वास्तव में संसदीय लोकतंत्र में एक दलीय बहुमत सरकार की तुलना में गठबंधन सरकार अधिक लोकतांत्रिक साबित हुई हैं। एक दलीय बहुमत सरकार में दलीय अनुशासन की प्रतिबद्धताओं के चलते बहुमत दल के सांसद आम तौर पर सरकार की नीतियों के विरोध में नहीं उतरते। संसद में सत्ता पक्ष और प्रतिपक्ष के बीच एक स्पष्ट विभाजक होता है जिसमें सत्तापक्ष सामान्यतया एक साथ खड़ा होता है। इसके विपरीत गठबंधन में स्थिति भिन्न होती है। सत्ता और प्रतिपक्ष के बीच नीतिगत टकराव तो होता ही है, साथ ही यदि किसी नीतिगत मुद्देपर गठबंधन के सहयोगियों मे मतैक्य नहीं है तो वे भी सन्दर्भित प्रश्न पर विरोध में उठ खड़े होते हैं इससे सरकार के निरंकुश व स्वेच्छाचारी होने की सम्भावना नहीं रहती। यह स्थिति राजग सरकार और संप्रग सरकार दोनों के संचालन के दौरान देखने को मिली है, जब किसी विशेष मुद्दे पर सरकार को सहयोगियों के विरोध के कारण कदम वापस खींचना पड़ा।

इस संदर्भ में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि गठबंधन सरकार एकदलीय सरकार की तुलना में अधिक व्यापक हितों का प्रतिनिधित्व करती है। भारत विविधताओं से परिपूर्ण देश है। ऐसे में एक दलीय सरकार कितना ही व्यापक विस्तार रखती हो, तमाम हितों का प्रतिनिधित्व आछूता रह जाता है जबकि गठबंधन अलग–अलग हितों के गठजोड़ के रूप में ही तैयार होता है। अतः इसके प्रतिनिधित्व का आधार अधिक विस्तृत होता है। इस स्थिति में सरकार में प्रतिनिधित्व करने वाले हर छोटे–बड़े हित की अपनी आवाज हाती है और वे देश के राष्ट्रीय पटल पर अपनी बात रख पाने में सक्षम होते हैं। ऐसे में अधिक से अधिक हितों का प्रतिनिधित्व अधिक से अधिक हितों की सुरक्षा सुनिश्चित करने में सक्षम होता है।

इन बिन्दुओं के प्रकाश में गठबंधन सरकार को अधिक लोकतांत्रिक कहा जा सकता है। इस बात की पुष्टि किये गये सर्वेक्षण के आधार पर भी हुई जिसमें 45 प्रतिशत उत्तरदाताओं ने इसके पक्ष में 35 प्रतिशत ने विपक्ष में मत व्यक्त किया। शेष 15 प्रतिशत इस प्रश्न पर अनिश्चय की स्थिति में दिखाई दिये।[14]

14. साक्षात्कार अनुसूची पद्धति से लिये गये साक्षात्कार के आधार पर।

5. गठबंधंन की राजनीति और भारतीय संघवाद–भारतीय संघात्मक व्यवस्था का चरित्र भाषा, क्षेत्रवाद, एकता और संस्कृतिवाद जैसे विशेषताओं के सम्मिश्रण पर आधारित हैं जिसमें राज्यों पर केन्द्र की सर्वोच्चता स्थापित करने का प्रयास किया गया है। संभवतः यही कारण है कि भारतीय संघ के लिये संविधान में "Federation" शब्द का सम्बोधंन न देकर इसे "Union of states" कहा गया है। व्यवहार में भारतीय संघ संघात्मक और एकात्मक दोनों ही व्यवस्थाओं के मिश्रण के रूप में कार्य कर रहा है।[15] भारतीय संघात्मक व्यवस्था के अब तक के क्रियान्वयन का हम यदि विश्लेषण करें तो इसे निम्न चार चरणों में विभक्त कर सकते हैं–

1. प्रथमचरण 1950 से 1967 तक माना जा सकता है जब केन्द्र के साथ–साथ राज्यों में भी कांग्रेस का वर्चस्व था। इस समूचे काल में भारतीय व्यवस्था केवल सैद्धान्तिक रूप से ही संघात्मक थी व्यवहार में यह एकात्मक थी क्योंकि केन्द्र और राज्यों सब पर एक प्रकार से केन्द्रीय नेतृत्व का नियंत्रण था।

2. दूसरा चरण 1967 से 1977 तक का माना जा सकता हैं जब अनेक राज़्यों में गैर कांग्रेसी सरकारें पदारूढ़ होती हैं। इस चरण में कुछ राज्यों द्वारा अधिक स्वायत्तता की मांग पर विशुद्ध संघ की माँग प्रारम्भ की जाती है। 1967–71 के बीच केन्द्र राज्य विवाद चरम पर था। गैर–कांग्रेस शासित राज्यों की सरकारें अपने अपने अधिक अधिकारों के लिये दबाव डाल रही थी जबकि केन्द्र उनकी माँगे मानने को तैयार नहीं था। इस सम्बन्ध में पुनरीक्षण हेतु तमिलनाडु सरकार ने 1969 में राजमन्नार समिति का गठन किया, और प0 बंगाल सरकार ने 1977 में एक समृति पत्र जारी किया जिसमें केन्द्र राज्य सम्बन्धों के विषय में अनेक सुझाव थे। 1978 में पंजाब में अकाली दल ने "आननदपुर साहिब" प्रस्ताव पारित कर अधिक स्वायतत्ता की माँग की। कह सकते हैं कि यह चरण राज्यों की केन्द्र से अधिक स्वायतत्ता की माँग के लिए संघर्ष का चरण था।

3. तीसरा चरण 1977 से 1989 तक माना जा सकता है। 19977 में कांग्रसे पहली बार केन्द्र की सत्ता से बेदखल हुई थी ओर बाद में इसे अनेक राज्यों से भी हाथ धोना पड़ा था। 1980 और 1984 के चुनावों में कांग्रेस को भारी विजय मिली किन्तु 1989 से पुनः उसकी स्थिति कमजोर होने लगी। राज्यों द्वारा विशेष रूप से गैर कांग्रेस शासित राज्य द्वारा अधिक स्वायत्तता की मांग इस चरण में और तेज हो गई जिसके निराकरण के लिए सरकारिया आयोग का गठन किय गया। इस आयोग ने केन्द्र राज्य सम्बन्धों के

---

15. Kham, M.G, Coalition government and federal system in India, IJPS. Jul-Dec-2003 P. 169

पुनरीक्षण हेतु अपना प्रतिवेदन 1988 में प्रस्तुत किया। इस प्रतिवेदन में राज्यों द्वारा की जा रही माँगों के सन्दर्भ में विशेष सकारात्मक परिणाम नहीं प्राप्त हुए। इसमें राज्यपालों के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख था।

4. चौथा चरण 1989 से अद्यतन जारी है। यह चरण केन्द्र और राज्यों दोनों में कांग्रेस के कमजोर होने और गठबंधंन सरकारों के क्रियान्वयन का युग है। इस चरण के दौरान निम्न तथ्य उभर कर सामने आये हैं–

(क) कांग्रेस वर्चस्व की स्थिति का समापन।

(ख) केन्द्र में गठबंधंन सरकारों का अस्तित्व।

(ग) क्षेत्रीय दलों का प्रभाव विस्तार।

(घ) केन्द्रीय सरकार की अपेक्षाकृत निर्बल स्थिति।

इस चरण की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें राष्ट्रीय दलों की स्थिति दयनीय हुई है और क्षेत्रीय अथवा राज्य स्तरीय दलों ने अपने–अपने क्षेत्र विशेष में अपनी पैठ, अपनी ताकत बढ़ाई है जिसके चलते ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि केन्द्र में बिना क्षेत्रीय शक्तियों के भागीदारी के न तो कोई सरकार बना सकती हैं और न ही चला सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि केन्द्रीय शासन में अब क्षेत्रीय दलों की सहभागिता के अवसर बढ़े हैं। ऐसे में क्षेत्रीय दल, जो अब तक केन्द्र से राज्यों के लिये अधिक स्वायत्तता की मांग करते रहे ये, स्वयं भारतीय संघवाद की प्रकृति के नियामक बन गये हैं। ऐसी सरकार जिसमें राष्ट्रीय दलों के साथ–साथ क्षेत्रीय दलों की भी हिस्सेदारी हो, राज्यों के हितों की अनदेखी नही कर सकती व उनके स्वायत्त स्वरूप में हस्तक्षेप की संभावना भी कम हो जाती हैं। ऐसे में भारतीय संघात्मक व्यवस्था एक नया रूप धारण कर रहा है, जिसे सहयोगी संघवाद का नाम दिया जा सकता है। ध्यान रहे कि यह बदलाव किसी संविधान संशोधन के माध्यम से नहीं आ रहा बल्कि यह गठबंधंन सरकार संचालन प्रक्रिया की उपज है।

1989 के बाद से यदि हम देखें तो पायेंगे कि 1991 के आम चुनावों के बाद कांग्रेस की एक दलीय अल्पमत सरकार, जिसने येन केन प्रकारेण बहुमत जुटाया और बनाये रखा, के अतिरिक्त 1996 से बनने वाली सभी सरकारें क्षेत्रीय दलों के सहयोग से ही बनी हैं। ऐसे में गठबंधंन सरकार का संचालन सभी संघटक दलों के सहमति से बनाये गये "न्यूनतम साझा कार्यक्रम" के आधार पर किया जाता है। इस न्यूनतम साझा कार्यक्रम में राष्ट्रीय हितों के साथ–साथ क्षेत्रीय हित भी सन्दर्भित रहते हैं। विभिन्न घटकों

में समन्वय बनाये रखने के लिये समन्वय समिति होती है जो सरकार के कामकाज पर निगरानी रखती हैं। ऐसे में केन्द्र सरकार राज्यों के सन्दर्भ में न तो स्वेच्छाचारी हो सकती है और न ही मनमाने तरीके से नीतियों का निर्धारण कर सकती हैं। वास्तव में इस स्थिति में सरकार में सहभागी क्षेत्रीय दलों की सहमति के बिना क्षेत्रीय हितो के विरूद्ध कुछ किया ही नही जा सकता। साथ ही अब राज्यों को विकास कार्यक्रमों के निर्धारण में अपनी प्राथमिकताओं के निर्धारण के अधिक अवसर उपलब्ध हो रहे हैं और अपनी योजनाओं के निर्धारण में अधिक स्वतंत्रता मिल रही है। अनु0 356 के दुरूपयोग की संभावनायें घटी हैं। "राष्ट्रीय विकास परिषद" और "और अन्तरराज्य परिषद" अधिक सक्रिय हुए हैं

इस प्रकार गठबंधंन की राजनीति के चलते भारतीय संघात्मक व्यवस्था के, राज्यों के सन्दर्भ में, नकारात्मक तत्वों–केन्द्रीय हस्तक्षेप में कमी आयी है और सकारात्मक रूप से राज्यों को राज्य की राजनीति के साथ–साथ केन्द्रीय राजनीति के निर्धारण का अवसर भी प्राप्त हुआ है जिससे वे साथ मिल बैठकर क्षेत्रीय माँगों व राष्ट्रीय प्राथमिकताओं में समन्वय स्थापित करते हुए भारतीय संघ के नवीन सहयोगी स्वरूप का निर्धारण कर रहे हैं।

किन्तु इस सन्दर्भ में एक नकारात्मक तथ्य भी उभर कर सामने आया है। क्षेत्रीय अथवा राज्य स्तरीय दल अपने क्षेत्र विशेष में अपना वर्चस्व बनाये रखने की नीयत से प्रायः सरकार में अपने क्षेत्रीय हितों के सम्बन्ध में सौदेबाजी करते नजर आये हैं। इस प्रक्रिया में प्रायः क्षेत्रीय हित प्रधान हो जाते हैं और राष्ट्रीय हितों को नजर अन्दाज कर दिया जाता है। गठबंधंन सरकार के संचालन में यह प्रवृत्ति साफ दिखायी दी है। यही कारण है कि शोधार्थी द्वारा किये गये सर्वेक्षण में मात्र 25 प्रतिशत लोगों ने गठबंधंन सरकार के प्रभाव से भारतीय संघ के सहयोगी संघवाद की ओर रूझांन को स्वीकार किया है जबकि इसके विपरीत 75 प्रतिशत लोग यह मानते हैं कि हमारी संघात्मक व्यवस्था गठबंधंन की स्थिति में सौदेबाजी की प्रवृत्ति की ओर बढ़ी है।[16]

जो भी हो इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि गठबंधंन सरकारों के युग में भारतीय संघात्मक व्यवस्था में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति कम हुई है। केन्द्र पहले की तुलना में कमजोर हुआ है और राष्ट्रीय राजनीति में क्षेत्रीय दलों और राज्यों की भूमिका का विस्तार हुआ है। यहां ध्यान रखने योग्य बात यह है कि क्षेत्रीय दल यदि केवल

---

16. साक्षात्कार अनुसूची पद्धति से किये गये सर्वेक्षण के आधार पर।

क्षेत्रीय महात्वाकांक्षाओं की पूर्ति के उद्देश्य से सौदेबाजी की राजनीति करते हैं तो यह नकारात्मक प्रभाव उत्पन्न करेगा और समूची व्यवस्था के लिये अहितकर होगा, स्वयं राज्यों के लिये भी। किन्तु यदि वे सूझ–बूझ के साथ सहयोगात्मक प्रवृत्ति का प्रदर्शन करें तो क्षेत्रीय आकाँक्षाओं के साथ–साथ राष्ट्रीय प्राथमिकताओं को भी पूर्ण कर पाना सहज होगा? और इस स्थिति में सबका कल्याण होगा।

गठबंधन की राजनीति के नकारात्मक और सकारात्मक दोनों प्रभावों का विश्लेषण इस अध्ययन में किया गया। उद्देश्य मात्र इतना है कि यदि हम उक्त नकारात्मक पक्षों–प्रभावों से बच सके तो सकारात्मक प्रभावों की उपादेयता स्वतः बढ़ जायेगी और हम ससदीय शासन में ब्रिटेन के द्विदलीय पद्धति का भारतीय बहुदलीय गठबंधन प्रतिमान प्रत्युत्तर के रूप में दे सकने में सक्षम होंगे और भारत में एक नवीन लोकतांत्रिक राज संस्कृति का विकास संभव होगा।

अध्याय—आठ

उपसंहार

अध्याय–आठ

उपसंहार

किसी भी देश के शासन प्रणाली के स्वरूप का निरूपण उस देश के संविधान, दल प्रणाली, निर्वाचन पद्धति, राजनीतिक पर्यावरण व राजनीतिक संस्कृति आदि पर आधारित होता है। सरकारों के गठन, कार्यवाही एवम् पतन में इन तत्वों का बहुत योगदान होता है। भारत में अब तक बनी प्रमुख गठबंधन सरकारों के गठन, कार्यवाही एवं पतन में भी उपर्युक्त तत्वों का विशेष योगदान रहा है। ये वो तत्व हैं जिनके कारण एक ही प्रकार की शासन प्रणाली अपनाने वाले अलग–अलग राज्यों में शासन संचालन की अलग–अलग संस्कृतियों अथवा कार्यपद्धतियों का विकास होता है। बेशक संसदीय शासन का जन्म एवं विकास ब्रिटेन में हुआ किन्तु कालान्तर में अन्यत्र देशों ने भी इस शासन पद्धति को अंगीकार किया। किन्तु इन दशों में जिस संसदीय कार्य संस्कृति का विकास हुआ, वह बिल्कुल वही नहीं था जो कि ब्रिटेन में है।

ब्रिटेन के संसदीय शासन में द्विदलीय पद्धति के मॉडल का विकास हुआ, जिसमें स्पष्ट बहुमत आधारित एक दल की सरकार के दलीय अनुशासन एवं राजनीतिक सजातीयता के आधार पर कार्य करने की रीति विकसित हुई। वास्तव में कुछ एक अपवादों को छोड़ कर ब्रिटेन में कभी भी गठबंधन अथवा मिली जुली सरकार को पसन्द नहीं किया गया। भारत ने भी अपने संवैधानिक जीवन पद्धति के रूप में ब्रिटिश संसदीय आदर्श को चुना किन्तु भारत का संसदीय मॉडल ब्रिटेन से भिन्न विकसित हुआ। इसके लिये भारतीय संविधान, दल प्रणाली निर्वाचन पद्धति, राजनीतिक पर्यावरण व राजनीतिक संस्कृति आदि तत्व ही उत्तरदायी हैं। भारत की बहुलतावादी संस्कृति में द्विदलीय पद्धति का विकसित होना मुनासिब नहीं था। यहां स्वतंत्रता के पूर्व से ही अनेक राजनीतिक दल अथवा गुट विद्यमान थे, जिनकी संख्या स्वतंत्रता के बाद निरन्तर बढ़ती गई और भारत में एक बहुदलीय राजनीतिक व्यवस्था का विकास हुआ।

किन्तु 1967 के चौथे आम चुनावों के पूर्व तक भारत में बहुदलीय व्यवस्था के होते हुए भी एक दल–कांग्रेस के प्रभुत्व व वर्चस्व वाली व्यवस्था कायम रही। इस स्थिति में केन्द्र व राज्यों में कांग्रेस के समक्ष कोई प्रभावी राजनीतिक चुनौती नहीं थी और एक दलीय सरकारें

बनती और काम करती रहीं। 1967 के चुनावें में पहली बार केन्द्र व राज्यों में कांग्रेस की स्थिति अपेक्षाकृत कमजोर हुई और कई राज्यों में मिली जुली सरकारें बनीं। यहां से भारतीय राजनीति में वास्तविक बहुदलीय व्यवस्था का उभार माना जा सकता है, क्योंकि अब दूसरे राष्ट्रीय व क्षेत्रीय अथवा राज्य स्तरीय दल भी अपनी प्रभावी उपस्थिति दर्ज कराने लगे थे। विशेष रूप से अलग–अलग क्षेत्रों में उभरे क्षेत्रीय दलों ने राजनीतिक स्थिति को अधिक प्रभावित किया।

क्षेत्रीय दलों के इस प्रभाव विस्तार ने प्रमुख रूप से राष्ट्रीय दलों का, विशेष रूप से कांग्रेस का जिसका विस्तार पूरे भारत में था, प्रभाव क्षेत्र सीमित किया। परिणामस्वरूप कतिपय क्षेत्रों की राजनीति में राष्ट्रीय दलों का दबदबा कम होता गया और वे कमोबेश क्षेत्र विशेष की राजनीति में अपनी उपस्थिति बनाये रखने की गरज से क्षेत्रीय दलों की कृपा पर निर्भर करने लगे। 1989 तक आते–आते एक स्थित ऐसी आई जब किसी भी एकदल को लोकसभा में पूर्ण बहुमत मिलना प्रायः कठिन हो गया। एक दल के बहुमत वाली स्थिर सरकार भारतीय राजनीति में स्वप्न सरीखी प्रतीत होने लगी। 1991 में अवश्य कांग्रेस की एकदलीय अल्पमत सरकार बनी, जिसने येन–केन प्रकारेण अपना बहुमत सिद्ध किया व पूरे पांच वर्ष तक शासन का संचालन किया, किन्तु यह अपवाद मात्र कहा जा सकता हैं। किसी एंक दल को लोक सदन में पूर्ण बहुमत न मिल पाना संसदीय शासन में सरकार बनाने व चलाने के सन्दर्भ में एक विकट समस्या व संकट का बिन्दु होता है। भारतीय राजनीति में कुछ ऐसी ही स्थितियां उभरी जिनके चलते केन्द्र में अनिश्चितता और अस्थिरता का वातावरण बना।

इस समस्या के समाधान के रूप में भारतीय राजनीति ने गठबंधन के विकल्प का चयन किया। इस विकल्प के प्रारम्भिक प्रयोगों का अनुभव कटु रहा किन्तु 1998 से 2004 तक राजग सरकार के अनुभव ने इस प्रयोग को नई दिशा, नये आयाम प्रदान किये। निश्चय ही विविधतापूर्ण भारतीय संस्कृति में बहुदलीय व्यवस्था के प्रभावी होने की संभावना विद्यमान है और ऐसी स्थिति में संसदीय मूल्यों के अनुरूप एकदलीय बहुमत वाली सरकार के बनने की संभावनायें क्षीण हो जाती हैं। ऐसे में एक कारगर गठबंधन संस्कृति का विकास अपरिहार्य हो जाता है। भारत में ऐसा ही कुछ हुआ जब 2004 के आम चुनाव दो दलों के बीच नहीं, बल्कि दो गठबंधनों के बीच हुए यह भारतीय संसदीय प्रतिरूप ब्रिटिश संसदीय प्रतिरूप का भारतीय प्रत्युत्तर था।

यद्यपि केन्द्रीय राजनीति में प्रमुख राष्ट्रीय दलों ने बुझे मन से ही सही, गठबंधन के आदर्श को स्वीकार कर लिया है और यहां यह उनके लिये नया अनुभव हो सकता है किन्तु राज्यों की राजनीति में यह 1967 के बाद से ही प्रभावी रहा है। इस प्रकार केन्द्र में बनी अब तक की गठबंधन सरकारों की राज्यों में बनी संविद सरकारों से तुलना की जाये तो कई समान व असमान विशेषतायें उभर कर सामने आती हैं। केन्द्रीय राजनीति में प्रारम्भिक दौर में बनी गठबंधन सरकारें, विशेष रूप से तब जब भारतीय राजनीति में कांग्रेस का दबदबा था गैर–कांग्रेसवाद अर्थात कांग्रेस विरोध का परिणाम थी। जिसका अर्थ यह था कि जितने भी विपक्षी दल कांग्रेस विरोधी थे, सबने मिल कर संयुक्त का निर्माण किया चाहे उनकी सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता कुछ भी रही हो। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि कांग्रेस विरोध के नाम पर परस्पर विरोधी ध्रुव भी एक ध्वज के नीचे संगठित हुए और सरकार का गठन किया। इस प्रक्रिया में वामपंथी और दक्षिणपंथी दोनों साथ–साथ नजर आये। 1977 में जनता पार्टी की सरकार हो अथवा 1989 में पी0वी0 सिंह के नेतृत्व में जनता दल–राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार जिसे दायें (भाजपा) व बायें (भाकपा–माकपा) बाजू दोनों को बाहर से समर्थन प्राप्त था। कमोबेश 1967 के बाद से राज्यों में भी इसी प्रकार परस्पर विरोधी विचारों वाले दलों में तालमेल हुआ। इस तरह की संयुक्त सरकारों में न तो केवल वामपंथी दल थे और न केवल दक्षिणपंथी ही अपितु बहुत सी संयुक्त सरकारें ऐसी बनी जिनमें वाम तथा दक्षिण दोनो तरह के दल सम्मिलित थे। ऐसा होने का मूल कारण यह था कि वे संयुक्त सरकारें गैर–कांग्रेसवाद की भावना को लेकर गठित की गई थी और वे बिना सभी कांग्रेस विरोधी दलों के सहयोग के संभव नहीं था। परिणामस्वरूप इस प्रकार की गठबंधन सरकारों में आदर्शगत अनुशासन का अनुप्राप्य होना स्वाभाविक ही था। और ऐसे में परस्पर विरोध, खींच–तान व महात्वकांक्षाओं का टकराव भी उतना ही स्वाभाविक था। इन सबके चलते ये सरकारे अल्पकालिक साबित हुईं और गठबंधन सरकारों पर अस्थायी अक्षम और कलहयुक्त होने का ठप्पा लग गया।

कालान्तर में राज्यों में इस दोष को समझते हुए संयुक्त सरकारों के गठन में वैचारिक एकता के तत्व पर ध्यान दिया जाने लगा और इस प्रकार राज्यों में जो संयुक्त सरकारें अस्तित्व में आयी वे स्थायित्व की कसौटी पर खरी उतरी जैसे पंजाब में अकाली–जनसंघ व अकाली–भाजपा, महाराष्ट्र में भाजपा–शिवसेना, कांग्रेस–राष्ट्रवादी कांग्रेस, पं0 बंगाल में वाममोर्चे व केरल में वाम मोर्चा अथवा कांग्रेस के नेतृत्व वाली गठबंधन। किन्तु अब भी जहां

सैद्धान्तिक एकरूपता का अभाव रहा, वहां सरकारें अस्थायी ही रही जैसे उत्तर प्रदेश में भाजपा–बसपा गठबंधन। किन्तु केन्द्र में वाम और दक्षिण के आधार पर एकरूपता की न तो संभावना थी और न ही इस प्रकार की रूपता बनी। यहां गैर–कांग्रेसवाद के समानान्तर एक दूसरी धारा चल निकली गैर–भाजपावाद और वैचारिक ध्रुवीकरण हेतु दो ध्रुव तैयार हो गये–धर्म निरपेक्ष दल और साम्प्रदायिक दल। यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि किसी दलके धर्मनिरपेक्ष अथवा साम्प्रदायिक होने की परिभाषा व मापदण्ड राजनीतिक दलों द्वारा अपनी सुविधानुसार गढे जाते रहे और इनकी व्यख्या की जाती रही। कुल मिलाकर कहने का तात्पर्य यह है कि केन्द्र में प्रारम्भ में गठबंधन जहां गैर–कांग्रेसवाद की धारणा पर आधारित रहे वहीं बाद में इस धारा के साथ–साथ गैर–भाजपावाद की पृष्ठभूमि भी उभर कर सामने आई और अब गठबंधनों का ध्रुवीकरण इन्हीं दो धाराओं के आधार पर निर्धारित होता है, जिसमें सैद्धान्तिक अथवा वैचारिक एकरूपता का सर्वथा अभाव है और सब कुछ राजनीतिक आवश्यकताओं से प्रेरित रहा है।

गठबंधन का निर्माण

भारत में अब तब बनी सभी गठबंधन सरकारें स्थिति विशेष का परिणाम रही हैं। स्थिति का तात्पर्य निर्वाचन के नियम, संसद के कार्यवाही संबंधी नियम संसद में दलीय स्थिति देश का तात्कालिक वातावरण, जनता की इच्छा, व देश की राजनीति से है। भारत में बनी गठबंधन सरकारों के सन्दर्भ में उपर्युक्त में से दो तत्व विशेष रूप से प्रभावी रहे हैं–संसद में दलीय स्थिति ओर देश का तात्कालिक वातावरण। 1977 में केन्द्र में बनी पहली गैर–कांग्रेसी सरकार–जनता पार्टी की सरकार–ऊपरी तैयार पर तो एक दल की सरकार थी किन्तु यह दल–जनता पार्टी, स्वयं में चार दलों का गठबंधन था। अस्तु इस राजनीति प्रयोग को भी गठबंधन की श्रेणी में रखा जाना चाहिये। जनता पार्टी का गठन देश की तात्कालिक स्थिति का परिणाम था। 1975 से 1977 के बीच आपात काल के दौरान कांग्रेस सरकार की ज्यादतियों और नेतृत्व के निरंकुश व स्वेच्छाचारी दृष्टिकोण के विरूद्ध उभरे जनाक्रोश को देखते हुए बिखरे हुए विपक्ष ने एक जुट होने का प्रयास किया। विपक्ष की एक जुटता न केवल समय की माँग थी बल्कि जन आकाँक्षाओं का प्रतिबिम्ब भी थी। साथ ही जिस प्रकार से आपात काल के दौरान विपक्ष का दमन किया गया था, विपक्षी नेताओं को बलात जेलों में ठूंस दिया गया था और मौलिक अधिकारों पर पाबन्दियां आरोपित की गई थी, उससे विपक्षी

दलों के अस्तित्व पर भी संकट आन पड़ा था। ऐसे में समय की मांग, जन आकाँक्षाओं की पूर्ति व विपक्षी दलों के अस्तित्व की रक्षा के उद्देश्य ने इन्हें संगठित होने के लिए प्रेरित किया। इस समूचे कार्य में लोकनायक जय प्रकाश नारायण की भूमिका एकता के सूत्रधार की रही। इस प्रकार गैर कांग्रेसवाद का प्रथम प्रतिफल जनता सरकार के रूप में अस्तित्व में आया।

1989 में जनता दल के नेतृत्व में बनी राष्ट्रीय मोर्चे की गठबंधन सरकार उपरोक्त दोनो ही स्थितियों का परिणाम थी–देश का तात्कालिक वातावरण और संसद में दलीय स्थिति। बोफोर्स तोप सौदे में दलाली के मामले को लेकर तत्कालीन कांग्रेस सरकार के विरूद्ध जन असन्तोष संगठित हो रहा था और इसी ज़नमत के प्रवाह ने पुनः गैर–कांग्रेस वाद की भावना को बलवती और संगठित किया। इस बार एकता के सूत्रधार बने हरियाणा के नेता चौ0 देवीलाल इस दिशा में सर्वप्रथम जनतापार्टी, हरियाणा की लोकदल और कांग्रेस से वी0पी0 सिंह के नेतृत्व में अलग हुए गुट द्वारा बनाये गये जनमोर्चा के विलय से जनता दल का निर्माण हुआ। इसके पश्चात कांग्रेस विरोधी कुछ अन्य दलों ने मिलकर राष्ट्रीय मोर्चे का गठन किया। जनता दल इस मोर्चे का एक घटक था। मोर्चे के अन्य प्रमुख घटक थे तेदेपा, द्रमुक, आदि।

लोकसभा चुनावों के बाद जनता दल अथवा राष्ट्रीय मोर्चे की स्थिति 1977 में जनता पार्टी की स्थिति से भिन्न थी। 1977 में जहां जनता पार्टी को पूर्ण बहुमत मिला या वही राष्ट्रीय मोर्चा बहुमत से बहुत दूर था। मोर्चा संसद में अकेले सरकार बनाने की स्थिति में नही था। बहुमत के लिये जनता दल व राष्ट्रीय मोर्चा अन्य दलों पर निर्भर थे। अन्ततः परस्पर दो विराधी ध्रुवों–वामपंथी दल एवं भाजपा–के बाहर से समर्थन देने पर सरकार बनाने भर का बहुमत जुटाया जा सका और सरकार बनी। वस्तुतः इस गठबंधन के लिये एक तरफ तो जनआकाँक्षायें व जनमत के दबाव युक्त देश की तत्कालीन स्थिति उत्तरदायी थी क्योंकि जनता केन्द्र में गैर कांग्रेसी सरकार की अपेक्षा कर रही थी, वहीं दूसरी ओर संसद में किसी भी दल अथवा मोर्चे को पूर्ण बहुमत न मिल पाने के कारण भी इस प्रकार के गठबंधन सरकार की स्थिति आई।

1996 के लोकसभा चुनावो में न केवल मतदाता दुविधा और असमंजस की स्थिति में थे बल्कि राजनीतिक दल भी भ्रम ओर संशय से ग्रस्त थे। चुनाव को प्रभावित करने वाला न कोई मुद्दा था, न किसी प्रकार की किसी के पक्ष में लहर और न ही किसी प्रकार के ध्रुवीकरण

के आसार थे। वास्तव में एक तरफ जहां लोग आकंठ घोटलों और भ्रष्टाचार में डूबे पूर्ववर्ती कांग्रेस सरकार के विरूद्ध थे वहीं के दूसरी और बाबरी मस्जिद विध्वंस व उसके बाद देश भर में हुए व्यापक दंगे–फसाद के कारण भाजपा पर साम्प्रदायिक होने बट्टा लगा चुका था। किन्तु हिन्दू मतों के ध्रुवीकरण के कारण भाजपा की राजनीतिक शक्ति में लगातार वृद्धि हो रही थी। इस स्थिति से जहां कांग्रेस भी भयभीत थी वहीं दूसरे राष्ट्रीय व क्षेत्रीय दलों के लिए, जिनके लिये अब तक कांग्रेस ही एकमात्र खतरा थी, भाजपा एक नये संकट के रूप में उभरी। अब एक तरफ सशक्त कांग्रेस और भाजपा थे तो दूसरी ओर छोटे–छोटे अन्य राष्ट्रीय व क्षेत्रीय दल जिन्हें अपने राजनीतिक अस्तित्व के लिये इन दोनों ही ध्रुवों से जूझना था। परिमाण स्वरूप गैर–कांग्रेसवाद के साथ–साथ गैर–भाजपावाद की एक नई धारा भी भारत के राजनीति में बह निकली। कुल मिलाकर अब भारतीय राजनीति में दो प्रमुख ध्रुव उभर कर सामने आ गये–कांग्रेस और भाजपा। साथ ही अन्य दलों की उपस्थिति एक तीसरे मोर्चे की उम्मीद को जीवित बनाये हुए थी।

1996 के चुनावों के बाद संसद में किसी भी दल, गठबंधन अथवा मोर्चे को पूर्ण बहुमत नहीं मिला। पहले भाजपा की सरकार बनी किन्तु बहुमत का समर्थन न जुटा पाने के कारण यह सरकार 13 दिन में ही धराशायी हो गई। अब दो विकल्प बचे थे तीसरे मोर्चे और कांग्रेस की मिली जुली सरकार अथवा पुनः चुनाव। तत्काल चुनाव कोई भी नहीं चाहिता था अतः कांग्रेस ने तीसरे मोर्चे को सरकार बनाने हेतु बाहर से समर्थन प्रदान किया और राष्ट्रीय मोर्चा व वाम मोर्चे की संयुक्त सरकार अस्तित्व में आई। यह एक अल्पमत गठबंधन सरकार थी जिसे कांग्रेस और मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी का बाहर से समर्थन प्राप्त था। यह गठबंधन पूर्व नियोजित नहीं था और महज लोकसभा में किसी दल को बहुमत न मिल पाने के कारण अस्तित्व में आया था।

1996 जैसी स्थितियों 1998 में 12वीं लोकसभा चुनाव के दौरान भी विद्यमान थी–मुद्दा विहीन, लहर विहीन चुनाव। कांग्रेस विरोध और भाजपा विरोध की धारा तीसरे मोर्चे में अब भी मौजूद थी किन्तु इतना तो स्पष्ट था कि किसी ऐसी स्थिति में जिसमें भाजपा को सरकार बनाने से रोका जा सके, तीसरा मोर्चा व कांग्रेस परस्पर विरोध के बावजूद साथ आ सकते थे क्योंकि कांग्रेस की तुलना में अब भाजपा अधिक बड़ा खतरा नजर आ रही थी और उसके प्रभाव विस्तार रथ को रोकने के लिये कांग्रेस व अन्य शक्तियाँ हाथ मिला सकती थी। इस चुनाव को प्रभावित करने वाली स्थिति थी अस्थायित्व और राजनीतिक अनिश्चितता। इस

स्थिति को ध्यान में रखते हुए बहुमत प्राप्ति के उद्देश्य से भाजपा और कांग्रेस दोनो ने चुनाव पूर्व गठबंधन का प्रयास किया। इस सम्बन्ध में तीसरे मोर्चे की स्थिति अस्पष्ट थी। कहीं उनका तालमेल था तो कहीं वे एक दूसरे के आमने–सामने संघर्ष में भी थे। कुल मिलाकर 1998 के चुनाव परिणाम भी 1996 से अलग नहीं थे। किसी दल अथवा गठबंधन को पूर्ण बहुमत नहीं मिला। भाजपा नीत गठबंधन बहुमत के करीब था किन्तु बहुमत प्राप्त नहीं था। कोई भी दल तत्काल चुनाव नहीं चाहता था। ऐसे में तीसरे मोर्चे से जुड़े कुछ दलों ने "स्थायित्व" के नाम पर भाजपा गठबंधन को समर्थन दिया जिसमें तेलगू देशम प्रमुख था। इस प्रकार स्थिरता और अनिश्चितता की आवश्यकता ने इस गठबंधन सरकार को जन्म दिया।

13वीं लोकसभा चुनावों के समय की स्थिति 11वीं व 12वीं लोकसभा चुनावों की स्थिति से कुछ मायनों में भिन्न थी। एक मत से जिस तरह से भाजपा नीत गठबंधन सरकार को गिराया गया था उससे भाजपा के प्रति सहानुभूति का वातावरण था। साथ ही पोखरण परमाणु विस्फोट व कारगिल विजय के बाद से भाजपा के प्रति जनसमर्थन अधिक था। यही एक कारण ऐसा था जिसके चलते भाजपा के सहयोगी दलों की संख्या में वृद्धि हुई और राजग के रूप में सुदृढ़ चुनाव पूर्व गठबंधन तैयार हुआ। रामविलास पासवान व शरद यादव जैसे जनता दल के घोर भाजपा विरोधी नेता भाजपा के साथ आये। चुनाव में चुनाव पूर्व गठबंधन राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन को पूर्ण बहुमत से अधिक सीटें मिली और राजग की सरकार बनी। इस गठबंधन के निर्माण के समय जनमत की स्थितियां विशेष रूप से भाजपा के पक्ष में थी इसलिये यह सरकार पहली ऐसी गठबंधन सरकार थी जिसने अपना कार्यकाल पूरा किया।

जहां तक अनुकूलता का प्रश्न है भारत में गठबंधनों के निर्माण में आदर्शात्मक अनुकूलता अप्राप्य रहा है। यहां परस्पर विरोधी विचारों वाले दलों के भी गठबंधन बने। सैद्धान्तिक अनुकूलता के आधार पर केवल कुछ राज्यों जैसे पं0 बंगाल, केरल, महाराष्ट्र व पंजाब आदि में क्रमशः वामपंथी, भाजपा–शिवसेना, कांग्रेस–रा0का0पा0 व भाजपा–अकाली गठबंधन बने। केन्द्र में बनने वाले गठबंधनों में आदर्शात्मक अनुकूलता का अभाव रहा है। यहां गठबंधन या तो कांग्रेस विरोध की धारणा पर आधारित रहे अथवा भाजपा विरोध की धारणा पर। उग्ररूप से परस्पर विरूद्ध दलों के बीच भी गठबंधन हुए जैसे–भाजपा का समता, जनता दल (यू) या द्रमुक के साथ गठबंधन अथवा कांग्रेस का माकपा व द्रमुक के साथ तालमेल। कुल मिलाकर यहां यह कहा जा सकता है कि भारतीय राजनीति में गठबंधन निर्माण के लिये अवसरवादिता या विरोध ही एकमात्र अनुकूलन का आधार रहा है।

गठबंधन निर्माण का तीसरा प्रभावशाली तत्व प्रेरणा है। गठबंधन निर्माण में प्रमुख रूप से दो प्रेरणायें काम करती हैं–

1. सत्ता या अन्य किसी प्रकार का लाभ प्रापत करने की प्रेरणा; और
2. अपने अस्तित्व को बनाये रखने की प्रेरणा।

भारत में गठबंधन के निर्माण के सन्दर्भ में यही दो प्रेरणायें काम करती रही हैं किन्तु यहां यह कहना कठिन होगा कि इनमें से कौंन अधिक प्रभावी रहा है। वास्तव में भारतीय राजनीति में गठबंधनों के निर्माण के सन्दर्भ में ये दोनों ही प्रेरणायें समानान्तर रूप से कार्य करती रही है। सत्ता प्राप्ति की प्रेरणा तो सामान्य कारक रही ही है, गठबंधन में बने रहने या भंग होने में स्वयं के अस्तित्व को बनाये रखने की प्रेरणा भी कारगर रही है। जनता पार्टी, जनता दल, राष्ट्रीय मोर्चा, संयुक्त मोर्चा, राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन अथवा संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन इन सबके निर्माण के पीछे इन्हीं दो प्रेरकों का हाथ रहा है। राजनीतिक दल विशेष रूप से क्षेत्रीय अथवा राज्य स्तरीय दल किसी गठबंधन में शामिल होते वक्त अथवा उसे छोड़ने के समय सत्ता लाभ के साथ–साथ अपने अस्तित्व के प्रश्न से अभिप्रेरित रहे हैं। बिहार में राजद के लिये भाजपा, जद (यू) गठबंधन खतरा है तो उसने कांग्रेस का दामन पकड़ा। इसी प्रकार जद (यू) के लिये बिहार में राजद सबसे बड़ी चुनौती है जो कांग्रेस के साथ है। अतः समता–जद (यू) का भाजपा के साथ रहना उसकी विवशता हैं इसी प्रकार उड़ीसा में बीजद, पंजाब में अकालीदल, आन्ध्रप्रदेश में तेलगू देशम के अस्तित्व के लिये कांग्रेस ही खतरा है। अतः किसी तीसरे विकल्प के सशक्त न होने की स्थिति में भाजपा के नेतृत्व में जाना इनकी मजबूरी है क्यांकि अलग–अलग चुनावा लड़ने से मतों के बिखराव के कारण कांग्रेस को लाभ होगा जो इनके अस्तित्व के लिये घातक है। इसी प्रकार मतों के बिखराव को रोकने के लिये ही तमिलनाडु में द्रमुक व अन्नाद्रमुक बारी–बारी से कभी कांग्रेस के पक्ष में तो कभी भाजपा के पक्ष में पाला बदलते रहे हैं। उनका किसी गठबंधन में शामिल होना अस्तित्व की रक्षा की तुलना में सत्ता लाभ की लालसा से अधिक प्रभावित रहा है।

यहां यह ध्यान देने वाली बात है कि लाभ प्राप्ति के उद्देश्य से दल किसी गठबंधन में शामिल होते रहे और जब कभी भी उन्हें लगा कि उक्त गठबंधन में रहना उनके अस्तित्व व स्थिति को प्रभावित कर सकता है तो उन्होंने गठबंधन से किनारा कर लिया और अपने अलग होने का स्वेच्छाचारी व्याख्यात्मक कारण गढ़ दिया। जैसे द्रमुक चार साल तक राजग का हिस्सा रहा और जब नये चुनावों की बेला आई तो उसने यह कहते हुए राजग से किनारा

कर लिया कि वह द्रविड़ सिद्धान्तों की रक्षा के लिये इस गठबंधन से अलग हो रहा है। वास्तव में ऐसा उसने भावी चुनावी परिणामों का आकलन कर ही निश्चित किया। इसी प्रकार तृणमूल कांग्रेस ने पं0 बंगाल में अपने मतदाताओं को ध्यान में रखते हुएदो बार राजग छोड़ा और वापस भी लौटी। वस्तुतः गठबंधन में किसी दल के सम्मिलित होने, उसमें बने रहने अथवा उसे छोड़ दूसरे गठबंधन में शामिल होने के सन्दर्भ में राजनीतिक दलों ने, विशेष रूप से क्षेत्रीय दलों ने सत्ता सुख के साथ साथ अपने अस्तित्व की रक्षा के तत्व को ध्यान में रखा।

गठबंधन निर्माण के सन्दर्भ में राजनीतिक दलों के बीच अन्तःक्रिया भी उत्तरदायी तत्व रहा है। यहां राजनीतिक दलों के नेताओं के बीच वार्ता, विचार–विमर्श, व चुनावों में सीटों के तालमेल के सम्बन्ध में विशेष रूप से समझौते हुए हैं। प्रत्येक मामलों पर परस्पर पूर्ण सहमति बन जाने के उपरान्त ही किसी गठबंधन का निर्माण सम्भव हो पाया। इस सन्दर्भ में राजनीतिक दलों ने जहां अपने उग्र कार्यक्रमों को स्थगित कर अन्य दलों के विचारों व कार्यक्रमों के साथ तालमेमल बनाने का प्रयास किया वही एक दूसरे को स्वीकार करने की नीति अपनाई। भाजपा ने धारा 370, समान नागरिक संहिता व राम जन्म भूमि मुद्दों को स्थगित कर अपना उदार चेहरा प्रस्तुत किया तभी उसे गठबंधन हेतु सहयोगी मिल सके। इसी प्रकार कभी कट्टर विरोधी रहे कांग्रेस और द्रमुक के उदार रूख अपनाने पर ही संप्रग का निर्माण हो सका। इतना ही नहीं माकपा कभी कांग्रेस की घोर विरोधी थी, वह आज कांग्रेस नीत संप्रग सरकार का बाहर से समर्थन कर रही है। यह परस्पर अन्तः क्रिया का ही परिणाम है।

गठबंधन का बने रहना अथवा टूट जाना

जिस प्रकार गठबंधन निर्माण के लिये कुछ तत्व प्रेरक रहे हैं वैसे ही गठबंधन के बने रहने व टूट जाने के लिये भी कुछ कारक उत्तरदायी होते हैं। भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में इस सम्बन्ध में निम्न तत्वों की विवेचना की जा सकती है।

1. गठबंधन निर्माण के उद्देश्य अथवा परिस्थितियां

किसी भी गठबंधन का निर्माण किसी खास उद्देश्य की प्राप्ति के लिये होता है अथवा किसी परिस्थिति का परिणाम होता है। जब तक वह उद्देश्य अथवा परिस्थिति विद्यमान रहती है गठबंधन बना रहता है। उद्देश्य पूरा हो जाने अथवा परिस्थितियों के प्रतिकूल हो जाने की

स्थिति में गठबंधन में दरार आने लगती है। आपात काल की ज्यादतियों से भयभीत राजनीतिक दल अपने अस्तित्व को एक दल, जनता पार्टी में विलीन कर देते हैं, किन्तु उस खतरे का अन्देशा न होने की स्थिति में पुनः उनमें कलह प्रारम्भ हो जाती है। इसी प्रकार कांग्रेस विरोध के नाम पर 1989 में बनी सरकार का हश्र होता है। कांग्रेस को अपदस्थ कर सत्ता प्राप्त करने का उद्देश्य पूरा होने के उपरान्त जनता दल के नेताओं में अहं का टकराव प्रारम्भ हो गया। वी0पी0 सिंह ने मण्डल कमीशन की सिफारिशें लागू कर पिछड़े वर्ग को रिझाने का प्रयास किया तो उनकी सरकार को बाहर से समर्थन दे रही भाजपा को अपने हिन्दू मतों में बिखराव का अंदेशा साफ नजर आने लगा। रामजन्म भूमि के मुद्दे को लेकर हिन्दू जागरण के उद्देश्य से भाजपा अध्यक्ष लाल कृष्ण आडवाणी ने रथयात्रा प्रारम्भ की जिसे बिहार की जनता दल सरकार ने रोका और आडवाणी को गिरफ्तार कर लिया। इस घटना से क्षुब्ध भाजपा ने सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया और सरकार गिर गई। यहां सरकार को समर्थन देते रहने से परिस्थितियां भाजपा के प्रतिकूल हो रही थीं अतः उसने स्वयं को इस स्थिति से अलग कर लिया।

इसी प्रकार भाजपा को सत्ता में आने से रोकने के लिये 1996 में राष्ट्रीय मोर्चा व वाम मोर्चा को मिलाकर संयुक्त मोर्चा बना। यद्यपि इस मोर्चे की सरकार अपने अन्तर्कलह से नहीं बल्कि बाहर से समर्थन दे रही कांग्रेस द्वारा समर्थन वापस ले लेने से गिरी किन्तु कालान्तर में भाजपा को सत्ता में आने से रोकने के उद्देश्य की तुलना में जब बार–बार होने वाले चुनावों को रोकना और सत्ता में बने रहना प्रमुख उद्देश्य हो गया तब यह मोर्चा भी बिखर गया और इस मोर्चे के अनेक घटक भाजपा नीत गठबंधन के अंग बन गये।

2. दलीय अनुशासन

जिस गठबंधन के घटक दलों में अनुशासन का भाव होता है वह गठबंधन स्थायी होता है। प्रायः यह देखा गया है कि गठबंधन के दलों में अनुशासन न होने का प्रभाव सरकार के काम–काज पर भी पड़ता है। ऐसी स्थिति में यदि गठबंधन का नेतृत्व अनुशासन की कड़ी कार्यवाही करता है तो गठबंधन टूट जाता है। जैसे जनता पार्टी का बिखराव चौ0 चरण सिंह के विरूद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही के कारण हुआ और जनता दल में टूट चौ0 देवीलाल के विरूद्ध कार्यवाही के कारण प्रारम्भ हुई।

3. कार्यक्रमों की एकता

जहां सैद्धान्तिक एकता का अभाव होता है वहां कार्यक्रमों की एकता गठबंधन के लिये सीमेन्ट का काम करती है। जब तक घटक दलों में इन कार्यक्रमों के प्रति आस्था रहती है गठबन्धन बना रहता है। यह आस्था कमजोर होने की स्थिति में गठबंधन के अस्तित्व पर प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि संयुक्त मोर्चा, राजग और संप्रग तीनों ने अपने अपने सरकारों के संचालन के सन्दर्भ में परस्पर सहमति से "न्यूनतम साझा कार्यक्रम" तय कियेऔर इसी के आधार पर सरकार का संचालन किया किन्तु भारतीय राजनीति में इन कार्यक्रमों में अनास्था के कारण कोई गठबंधन नहीं टूटा और न सरकार गिरी। 1997 व 1998 मं संयुक्त मोंचे की सरकार के गिरने का कारण कांग्रेस की महात्वाकाँक्षा थी तो 1999 में राजग सरकार के गिरने का कारण अन्नाद्रमुक प्रमुख की व्यक्तिगत महात्वाकाँक्षा थी।

4. समन्वय का तत्व

गठबंधन सरकार में विभिन्न दलों में तालमेल बनाये रखने के लिये एक समन्य समिति का होना अपरिहार्य होता है। यह समिति परस्पर मतभेद के मुद्दों का शमन कर गठबंधन को बनाये रखने में कारगर होती है। अस्तु कहा जा सकताहै कि गठबंधन की सफलता या असफलता पर निर्भर करती है। किन्तु भारत में इस सन्दर्भ में भी कहा जा सकता है कि गठबंधनों की असफलता के लिये समन्वय समितियों की तुलना में राजनेतओं अथवा दलों की महात्वाकाँक्षायें अधिक उत्तरदायी रही हैं। वास्तव में अगर किसी भी गठबंधन के दलों में प्रभावी समन्वय बनाये रखा जा सके तो गठबंधन दीर्घायु हो सकते हैं किन्तु इसके लिये राजनेताओं को अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं पर भी लगाम रखनी होगी।

5. नेतृत्व की भूमिका

किसी गठबंधन को बनाये रखने में प्रभावशाली नेतृत्व की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। नेतृत्व प्रभावी और नियंत्रणकारी हो तो गठबंधन के स्थायित्व की संभावनायें बढ़ जाती है अन्यथा गठबंधन निष्प्रभावी व अल्पकालिक साबित होता है। मोरारजी देसाई की नेतृत्व क्षमता पर प्रश्न चिन्ह नहीं लगाया जा सकता किन्तु उनके समानान्तर चौ0 चरण सिंह की महात्वकांक्षा ने उनके नेतृत्व की धार मन्द कर दी थी जिस कारण वे जनता पार्टी को एकजुट न रख सके। इसीं प्रकार वी0पी0 सिंह के नेतृत्व का प्रभाव चौ0 देवीलाल और चन्द्रशेखर के

आकांक्षाजन्य स्थितियों की भेंट चढ़ गया। जहां तक संयुक्त मोर्चे में एच0डी0 देवगौड़ा और इन्द्र कुमार गुजराल का प्रश्न है, ये सीमित जनाधार वाले नेता थे और संयोग ने इन्हें प्रधानमंत्री की कुर्सी प्रदान की थी। इनके गठबंधन में समान पदीय अथवा अधिक प्रभाव वाले नेताओं की भरमार थी। इसलिए ये मोर्चे को केवल तब तक नेतृत्व प्रदान कर सके जब तक मोर्चा सत्ता में बना रहा। सत्ता से विरत होने के पश्चात ये दोनोही मोर्चे को संगठित बनाये रख सकने में विफल साबित हुए।

इसकी तुलना में राजग के नेतृत्व की स्थिति भिन्न थी। अटल बिहारी बाजपेयी न केवल अपने दल भाजपा में सर्वाधिक जनप्रिय और जनाधार रखने वाले नेता हैं बल्कि राजग के अन्य दलों में कोई भी उनके समान कद, समान लोकप्रियता वाला नेता नहीं है। बाजपेयी को राजग की धुरी कहा जा सकता है, जो अपने उदारवादी दृष्टिकोण के कारण सभी घटक दलों को स्वीकार्य है। राजग सरकार ने अपना कार्यकाल पूरा किया और 2004 के चुनावों में परास्त होने के बाद भी संगठित बना हुआ है, इसमे बाजपेयी के नेतृत्व की प्रभावी भूमिका का भी योगदान है।

संयुक्त प्रगतिशील गठबंधन में यद्यपि सरकार का नेतृत्व डॉ0 मनमोहन सिंह के हाथ में है किन्तु गठबंधन का नेतृत्व सोनिया गांधी के पास है। सोनिया गांधी का नेतृत्व संप्रग को कितना संगठित रख पाता है अभी इसकी समीक्षा होनी है। नेतृत्व की प्रभावी भूमिका गठबंधन को बनाये रख सकती है अथवा असमय उसके विघटन का मार्ग प्रशस्त कर सकती है।

गठबंधन सरकारों के सन्दर्भ में भारतीय प्रयोगों से एक बात स्पष्ट हुई कि गठबंधन में शामिल सभी प्रमुख दल सरकार बनाते वक्त सरकार में भी शामिल हों। बाहर से समर्थन देने की प्रथा गठबंधन की धारणा के विपरीत है। बाहर से समर्थन देने वाले दल अवसर अनुकूल व्यवहार बदलते हैं और यह गठबंधन के साथ–साथ राष्ट्र के हित में भी नहीं होता। बाहर से समर्थन देने वाले दल सरकार के सभी सत्कार्यों का यश तो भोगते हैं किन्तु अपयश की स्थिति में यह कहते हुए पल्ला झाड़ सकते हैं कि वे तो सरकार में सम्मिलित ही नहीं थे। इस प्रकार का कार्य बिना उत्तरदायित्व का वहन किये सत्ता सुख भोगना है जो कि अनुचित है। यह स्थिति सरकारों के स्थायित्व को भी प्रभावित करती हैं। 1990 में राष्ट्रीय मोर्चा सरकार, 1997 व 1998 में संयुक्त मोर्चा सरकार बाहर से समर्थन देने वाले दल के समर्थन वापसी के कारण ही गिरी।

गठबंधन के दुर्बल पक्ष

संसदीय शासन में गठबंधन सरकारों को प्रायः पसन्द नहीं किया जाता चाहे वह ब्रिटेन हो अथवा भारत हर जगह ऐसी सरकारों के होने से कुछ ऐसे नकारात्मक पहलू उभर कर सामने आते हैं जिनके कारण ये आलोचना के पात्र बन जाते हैं। भारत में भी गठबंधन के राजनीति की अधोलिखित दुर्बलतायें स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुई हैं–

1. गठबंधन सरकार कई दलों की सरकार होती है जिसमें दलीय अनुशासन का अभाव होने की स्थिति में मंत्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व का पक्ष कमजोर हो जाता है।
2. नीतियों के सम्बन्ध में घटक दलों में परस्पर मतभेद की स्थिति में एकरूप सम्यक नीतियों का प्रतिपादन कठिन हो जाता है जिससे सरकार के लिये किसी एक निश्चित दिशा में कार्य कर पाना मुश्किल होता है।
3. गठबंधन के घटकों में परस्पर विरोधी हितों और महात्वाकाँक्षाओं के कारण सरकार का स्थायित्व प्रभावित होता है। भारत में बनी अब तक की गठबंधन सरकारों में केवल राजग सरकार (1999–2004) ने अपना कार्यकाल पूरा किया। अन्य सभी सरकारें अल्पकालिक रहीं और गठबंधन के अन्तर्कलह अथवा समर्थक दलों के समर्थन वापसी के कारण उनका पतन हुआ। सरकारों के अस्थायित्व के चलते दीर्घकालिक नीतियों का निर्माण और क्रियान्वयन नहीं हो पाता।
4. भारत में बने गठबंधन सत्ता प्राप्ति की लालसा से बने अवसरवादी गठजोड़ रहे हैं। इनमें सैद्धान्तिक एकता का अभाव रहा है।
5. गठबंधन की राजनीति में येन–केन प्रकारेण सत्ता प्राप्त करने व सत्ता में बने रहने की नीयत ने राजनीतिक मूल्यों को प्रभावित किया है और सिद्धान्त शून्य अवसरवादी राजनीति का विकास हुआ है। इस स्थिति ने निम्न प्रक्रियाओं को बढ़ावा दिया है–

   (क) दल बदल व दलीय विखण्डन

   (ख) अनुशासनहीनता

   (ग) भ्रष्टाचार
6. गठबंधन के घटक दलों में परस्पर हितों के विरोध के कारण खींचतान बनी रहती है। जिससे सरकार का कामकाज प्रभावित होता है। इससे सरकार की कार्यकुशलता पर भी प्रभाव पड़ता है।

इनके अतिरिक्त गठबंधन की स्थिति में राजनीतिक सौदेबाजी की प्रवृत्ति बढ़ी है। अनावश्यक रूप से मंत्रिपरिषदों का आकार बढ़ा है और राष्ट्रीय दलों की शक्ति क्षीण हुई है। ये नकारात्मक तत्व जनहित व राष्ट्रहित के विरूद्ध है।

गठबंधन का सकारात्मक चेहरा

गठबंधन की राजनीति में कुछ बुराईयां हैं तो कुछ इसमें अच्छाइयां भी हैं। कमियां वास्तव में किसी व्यवस्था में नहीं होती। कमी व्यवस्था के संचालकों के दोष से उत्पन्न होती हैं। भारतीय राजनीति के सन्दर्भ में गठबंधन ने कुछ सकारात्मक तत्व भी प्रस्तुत किये हैं, जिन्हें निम्नलिखित बिन्दुओं में स्पष्ट किया जा सकता है–

1. गठबंधन का पहला गुण तो यही है कि इसने भारत को संक्रमण के दौर में सरकार संचालन का एक नूतन मार्ग प्रदान किया। संसदीय शासन में एक दल के बहुमत की सरकारें बनती हैं। किन्तु लगातार किसी एक दल को बहुमत न मिल पाने की स्थिति हो तो मिलीजुली गठबंधन सरकारों का विकल्प ही बचता है। 1989 से लगातार लोकसभा चुनावों में किसी दल को बहुमत नहीं मिल पा रहा था। ऐसे में देश अनिश्चितता और अस्थिरता के भंवर में उलझा हुआ था। गठबंधन की राजनीति ने देश को इस भंवर से उबरने का मार्ग प्रदान किया।
2. गठबंधन सरकार में क्षेत्रीय दलों को राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय भागीदारी प्राप्त होती है। इस प्रकार इस प्रक्रिया से क्षेत्रीय आकांक्षाओं और राष्ट्रीय आवश्यकताओं में सामंजस्य स्थापित कर पाना सहज हो जाता है। परिणामस्वरूप किसी भी क्षेत्र की आकाँक्षायें सरकार में प्रतिनिधित्व विहीन नहीं रह पाती।
3. एक दल की तुलना में गठबंधन में विभिन्न क्षेत्रों, वर्गों व हितों का प्रतिनिधित्व संभव हो पाता है।
4. गठबंधन सरकार को हम एक दलीय सरकार की तुलना में अधिक लोकतांत्रिक कह सकते हैं क्योंकि इसमें कोई भी निर्णय सभी घटक दलों की सहमति से लियो जाता है। निर्णय का एक केन्द्र न होने से स्वेच्छाचारी निर्णय की संभावना नहीं रहती। घटकदल सत्तारूढ़ विपक्ष का भी कार्य करते हैं।

5. भारतमें गठबंधन की राजनीति राष्ट्रवाद को बढ़ावा देने वाला भी साबित हुई हैं। राष्ट्र के अधिकांश वर्गों की केन्द्रीय सरकार में भागीदारी उनमें राष्ट्रीय उत्तरदायित्व की भावना उत्पन्न करती है।
6. गठबंधन की राजनीति में एक नूतन सहभागिता संगठन का विकास हुआ है जिसमें परस्पर विरोधी विचारों वाले दल अपने मतभेदों के साथ एक सीमा तक समझौता करके सरकार बनाने व चलाने के उद्देश्य से संयुक्त होते हैं। यदि यह स्थिति विकसित न हुई होती तो गठबंधन का निर्माण ही संभव न हुआ होता।

आज गठबंधन की राजनीति भारत की आवश्यकता है क्योंकि भारतीय राजनीति संक्रमण के दौर से गुजर रही है। संसदीय मूल्यों के अनुरूप एक दल के पूर्ण बहुमत की सरकार का बन पाना कठिन जान पड़ रहा है क्योंकि अलग–अलग क्षेत्रों में क्षेत्रीय अथवा राज्य स्तरीय दलों के प्रभावी होने के कारण इन क्षेत्रों में राष्ट्रीय दलों की स्थिति कमजोर हुई है। कोई क्षेत्रीय दल लोकसभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं कर सकता और राष्ट्रीय दलों को वह बहुमत प्राप्त करने नहीं देता। ऐसी स्थिति में सरकार संचालन का गठबंधन विकल्प ही बचता है। यही कारण है कि कांग्रेस ने, जो पहले गठबंधन सरकारों की कटु आलोचक थी स्वयं गठबंधन के मार्ग पर अग्रसर हो 2004 में सरकार का गठन किया। 2004 के चुनाव दलों के बीच न होकर दो गठबंधनों के बीच हुए। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि गठबंधन के दुर्बल पक्षों को निष्प्रभावी कर इसके सकारात्मक तत्वों को उभारा जाये और गठबंधन संस्कृति का ही आदर्श रूप प्रस्तुत किया जाये। इस सन्दर्भ में प्रस्तुत शोध के विश्लेषण के आधार पर निम्न सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं–

1. जहां तक संभव हो समरूप विचारों वाले दलों के सहयोग से गठबंधन बने।
2. गठबंधन चुनावपूर्ण बने और निर्धारित कार्यक्रमों के आधार पर बने।
3. राजनीतिक दल दलीय हितों की तुलना में राष्ट्रहित और जनहित को अधिक महत्व दें।
4. गठबंधन के संचालन और नेतृत्व का दायित्व गठबंधन में सम्मिलित सबसे बड़े दल के हाथ में हो।
5. गठबंधन में शामिल सभी दल सरकार में भी शामिल हो न कि बाहर से समर्थन दें।

6. समन्वय समिति प्रभावी हो और इसकी बैठकें अल्प–अन्तराल में होती रहें जिससे पारस्परिक संशयों का समयानुसार निदान हो सके।
7. गठबंधन में किसी एक दल अथवा नेता की तानाशाही न हो और निर्णय सभी दलों द्वारा सम्मिलित रूप से लिये जाये।

इस प्रकार स्पष्ट है कि गठबंधन सरकार के प्रयोग ने भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को काफी हद तक प्रभावित किया है। इसने संसदीय परम्पराओं पर अनेक प्रतिकूल प्रभाव डाले और राजनीतिक मूल्यों को नष्ट भ्रष्ट करने का प्रयास किया वहीं इसके कतिपय सकारात्मक पहलुओं से भी इन्कार नहीं किया जा सकता। यह तो तय है कि आने वाले कुछ चुनावों में भी किसी एक दल के बहुमत में आने की संभावना नहीं है। ऐसे में गठबंधन की प्रक्रिया को ही संशोधित, परिशोधित व परिमार्जित कर राष्ट्र की राजनीतिक धारा को प्रभाहमान रखना होगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ

प्राथमिक

(1) भारत का संविधान

द्वितीयक

– बसु, दुर्गादास, भारत का संविधान एक परिचय, प्रेन्टिस–हॉल ऑफ इण्डिया प्रा0लि0, नई दिल्ली 1999।

– देसाई ए0आर0, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठ भूमि, मैकमिलल 1977।

– कश्यप एवं गुप्त, राजनीतिक कोष; मेरठ

– झा, किरण, भारतीय राज व्यवस्था, नई दिल्ली, 1998।

– मिश्र, चन्द्रशेखर, भारत का संवैधानिक इतिहास, विधि साहित्य प्रकाशन, भारत सरकार, नई दिल्ली, 1998।

– तायल, वी0पी0 भारतीय शासन और राजनीति, नई दिल्ली, 1995।

- Ajin Ray, Is India Politically Polluted? (Geo-Social Protests and Challenges), Horizon Publishers, Allahabad.

- Alexanader, P.C., India in the New Millennium, Somaiya Publications PVT (Ltd.), Mumbai, 2001.

- Austin, Granville, Working of Democratic Constitution: The Indian Experience, Oxford University Press, 1997.

- Bhatt, S and Mani V.S..(Ed.), India on the Theresh hold of the 21st Century: Shape of things to come, Lancers Books, 1999

- Bhambri, CP, Bhartiya Janata Party: Periphery to centre, Delhi, 2001

- Brass, Paul, R, Factional Politics in Indian States; The congress Party in Uttar Pradesh, University of California Press, Barkeley, 1965.

- Burger, Angela, S, Opposition in a Dominant Party System, Oxford University Press, 1969.

- Chakravarty, Parul, Democratic Government and Electoral Process, Kanishka Publishers, New Delhi, 1997.

- Chandidas and others, India votes, Popular Prakashan, Bombay, 1968.

- Datta, Prabhat, K., Politics of Region and Religion in India, New Delhi. 1991.

- Duveger, Maurice, Political Parties. Their Organization and Activities in the Modern States, New York, 1953.
- Encyclopedia of Social Sciences, Macmillan, Newyork, 1963.
- Finer, Herman, Theary and Practice of Modern Governments, London, 1955.
- Ghosh, Partha, BJP and the Evolution of Hindu Nationalism: From Periphery to Centre Manohar, New Delhi, 1999
- Ghosh, S.K., Indian Democracy Politics and Politicians, A.P.H., Publishing Company, New Delh, 1997.
- Grover, Verinder and Arora, Rajan, India, Fifty Years of Independence, Deep & Deep Publication, New Delhi, 1999.
- (Ed.) Indian Government and Politics at crossdads; Political Instability, money Power and corruption, Deep & Deep, New Delhi, 1995.
- Grover, Verinder, Essays on Indian Government and Politics, Deep & Deep, New Delhi, 1988.
- Party system and Political Parties in India, Deep & Deep. New Delhi, 1996.
- Federal System, State autonomy and Centre State Relations in India, Deep & Deep, New Delhi 1990.
- Government Structure, Political Process and administration in India, New Delhi, 1990.
- Gupta, Bhabanisen, India: Problems of Governance, Konark Publishers Ltd, 1996.
- Gupta, R.C, Who Rules a Country, Association Publishing Houses, New Delhi 1969.
- Karuna Karan, K.P. (Ed.), Coalition Government in India; Problems and Prospects, Simla Indian Institute of Advance Study, 1975.
- Kashyap. S.C, Politics of Power, Delhi 1984.
- Kamal. K.L & Joshi. R.d. (Ed), Whiter Indian Politics; Printwell, Jaipur, 1994.
- Lijphart. A, Democracy in Plural Societies, Bombay, 1989.
- Menon. V.P. The story of the Integration of the India States, Orient Longmens, Bombay, 1961.
- Mishra, B. B, The Indian Political Parties; an Historical analysis of Political behavior upto 1947, Bombay 1976.
- Madhok, Blraj, Political Trends in India, S.Chand & Co, Delhi, 1959
- Marris Jones, W.H, The Government and Politics of India, London, 1964.
- Mukharji. A.R., Parliamentary Procedure in India, Oxford University Press, 1967.
- Ogg F.A. and Zin K.H, Modern Foreign Governments, The Macmillan Company, New York.

- Palmer, Norman. D, Indian Political System, Londan, 1961.
- Permanand, Towards a New Era In Indian Politics; A critical Study of the 11th Lok Sabha Elections, Segment Books, New Delhi, 1996.
- Pylee. M.V., Constitutional Government in India, Asian Publication House, Bombay, 1995
- Rakhahari Chatarji (ed), Politics India; The State Society Interface, South Asain Publication, New Delhi, 2001.
- Rao. K.V., Parliamentary Democracy in India, World Press, 1965.
- Rasheeduddin Khan (Ed), Composite Culture of India and National Integration, Allied Publishers Private Limited, New Delhi, 1991.
- Reddy,. G. Ram and Sharma B.A.V., Regionalism in India; A Study of Telangana, Concept Publishing Company, New Delhi.
- Riker W.H., The Theory of Political Coalition, New Haven, 1962.
- Roy, Meenu, India Votes; Elections 1996; A Critical Analysis, Deep & Deep, New Delhi, 1996.
- Sahani, N.C, Coalition Politics in India, Jallunder, 1971.
- Sankhdher, M.M., Democratic Politics and Governance in India, Deep & Deep, New Delhi, 2004.
- Sharma, J. N., Power Politics and Corruption ; A Gandhian Solution, Deep & Deep New Delhi, 2004.
- Sinha, Sachchidanand, Coalition in Politics, Muzaffarpur, 1987.
- Sven Groennings, E.V. Kelly, Michael Heiserson (ed.), The study of Coalition Behaviour; Theoratical Perspectives and case from four constitutions, 1970.
- Thomas, E.S., Coalition Game Politics in Kerala, New Delhi, 1982.
- Weiner, Myron, Party Politics in India; The Development of Multiparty System, Princeton, New Jersy, 1957.
- Yogesh Atal, Mandate for Political Transition: Re-Emergence of Vajpayee, Rawat Publications, Jaipur, 2000.

शोध प्रबन्ध

सिंह, रामचन्द्र भारत में संयुक्त सरकारें : खिंचाव तनाव (उत्तर प्रदेश का अनुभव–1967 से 1970 तक) काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के राज विज्ञान विषय में प्रस्तुत (1971)

लेख

– दिवाकर, किसका और कैसा हिन्दुत्व, आउटलुक, अक्टूबर 14, 2002
– गौतम, ब्रजेन्द्र प्रताप, बारहवीं लोकसभा का चुनाव विश्लेषण; एक विवेचन, लोकतंत्र समीक्षा खण्ड 30, 1998
– –तेरहवीं लोकसभा का विश्लेषणात्मक अध्ययन–एक विवेचना, लोकतंत्र समीक्षा, खण्ड 31, 1999
– जैन, राजेश, भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था में गठबंधन सरकार के स्थायित्व का प्रश्न, लोकतंत्र समीक्षा, खण्ड 31, 1999
– मिश्र, सच्चिदानन्द, भारत में संघवाद व दलीय नेतृत्व, लोकतंत्र समीक्षा, 1985–86
– राय, सुप्रिया व सिंह, एस0पी0एन0, भारतीय संविद सरकारों की बदलती प्रवृत्तियाँ; वर्तमान सन्दर्भ, लोकतंत्र समीक्षा, खण्ड 29, 1997।
– सिंह, रणजीत, संसदीय शासन व्यवस्था का भारतीय प्रतिमान, लोकतंत्र समीक्षा, 1985–86
– सिंह, एस0पी0एन0, भारतीय राजनीति में संविद लोकतंत्र, लोकतंत्र समीक्षा, 1985–86
- Babu, Ramesh. B, Role of Political Parties, Liberal Times, Vol IX, Number I, 2001. (New Delhi)
- Bhattacharya, Harihar, Indian Federalism and Indian communism: Conflict and Collaboration, The Indian Journal of Political Science, Vol 62, No-1, March 2001
- Bhatia, Ravi, P, A Decade of Parliamentary Elections in India-Mapping of Trends, The Indian Journal of Political Science, Vol 62, No-4, Dec. 2001.
- -Structural Basis of Coalition Governments, The Indian Journal of Political Science, Vol 64, No 1-2 Jan-June, 2003
- Bhatt, Yusuf, Good Governance; A promise for justice, The Indian Journal of Political Science, Vol. 65 No 2 Apr-June- 2004.
- Biju, Kumar, V, Economic Reforms, Populism and Party Politics in India, Indian Journal of Political Science Vol. 65 No 2. Apr- June -2004
- Brass, Paul R, Coalition Politics in North India, The American Political Science Review, Vol-62, No 4, Dec 1968.
- Caplow, Theodore, A Theory of coalition in Triad, American Sociological Review, 21, 1956.
- -A theory of Coalition Formation, American Sociological Review, 21, 1956.
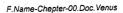
- Goyal, Rajani, Prime Minister's Office: Dynamics of an Institution, The Indian Journal of Political Science, Vol 62 No. 4, Dec-2001.
- Gamson, William A, A Theory of Coalition Formation, American Sociological Review, 1961.
- -An Experimental Test of A theory of Coalition Formation, American Sociological Review, 1961.
- Jain, H.M., Communalism, Nationalism and the minorities in India, The UP Journal of Political Science, Vol VIII No-1-2 Jan-Dec. 2001.
- Jha, Nalinikant, Paradox of Indian Politics; Backward Elite; Forward mass, The Indian Journal of Political Science, Vol 62, No 2 June, 2001
- Kashyap, Subhash. C, Fifty years of Our Constitution, Yojna, Feb. 2000.
- Kelly, E.W, Techniques of Studying Coalition Formation, Midwest Journal of Political Science, 12, No1, 1968.
- Khan, M.G., Coalition Government and Federal System in India, The Indian Journal of Political Science, Vol 64, No 3-4, Jul-Dec- 2003
- Leiserson, Michael, Factions and Coalitions in One party Japan, American Political Science Review, 21, 1956.
- Marry Thomas, Political Parties in India, Liberal Times (New Delhi) Vol IX 1, 2001)
- Mitra, S.H., Indian Experiment with coalition Government at the Federal level, The Indian Journal of Political Science, Vol 62, No 4, Dec. 2001.
- Mitra, Subrata. K., Democracy and the Challenge of Globalization in India, The Indian Journal of Political Science, Vol 62, No 3, Sep-2001.
- Patil, S.H., Indias Experiment with Coalition Government at the Federal Level, The Indian Journal of Political Science, Vol 62, No 4. Dec. 2001.
- Raghavulu, C.V, Indian Republic and Governance Concern, The Indian Journal of Political Science, Vol 62, No. 1, March 2001.
- Rog Jenkins, Appearance an Reality in Indian Politics: Making sense of The 1999 General Election, Government and Opposition, Vol 35, No. -1, Winter-2000.
- Shourie, H.P., The Basic Functioning of Political Parties in India, Liberal Times, Vol IX, No I 2001.
- Singh, Ajai, Emergency Provisions in Indian Constitution with special Reference to Article 356, The UP Journal of Political Science, Vol VIII, No/ 1-2, Jan-Dec-2001.
- Singh, M.P. Coalition and Minority Government in India journal of Government and Political Studies, Vol XVI, March 1997

- -Federalist Thrust in Indian Political Studies, A Research Note, The Indian Journal of Political Science, Vol 64, No 1-2, Jan-Jun 2003.
- Swami, Praveen, The Strain in Maharashtra, Frontline, Aug 18-31, 2001.
- V. Venkatesan, Behind the Faced, Frontline, October 26, Nov. 8, 2002.
- Varshney, Ashutosh, Is India Becoming More Democratic, Journal of Asian Studies, Vol 59, Nu-1, Feb. 2000.

साप्ताहिक / पाक्षिक पत्रिकायें

1. इन्डिया टुडे
2. Out Look
3. Front Line
4. Economic and Political weekly
5. माया

प्रमुख दैनिक

1. Times of India (New Delhi)
2. Hindustan Times (New Delhi)
3. Indian Express (New Delhi)
4. The Hindu (New Delhi)
5. दैनिक जागरण
6. अमर उजाला
7. हिन्दुस्तान
8. आज

चुनाव घोषणा पत्र

1. जनता पार्टी 1977
2. जनता दल 1989, 1996, 1999
3. भारतीय जनता पार्टी 1996, 1998
4. काँग्रेस, 1977, 1989, 1991, 1994 1998, 1999, 2004
5. राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन, 1999, 2004
6. मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट पार्टी, 1989, 1996, 1998, 1999, 2004
7. भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी 1989, 1996, 1998, 1999, 2004

तालिका–1

लोकसभा में 1977 के चुनाव में दलों का राज्यवार प्रदर्शन

राज्य / स्थान	आई.एन.सी.	भालोद	भाकपा	माकपा	संकां	अन्य	निर्दलीय
1. आन्ध्रप्रदेश (42)	41(42)	1(37)	0(10)	0(6)	–	0(3)	0(67)
2. आसाम (14)	10(14)	3(11)	0(2)	0(1)	–	0(3)	1(9)
3. बिहार (54)	0(54)	52(52)	0(22)	0(2)	–	1(22)	1(88)
4. गुजरात (26)	10(26)	16(26)	–	–	–	–	0(60)
5. हरियाणा (10)	0(09)	10(10)	0(2)	0(1)	–	0(04)	0(24)
6. हिमाचल प्रदेश (4)	0(4)	4(4)	0(1)	0(1)	–	–	0(4)
7. जम्मू कश्मीर (6)	3(3)	0(2)	–	–	–	2(3)	1(21)
8. कर्नाटक (28)	26(28)	2(28)	0(3)	–	–	0(2)	0(37)
9. केरल (20)	11(11)	0(3)	4(4)	0(9)	–	5(11)	0(25)
10. मध्यप्रदेश (40)	1(38)	37(39)	0(3)	–	–	1(1)	1(71)
11. महाराष्ट्र (48)	20(47)	19(31)	0(4)	3(3)	–	6(12)	0(114)
12. मणिपुर (2)	2(2)	0(2)	0(2)	–	–	0(2)	0(3)
13. मेघालय (2)	1(2)	–	–	–	–	–	1(5)
14. नागालैण्ड (1)	0(1)	–	–	–	–	1(1)	–
15. उड़ीसा (21)	4(20)	15 (20)	0(5)	1(1)	–	0(3)	1(12)
16. पंजाब (13)	0(13)	3(3)	0(3)	1(1)	–	9(14)	0(45)
17. राजस्थान (25)	1(25)	24(25)	0(3)	0(2)	–	0(2)	0(45)
18. सिक्किम (1)	1(1)	–	–	–	–	–	–
19. तमिलनाडू (39)	14(15)	–	3(3)	0(2)	3(18)	19(40)	0(117)
20. त्रिपुरा (2)	1(2)	1(1)	0(1)	0(2)	–	0(2)	–
21. उत्तर प्रदेश (85)	0(85)	85(85)	0(13)	0(2)	–	0(10)	0(248)
22. पश्चिम बंगाल(42)	3(34)	5(15)	0(8)	17(20)	–	6(15)	1(79)
23. अण्डमान निकोबार द्वीप(1)	1(1)	–	–	–	–	–	0(1)
24. अरूणाचल प्रदेश (2)	1(2)	–	–	–	–	–	1(2)
25. चण्डीगढ़ (1)	0(1)	1(1)	0(1)	–	–	–	0(7)
26. दादरनगर हवेली (1)	1(1)	0(1)	–	–	–	–	0(1)
27. दिल्ली (7)	0(7)	7(7)	0(1)	–	–	0(2)	0(24)
28. गोवा, दमनद्वीप (2)	1(2)	0(2)	–	–	–	1(2)	0(9)
29. लक्षद्वीप (1)	1(1)	–	–	–	–	–	0(1)
30. मिजोरम (1)	0(1)	–	–	–	–	–	1(3)
31. पाण्डिचेरी (1)	–	–	–	–	0(1)	1(1)	0(2)
सम्पूर्ण भारत (542)	**154(492)**	**295(405)**	**7(91)**	**22(53)**	**3(19)**	**52(155)**	**9(1224)**

स्रोत–निर्वाचन आयोग, नई दिल्ली

तालिका–2

लोकसभा में 1989 के चुनाव में दलों का राज्यवार प्रदर्शन

राज्य / स्थान	इंका	ज.द.	भाजपा	भाकपा	माकपा	भाकांस	जपा	लोद(ब)	अन्य	निर्दलीय
1. आंध्रप्रदेश(42)	39(42)	0(2)	0(2)	0(2)	0(2)	0(1)	0(9)	0(9)	3(67)	0(139)
2. अरू0 प्रदेश(2)	2(2)	–	–	–	–	–	–	–	0(2)	0(2)
3. बिहार (54)	4(54)	32(38)	8(24)	4(12)	1(3)	–	0(14)	0(29)	5(108)	0(429)
4. गोवा (2)	1(2)	0(1)	0(1)	0(1)	–	–	0(2)	–	1(1)	0(15)
5. गुजरात (26)	3(26)	11(14)	12(12)	–	–	–	0(5)	0(1)	0(42)	0(161)
6. हरियाणा (10)	4(10)	6(8)	0(2)	0(1)	–	–	0(5)	0(5)	0(22)	0(271)
7. हि0 प्रदेश (4)	1(4)	0(2)	3(4)	0(1)	0(1)	–	0(2)	–	0(8)	0(11)
8. जम्मू कश्मीर(6)	2(3)	0(2)	0(2)	–	–	–	0(1)	–	3(6)	1(49)
9. कर्नाटक (28)	27(28)	1(27)	0(5)	0(1)	–	–	0(26)	0(3)	0(23)	0(129)
10.केरल (20)	14(17)	0(1)	0(20)	0(3)	2(10)	1(1)	0(17)	–	3(17)	0(132)
11.मध्यप्रदेश (40)	8(40)	4(11)	27(33)	0(3)	0(1)	–	0(6)	0(14)	0(76)	0(306)
12.महाराष्ट्र (48)	28(48)	5(23)	10(33)	1(3)	0(2)	0(6)	0(1)	0(10)	1(115)	0(352)
13.मणिपुर (2)	2(2)	0(2)	0(1)	0(1)	–	0(1)	–	–	0(3)	0(3)
14. मेघालय (2)	2(2)	–	–	0(2)	–	–	–	–	–	0(2)
15. मिजोरम (1)	1(1)	–	–	–	–	–	–	–	0(2)	0(1)
16. नागालैण्ड (1)	0(1)	–	–	–	–	–	–	–	0(1)	–
17. उड़िसा (21)	3(21)	16(19)	0(6)	1(1)	1(1)	–	0(13)	–	0(19)	0(52)
18. पंजाब (13)	2(13)	1(4)	0(3)	0(4)	0(3)	0(1)	0(3)	0(3)	7(54)	0(139)
19. राजस्थान(25)	0(25)	11(13)	13(17)	0(1)	1(1)	–	0(6)	0(2)	0(40)	0(199)
20. सिक्किम (1)	0(1)	–	–	–	–	–	–	–	1(2)	0(1)
21. तमिलनाडु (39)	27(28)	0(2)	0(3)	1(2)	0(4)	–	0(8)	0(6)	11(118)	0(335)
22. त्रिपुरा (2)	2(2)	–	0(1)	–	0(2)	–	–	–	0(2)	0(5)
23. उत्तरप्रदेश(85)	15(85)	54(69)	8(31)	2(9)	1(1)	0(3)	0(30)	0(35)	3(203)	2(662)
24. प0बंगाल (42)	4(41)	0(1)	0(19)	3(3)	27(31)	–	0(4)	–	8(93)	0(144)
25. अंडमान निकोबार द्वीप(1)	1(1)	–	–	–	0(1)	0(1)	–	–	–	0(4)
26. चण्डीगढ़ (1)	0(1)	1(1)	0(1)	–	–	–	0(1)	0(1)	0(3)	0(19)
27. दादर नगर हवेली (1)	0(1)	–	–	–	0(1)	–	–	–	0(1)	1(2)
28. दमन द्वीव (1)	0(1)	0(1)	–	–	–	–	–	–	–	1(3)
29. दिल्ली (7)	2(7)	1(3)	4(5)	–	–	–	0(3)	0(6)	0(35)	0(178)
30. लक्षदीप (1)	1(1)	–	–	–	–	–	–	–	–	0(1)
31. पाण्डिचेरी (1)	1(1)	–	–	–	–	–	–	0(1)	0(3)	0(6)
सम्पूर्ण भारत (529)	197(510)	143(244)	85(226)	12(49)	33(64)	1(14)	0(156)	0(117)	46(1068)	12(3712)

स्रोत–निर्वाचन आयोग, नई दिल्ली

तालिका–3

लोकसभा में 1991 के चुनाव में दलों का राज्यवार प्रदर्शन

राज्य / स्थान	भाजपा	भाकपा	भाकपा (मा0)	भाकांस	भाकपा	माकपा		जपा	लोद(ब)	अन्य	निर्दलीय
1. आंध्रप्रदेश (42)	1(41)	1(2)	1(2)	0(1)	25(42)	0(2)	0(1)	0(31)	0(1)	14(83)	0(40)
2. अरू0 प्रदेश (2)	0(2)	–	–	–	2(2)	0(2)	–	–	–	2(7)	0(6)
3. आसाम (14)	2(8)	0(4)	1(2)	0(5)	8(14)	0(6)	0(2)	0(6)	–	2(48)	1(27)
4. बिहार (54)	5(51)	8(8)	1(1)	0(7)	1(52)	31(36)	0(2)	0(47)	0(17)	6(161)	0(802)
5. गोवा (2)	0(2)	0(2)	–	–	2(2)	0(1)	–	–	0(2)	0(7)	0(17)
6. गुजरात (26)	20(26)	–	–	0(1)	5(16)	0(24)	–	0(19)	–	1(76)	0(258)
7. हरियाणा (10)	0(10)	–	–	–	9(10)	0(7)	–	0(10)	0(2)	1(24)	0(135)
8. हि0 प्रदेश (4)	2(4)	0(1)	–	0(1)	2(4)	0(4)	0(1)	0(3)	–	0(6)	0(22)
9. कर्नाटक (28)	4(2)	0(1)	0(1)	–	23(28)	–	–	1(6)	0(3)	0(37)	0(266)
10.केरल (2)	0(19)	0(4)	3(9)	0(1)113(16)	0(2)	–	–	0(6)	0(3)	0(37)	0(266)
11.मध्यप्रदेश (40)	12(40)	0(3)	0(1)	0(2)	27(40)	0(37)	–	0(33)	0(6)	1(83)	0(438)
12.महाराष्ट् (48)	5(31)	0(3)	1(2)	0(7)	38(48)	0(32)	–	0(24)	0(9)	4(149)	5(557)
13.मणिपुर (2)	0(2)	–	–	0(1)	1(2)	0(1)	–	0(2)	–	1(3)	0(9)
14. मेघालय (2)	0(2)	0(2)	–	–	2(2)	–	–	–	–	–	0(6)
15. मिजोरम	–	–	–	–	1(1)	0(1)	–	–	–	0(1)	0(4)
16. नागालैण्ड(1)	0(1)	–	–	–	0(1)	–	–	–	–	1(1)	–
17. उड़िसा (21)	0(21)	0(1)	1(1)	–	13(21)	6(19)	–	0(18)	0(2)	0(36)	0(94)
18. राजस्थान(25)	12(25)	0(1)	0(1)	–	13(25)	0(22)	0(3)	0(19)	0(5)	0(46)	0(379)
19. सिक्किम (1)	–	–	0(1)	–	–	–	–	–	–	1(1)	0(5)
20.तमिलनाडू (39)	0(15)	0(2)	0(3)	–	28(28)	0(5)	–	0(11)	0(3)	11(119)	0(275)
21. त्रिपुरा (2)	0(2)	–	0(2)	–	2(2)	–	–	–	–	0(4)	0(7)
22. उत्तरप्रदेश(85)	51(84)	1(4)	0(3)	0(2)	5(85)	22(73)	–	4(81)	0(19)	1(243)	0(1014)
23.प0 बंगाल (42)	0(42)	3(3)	27(30)	–	5(41)	0(2)	–	0(21)	0(2)	7(100)	0(152)
24. अण्डमान निकोबार द्वीप (1)	0(1)	–	0(1)	–	–	–	–	–	0(2)	–	–
25. चण्डीगढ़ (1)	1(1)	–	–	–	1(1)	–	–	0(1)	–	0(5)	0(46)
26. दादर नगर हवेली (1)	0(1)	–	–	–	1(1)	–	–	–	–	0(1)	0(1)
27. दमन द्वीव(1)	1(1)	–	–	–	0(1)	0(1)	–	–	–	0(1)	0(8)
28. दिल्ली (7)	5(7)	0(1)	–	–	2(7)	0(7)	0(1)	0(6)	0(4)	0(70)	0(400)
29. लक्षदीप (1)	–	–	–	–	1(1)	0(1)	–	–	–	–	–
30. पौण्डिचेरी (1)	0(1)	–	–	–	1(1)	–	–	0(1)	–	0(6)	0(4)
सम्पूर्ण भारत 521	120(468)	14(42)	35(60)	1(28)	232(492)	59(307)	0(10)	5(345)	0(78)	54(1332)	1(5537)

स्रोत–निर्वाचन आयोग नई दिल्ली

तालिका–4

लोकसभा में 1996 के चुनाव में दलों का राज्यवार प्रदर्शन

राज्य / स्थान	इंका+	भाजपा+	तीसरा मोर्चा	अन्य
1. आन्ध्र प्रदेश (42)	22	–	18	1
2. अरूणाचल प्रदेश (2)	–	–	–	2
3. आसाम (14)	5	1	6	2
4. बिहार (54)	2	24	26	1
5. दिल्ली (7)	2	5	–	–
6. गोवा (2)	–	–	1	1
7. गुजरात (26)	10	16	–	–
8. हरियाणा (10)	2	7	–	1
9. हिमाचल प्रदेश (4)	4	–	–	–
10. जम्मू कश्मीर				
11. कर्नाटक (28)	5	4	16	–
12. केरल (20)	10	–	10	–
13. मध्य प्रदेश (40)	8	27	3	2
14. महाराष्ट् (48)	15	33	–	–
15. मणिपुर (2)	2	–	–	–
16. मेघालय (2)	1	–	–	1
17. मिजोरम (1)	1	–	–	–
18. नागालैण्ड (1)	1	–	–	–
19. उड़ीसा (21)	16	1	4	–
20. पंजाब (13)	2	8	–	3
21. राजस्थान (25)	12	12	1	–
22. सिक्किम (1)	–	–	–	1
23. तमिलनाडु (39)	–	–	39	–
24. त्रिपुरा (2)	–	–	2	–
25. उत्तर प्रदेश (85)	5	53	20	7
26. पश्चिम बंगाल (42)	9	–	33	–
27. अण्डमान निकोवार द्वीप (1)	1	–	–	–
28. चण्डीगढ़ (1)	–	1	–	–
29. दादर नगर हवेली (1)	1	–	–	–
30. दमन द्वीव (1)	1	–	–	–
31. लक्षदीप (1)	1	–	–	–
32. पौण्डीचेरी (1)	1	–	–	–
सम्पूर्ण भारत (543)	**139**	**194**	**179**	**22**

स्रोत–निर्वाचन आयोग, नई दिल्ली

तालिका–05
लोकसभा में दलों की राज्यवार स्थिति (9 जून 1998 की)

राज्य/स्थान	लोकसभा सीटों की संख्या	भाजपा	कांग्रेस	माकपा	सपा	अन्ना द्रमुक	राजद	समता	रोदेपा	बीजद	भाकपा	शिअद	तृणमूल कांग्रेस	जद	द्रमुक	शिव सेना	बसपा	आर. एस. पी.	अन्य	निर्दल	योग
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22
राज्य																					
आंध्र प्रदेश	42	4	22	—	—	—	—	—	12	—	2	—	—	1	—	—	—	—	1	—	42
अरूणाचल प्रदेश	2	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	2	—	2
आसाम	14	1	10	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	2	1	14
बिहार	51	20	5	—	—	—	17	—	10	—	—	—	—	1	—	—	—	—	1	—	54
गोवा	2	—	2	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	2
गुजरात	26	19	7	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	26
हरियाणा	10	1	3	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1	—	5	—	10
हिमाचल प्रदेश	4	3	1	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	4
जम्मू कश्मीर	6	2	1	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	3	—	6
कर्नाटक	28	13	9	—	—	—	—	—	—		—	—	—	3	—	—	—	—	3	—	28
केरल	20	—	8	6	—	—	—	—	—	—	2	—	—	—	—	—	—	1	3	—	20
मध्य प्रदेश	40	30	10	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	40
महाराष्ट्र	48	4	33	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	6	—	—	5	—	48
मणिपुर	2	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1	—	—	—	—	—	—	—	1	—	2
मेघालय	2	—	2	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	2
मिजोरम	1	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1	1
नागालैण्ड	1	—	1	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1
उड़ीसा	21	7	5	—	—	—	—	—	—	9	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	21
पंजाब	13	3	—	—	—	—	—	—	—	—	8	—	1	—	—	—	—	—	—	1	13
राजस्थान	25	5	18	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1	1	25
सिक्किम	1	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1	—	1
तमिलनाडु	39	3	—	—	—	18	—	—	—	—	1	—	—	—	5	—	—	—	11	1	39
त्रिपुरा	2	—	—	2	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	2

तालिका–05

लोकसभा में दलों की राज्यवार स्थिति (9 जून 1998 की)

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19	20	21	22
राज्य																					
उत्तर प्रदेश	85	57	–	–	20	–	–	2	–	–	–	–	–	–	–	–	4	–	1	1	85
प0बंगाल	42	1	1	24	–	–	–	–	–	–	3	–	7	–	–	–	–	4	2	–	42
अंडमान नि0	1	–	1	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	1
चंडीगढ़	1	1	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	1
दादर नं0हवे.	1	1	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	1
दमन द्वीव	1	1	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	1
दिल्ली	7	6	1	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	7
लक्षद्वीप	1	–	1	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	1
पौण्डिचेरी	1	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	1	–	–	–	–	–	1
नामित	2	–	–	–	–	–	–	1	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	–	2
योग	545	182	141	32	20	18	17	13	12	09	09	08	07	06	06	06	05	05	42	06	545

स्रोत–निर्वाचन आयोग नई दिल्ली

तालिका—06

लोकसभा में दलों की राज्यवार स्थिति (10 नवम्बर 1999 की)

राज्य/स्थान	लोकसभा सीटों की संख्या	भाजपा	कांग्रेस	माकपा	तेदेपा	सपा	जद (यू)	शिवसेना	बसपा	द्रमुक	अन्ना द्रमुक	बीजद	तृणमूल	रा.का.पा.	राजद	अन्य	निद्रल	रिक्त
1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19
राज्य																		
आंध्र प्रदेश	42	7	5	—	29	—	—	—	12	—	2	—	—	1	—	1	—	—
अरूणाचल प्रदेश	2	—	2	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
आसाम	14	2	10	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1	1	—
बिहार	54	23	4	1	—	—	18	—	—	—	—	—	—	—	7	—	1	—
गोवा	2	2	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
गुजरात	26	20	6	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
हरियाणा	10	5	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	5	—	—
हिमाचल प्रदेश	4	3	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1	—	—
जम्मू कश्मीर	6	2	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	4	—	—
कर्नाटक	28	7	17	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
केरल	20	—	8	8	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	4	—	1
मध्य प्रदेश	40	29	11	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
महाराष्ट्र	48	13	10	—	—	—	—	15	—	—	—	—	—	6	—	3	1	—
मणिपुर	2	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1	—	1	—	—
मेघालय	2	—	1	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1	—	—	—	—
मिजोरम	1	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1	—
नागालैण्ड	1	—	1	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
उडीसा	21	9	2	—	—	—	—	—	—	—	—	10	—	—	—	—	—	—
पंजाब	13	1	8	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	4	—	—
राजस्थान	25	16	9	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
सिक्किम	1	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	1	—	—
तमिलनाडु	39	4	2	1	—	—	—	—	—	12	10	—	—	—	—	10	—	—
त्रिपुरा	2	—	—	2	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—

तालिका–06
लोकसभा में दलों की राज्यवार स्थिति (10 नवम्बर 1999 की)

1	2	3	4	5	6	7	8	9	10	11	12	13	14	15	16	17	18	19
राज्य																		
उत्तर प्रदेश	85	29	10			25			14							512	1	1
पश्चिम बंगाल	42	2	3	21									8			813		
यूनियन टी																		
ए एण्ड निको0	1	1																
चण्डीगढ़	1		1															
दादर नगर हवेली	1																	
दिल्ली	7	7															–	
लक्षद्वीप	1	1																
पोण्डीचेरी	1	1																
दमनदीव	1	1																
नामित	2																	
योग	545	182	113	33	29	25	21	15	14	12	10	10	8	8	7	48	06	02

स्रोत–निर्वाचन आयोग नई दिल्ली

प्रश्नावली

भारत में गठबन्धन की राजनीति : समस्यायें एवं संभावनायें

1. नाम :–
2. पद :–
3. सम्बद्ध राजनीतिक दल का नाम :–

1. क्या संसदीय शासन प्रणाली वाले देशों में बहुदलीय व्यवस्था को स्वीकृति देना उचित है ?
(हाँ / नहीं)

   यदि हाँ तो क्यों ?

   यदि नहीं तो क्यों ?

2. क्या गठबन्धन, संविद और मोर्चा शब्दों को समनार्थी माना जा सकता है ? (हाँ / नहीं)

3. क्या संसदीय शासन में गठबन्धन की सरकार का प्रयोग सफल हो सकता है ? (हाँ / नहीं)

4. एक गठबन्धन सरकार राष्ट्रीय हितों और क्षेत्रीय माँगों में सन्तुलन बनाये रखने में कहाँ तक सफल रहती है ? (पूरी तरह / आंशिक रूप से / बिल्कुल नहीं)

5. क्या बहुदलीय व्यवस्था वाले राज्यों में ससंदीय शासन का सफल कियान्वयन संभव है ?
(हाँ / नहीं / अनिश्चित)

6. गठबन्धन सरकार में घटक दल किस सीमा तक अपने उत्तर दायित्व के प्रति सचेत रहते हैं ?
(पूरी तरह / आंशिक रूप से / बिल्कुल नहीं)

7. गठबन्धन सरकार में मुख्य घटक दल अन्य दलों की भावनाओं का किस सीमा तक सम्मान करता है ? (पूर्णतः / अंशतः / नहीं)

8. गठबन्धन सरकार संसदीय शासन की एक प्रमुख अपरिहार्यता सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का पालन किस प्रकार सुनिश्चित करती है ?

9. गठबन्धन सरकार का प्रयोग राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करेगा अथवा कमजोर ?

(सुदृढ़ / कमजोर)

1. यदि सुदृढ़ तो क्यों ?
2. यदि कमजोर तो क्यों ?

10. इस प्रकार की राजनीति का भारतीय संघात्मक व्यवस्था पर सकारात्मक प्रभाव होगा या नकारात्मक ? (सकारात्मक / नकारात्मक)

1. यदि सकारात्मक तो क्यों ?
2. यदि नकारात्मक तो क्यों ?

11. गठंबन्धन सरकार के प्रयोग का राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था पर सकारात्मक प्रभाव होगा या नकारात्मक ? (सकारात्मक / नकारात्मक)

1. यदि सकारात्मक तो क्या और क्यों ?

2. यदि नकारात्मक तो क्या और क्यों ?

12. गठबन्धन सरकार में विभिन्न घटक दलों के बीच तालमेल के लिए न्यूनतम् साझा कार्यकम की अपरिहार्यता के विषय में आपका क्या विचार है ?

13. गठबन्धन सरकार में घटक दलों को मुख्य रूप से किन मर्यादाओं / सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए ?

14. ऐसी सरकार में मुख्य / नेतृत्व करने वाले दल को किन मर्यादाओं / सिद्धान्तों का पालन करना चाहिए ?

15. गठबन्धन का निर्माण चुनाव पूर्व होना चाहिये या चुनाव बाद ? अपना मत व्यक्त करें।

16. इस प्रकार की सरकार के स्थायित्व की कितनी गारण्टी है ?

17. गठबन्धन सरकार के स्थायित्व के लिये आप किन उपायों के अवलम्बन का सुझाव देंगे ?.

18. भारतीय राजनीति में राजनीतिक दलों की बढ़ती हुई संख्या को रोकने के लिये आप क्या सुझाव देंगे या देना चाहेंगे ?

समन्वय समिति के संयोजक से पूछे जाने वाले प्रश्न

1. गठबन्धन सरकार चलाने के लिए बनाई गई समन्वय समिति के संयोजक के रूप में आपने किन कठिनाइयों का अनुभव किया ?

2. इस भूमिका में कार्य करते हुये आपकी क्या नीतियां / योजनायें / कार्यक्रम रहे ?

3. समन्वय समिति का प्रयोग सरकार के विभिन्न सहयोगी दलों में समन्वय स्थापित कर पाने में किस सीमा तक सफल रहा ?

4. असन्तुष्ट सहयोगियों को समझाने में आपने किस सीमा तक अपने सिद्धान्तों से समझौता किया?

5. सहयोगी दलों ने संयोजक के रूप में आपको कितना सहयोग दिया ?

6. क्या आप समन्वय समिति के रचना, कार्य और भूमिका से संतुष्ट हैं ?

7. क्या आप संयोजक के रूप में स्वयं की भूमिका से संतुष्ट हैं ?

8. क्या इस भूमिका में कार्य करने हेतु प्रधानमंत्री से आपको पर्याप्त सहयोग व समर्थन मिलता रहा है ?

9. असन्तुष्ट सहयोगियों को संतुष्ट करने के लिए आपने किन – किन उपायों का आवलम्बन किया?

10. सरकार के स्थायित्व के लिए आपने क्या – क्या उपाय किये ?

11. इस भूमिका में वास्तव में आपको क्या अधिकार प्राप्त थे/हैं ?

12. संयोजक के रूप में विभिन्न समस्याओं के संदर्भ में आपके द्वारा दिये गये प्रतिवेदनों के प्रति सहयोगियों का क्या दृष्टिकोण रहा ?

प्रधानमंत्री से पूछे जाने वाले प्रश्न

1. कहा जाता है कि गठबन्धन सरकार के प्रधानमंत्री की आधे से अधिक ऊर्जा सरकार चलाने के बजाय सरकार बचाने में लगी रहती है ? क्या यह सत्य है ?

2. प्रधानमंत्री के रूप में आपने निम्न में से किस विषय को अधिक महत्व दिया ? 1, 2, 3, 4 वरीयता निर्धारित करें –
   क. सहयोगी दलों को संतुष्ट रखने में।
   ख. विकास कार्यों में।
   ग. सरकार के स्थायित्व में।
   घ. आन्तरिक एवं वाह्य सुरक्षा को।

3. क्या यह सही है कि यदि आप एक दल के पूर्ण बहुमत वाली सरकार के प्रधानमंत्री होते तो और अच्छा प्रदर्शन कर सकते थे ? यदि हाँ तो क्यों ?

4. गठबन्धन सरकार के प्रधानमंत्री के रूप में आपको निम्न में से सर्वाधिक परेशानी किससे अनुभव हुई ?
   क. अपने दल से।
   ख. सहयोगी दलों से।
   ग. नौकरशाही से।
   घ. विपक्ष से।

5. सहयोगी दलों को संतुष्ट रखने में आपने किस सीमा तक अपने सिद्धान्तों से समझौता किया ?

6. यदि कोई सहयोगी आपके विचारों के विपरीत कोई मांग रखता है तो आप किसे प्राथमिकता देंगे ?
   क. सरकार चलाने के लिए उनकी मांग मान लेने को।
   ख. उनकी मांग ठुकरा देने को चाहे सरकार को खतरा हो।

7. अपने मन्त्रियों के कार्यो में समन्वय के लिए आपने किन नीतियों / रीतियों का आवलम्बन किया ?

8. आपके कार्यकाल में विपक्षी दल/दलों की भूमिका कैसी रही ? (रचनात्मक/अरचनात्मक)

9. सरकार के स्थायित्व के लिए आपने प्रधानमंत्री के रूप में किन नीतियों का आवलंबन किया ?

साक्षात्कार अनुसूची

भारत में गठबन्धन की राजनीति : समस्यायें एवं संभावनायें के सन्दर्भ में एक अध्ययन

1. नाम :—
2. आयु :—
3. पद / व्यवसाय :—
4. शिक्षा :—
5. लिंग :—
6. जाति :—
7. धर्म :—
8. भाषा :—

1. क्या आप किसी राजनीतिक दल से सम्बद्ध हैं ? (हाँ / नहीं)

   यदि हाँ तो किस दल से ?
2. क्या गठबन्धन सरकार का प्रयोग राष्ट्रहित में है ? (हाँ / नहीं / अनिश्चित)
3. क्या यह सही है कि गठबन्धन की बुनियाद स्वार्थ है ? (हाँ / नहीं / कह नहीं सकता)
4. क्या गठबन्धन की राजनीति दलीय विखण्डन को बढ़ावा दे रही है ?

   (हाँ / नहीं / कह नहीं सकता)
5. गठबन्धन की सफलता के लिए राजनीतिक दलों के बीच कौन सा तत्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण है ?

   (क) सिद्धान्तों की एकता।

   (ख) कार्यक्रमों की एकता।

   (ग) हितों की एकता।
6. गठबन्धन में सम्मिलित क्षेत्रीय दलों का मुख्य जोर किस बात पर रहता है ?

   (क) क्षेत्रीय समस्याओं पर।

   (ख) राष्ट्रीय समस्याओं पर।
7. क्या सरकारों की अस्थिरता और बहुमत पाने / बनाये रखने की आवश्यकता ने दल बदल को प्रोत्साहित किया है ? (हाँ / नहीं / कह नहीं सकता)
8. क्या क्षेत्रीय दलों के सहयोग से बनी केन्दीय सरकार कमजोर सरकार होती है ?

   (हाँ / नहीं / अनिश्चित)

9. किसी राजनीतिक दल को लोकसभा में पूर्ण बहुमत न मिल पाने के लिए आप किस कारक को उत्तरदायी मानते हैं ?

(क) राजनीतिक दलों की अधिक संख्या।

(ख) क्षेत्रीय दलों का प्रभाव।

(ग) जनता का रूझान।

10. दल बदल रोकने हेतु आप क्या सुझाव देना चाहेंगे ?

(क) दल बदल करने वाले सांसद/विधायक की सदस्यता समाप्त कर दी जाये।

(ख) दल बदल करने वाले सांसद/विधायक को छः वर्षों के लिए चुनाव लड़ने हेतु अयोग्य घोषित कर दिया जाये।

(ग) उन पर आर्थिक दण्ड आरोपित किया जाये।

(घ) उपर्युक्त सभी।

11. क्या राष्ट्रहित में क्षेत्रीय व छोटे राजनीतिक दलों को लोकसभा निर्वाचन में भाग लेने हेतु प्रतिबंधित किया जाना चाहिए ? (हाँ/नहीं)

यदि हाँ तो क्यों ?

यदि नहीं तो क्यों ?

12. लगातार गठबन्धन सरकारें बनते रहने से लोगों की राष्ट्रीयता की भावना पर कैसा प्रभाव पड़ेगा ? (अनुकूल/प्रतिकूल/अनिश्चित)

13. क्या गठबन्धन की राजनीति लोगों में क्षेत्रीयता की भावना को बढ़ावा देती है ?

(हाँ/नहीं/अनिश्चित)

यदि हाँ तो क्यों ?

14. क्या गठबन्धन की राजनीति आम लोगों में राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ावा देती है ?

(हाँ/नहीं/अनिश्चित)

यदि हाँ तो क्यों ?

15. क्या राष्ट्रीय एकता के संवर्द्धन में एक दल के बहुमत वाली सरकार अधिक बेहतर साबित होगी ? (हाँ/नहीं/अनिश्चित)

16. क्या राष्ट्रीय एकता के प्रोत्साहन के लिए बहुदलीय सरकारें बेहतर साबित होगीं ?

(हाँ/नहीं/अनिश्चित)

यदि हाँ तो क्यों ?

17. गठबन्धन सरकारों के अस्तित्व से भारत की राष्ट्रीय एकता पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

(क) राष्ट्रीय एकता सुदृढ़ हुई है।

(ख) राष्ट्रीय एकता क्षीण हुई है।

(ग) कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।

18. कौन सी सरकार संघात्मक व्यवस्था के लिये अधिक अनुकूल होगी ?

(एकदलीय / बहुदलीय)

क्यों ?

19. गठबन्धन सरकारों के होने से भारत की संघात्मक व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

(क) यह केन्द्रीकृत संघवाद की ओर बढ़ा है।

(ख) यह सहयोगात्मक संघवाद की ओर बढ़ रहा है।

(ग) यह सौदेबाजी की प्रवृत्ति की ओर बढ़ रहा है।

(घ) कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।

20. क्या आप मानते हैं कि गठबन्धन सरकार में सत्ता पक्ष का ध्यान और समय सरकार बचाने में और विपक्ष का ध्यान सरकार गिराने और सत्ता हथियाने के प्रयोगों पर अधिक रहा है ?

(हाँ / नहीं / अनिश्चित)

21. क्या राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन सरकार ने अपने पहले कार्यकाल की तुलना में अक्टूबर 1999 से प्रारम्भ हुए दूसरे कार्यकाल में बेहतर समझदारी, सन्तुलन व समन्वय से कार्य किया है ? (हाँ / नहीं / अनिश्चित)

22. गठबन्धन सरकार को चलाने में सर्वश्रेष्ठ प्रधानमंत्री कौन साबित हुआ है ?

(क) श्री वी. पी. सिंह

(ख) श्री अटल बिहारी बाजपेई

(ग) श्री एच. डी. देवगौड़ा

(घ) श्री इन्द्र कुमार गुजराल

23. क्या गठबन्धन सरकार को अधिक लोकतान्त्रिक कहा जा सकता है ?

(हाँ / नहीं / अनिश्चित)

यदि हाँ तो क्यों ?

24. क्या गठबन्धन सरकार के मन्त्रियों में संसदीय शासन के अनुरूप एकरूपता व अनुशासन रहा है ? (हाँ / नहीं / अनिश्चित)

25. क्या ऐसी सरकारों में मंत्रीगण प्रधानमंत्री को नजर अन्दाज कर स्वतन्त्र निर्णय लेते रहे हैं ?

(हाँ / नहीं / अनिश्चित)

यदि हाँ तो क्यों ?

26. बाजपेयी सरकार के कार्य को आप कैसा आँकते हैं ? (अच्छा / औसत / खराब)

27. क्या 1998 में बाजपेयी सरकार का परमाणु परीक्षण का निर्णय सही था ?

(हाँ / नहीं / अनिश्चित)

28. क्या आप मानते हैं कि बाजपेयी सरकार का ध्यान पाकिस्तान व कश्मीर पर अधिक रहने के कारण आर्थिक व विकास के मुद्दों पर कम रहा है ? (हाँ / नहीं / अनिश्चित)

29. गठबन्धन सरकारों में वित्त मंत्री के रूप में कार्य कर चुके निम्न वित्त मंत्रियों में से किसे आप श्रेष्ठ मानते हैं ?

(क) पी. चिदम्बरम (ख) यशवन्त सिन्हा

30. राजग समन्वय समिति में संयोजक के रूप जार्ज फर्नान्डीस की भूमिका कैसी रही ?

(अच्छी / औसत / खराब)

31. क्या आप मानते हैं कि गठबन्धन सरकार में शामिल दलों में सौदेबाजी के राजनीति की प्रवृत्ति रही है ? (हाँ / नहीं / अनिश्चित)

32. क्या आप मानते हैं कि गठबन्धन सरकार के सहयोगी दलों में सहयोगात्मक प्रवृत्ति रही हैं ?

(हाँ / नहीं / अनिश्चित)

33. निम्न गठबन्धन सरकारों के गठन का मुख्य उद्देश्य क्या था ?

(सही जगह पर √ का निशान लगायें)

वर्ष	सरकार	सत्ता प्राप्ति की लालसा	देश को स्थिर सरकार देना
1996	संयुक्त मोर्चा, श्री एच. डी. देवगौड़ा		
1997	संयुक्त मोर्चा, श्री इन्द्र कुमार गुजराल		
1998	राजग, श्री अटल बिहारी बाजपेयी		
1999	राजग, श्री अटल बिहारी बाजपेयी		

34. क्या भाजपा ने ईमानदारी से गठबन्धन धर्म का पालन किया है ?

(हाँ / नहीं / अनिश्चित)

35. क्या गठबन्धन सरकार चलाने के सन्दर्भ में सहयोगी दल ईमानदार रहे हैं ?

(हाँ / नहीं / अनिश्चित)

36. क्या गठबन्धन के सहयोगी दलों नें अपने अपने दलीय एजेन्डों पर अधिक ध्यान दिया है ?

(हाँ / नहीं / अनिश्चित)

37. क्या गठबन्धन में शामिल दलों ने राष्ट्रीय हितों की तुलना में अपने दलीय हितों को अधिक महत्व दिया है ?

(हाँ / नहीं / अनिश्चित)

38. क्या गठबन्धन में शामिल क्षेत्रीय दलों ने सरकार चलाने में अपेक्षित सहयोग दिया है ?

(हाँ / नहीं / अनिश्चित)

39. गठबन्धन सरकार के स्थायित्व और सफलता के लिये आप क्या सुझाव देना चाहेंगे ?

(क)

(ख)

(ग)

(घ)

40. निम्न मुद्दों पर कार्यो का मूल्यांकन कर आप विभिन्न गठबन्धन सरकारों के कार्यो को कैसा आँकते हैं ?

मुद्दे	सरकारें								
	देवगौड़ा			गुजराल			बाजपेयी		
	अच्छा	औसत	खराब	अच्छा	औसत	खराब	अच्छा	औसत	खराब
विदेश नीति									
शिक्षा विभाग									
आर्थिक मोर्चा विकास									
कानून व्यवस्था									
रक्षा व राष्ट्रीय सुरक्षा									
कश्मीर समस्या									
सम्प्रदायिक सौहार्द									
स्थायित्व									